# प्रेम-पचीसी

प्रेमचंद

# प्रेम पचीसी

प्रेमचन्द का २५ कहानियों का उत्कृष्ट संग्रह। यह कहानियाँ विभिन्न क्षेत्रों और समस्याओं पर प्रगतिशील दृष्टिकोण से प्रकाश डालती हैं।

मूल्य तीन रुपया

# अनुक्रम

# आत्माराम

बेंदो ग्राम में महादेव सोनार एक सुविख्यात आदमी था। वह अपने सायबान में प्रातः से संध्या तक अँगीठी के सामने बैठा हुआ खट-खट किया करता था। यह लगातार ध्वनि सुनने के लोग इतने अभ्यस्त हो गये थे कि जब किसी कारण से वह बन्द हो जाती तो जान पड़ता था कोई चीज गायब हो गयी है। वह नित्यप्रति एक बार प्रातःकाल अपने तोंते का पिंजरा लिये कोई भजन गाता हुआ तालाब की ओर जाता था। उस धुँधले प्रकाश में उसका जर्जर शरीर, पोपला मुँह और झुकी हुई कमर देखकर किसी अपरिचित मनुष्य को उसके पिशाच होने का भ्रम हो सकता था। ज्योंही लोगों के कान में आवाज आती 'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता' लोग समझ जाते कि भोर हो गया।

महादेव का पारिवारिक जीवन सुखमय न था। उसके तीन पुत्र थे, तीन बहुएँ थीं, दर्जनों नाती-पोते थे, लेकिन उसके बोझ को हल्का करनेवाला कोई न था। लड़के कहते, जब तक दादा जीते हैं, हम जीवन का आनन्द भोग लें, फिर तो यह ढोल गले पड़ेगा ही। बेचारे महादेव को कभी-कभी निराहार ही रहना पड़ता। भोजन के समय उसके घर में साम्यवाद का ऐसा गगनभेदी निर्घोष होता कि वह भूखा ही उठ आता और नारियल का हुक्का पीता हुआ सो जाता। उसका व्यावसायिक जीवन और भी अशान्तिकारक था। यद्यपि वह अपने कामों में निपुण था, उसकी खटाई औरों से कहीं ज्यादा शुद्धिकारक और उसकी रासायनिक क्रियाएँ कहीं ज्यादा कष्टसाध्य थीं, तथापि उसे आये दिन शक्की और धैर्यशून्य प्राणियों के अपशब्द सुनने पड़ते थे। पर महादेव अविचलित गाम्भीर्य से सिर झुकाये सब कुछ सुना करता। ज्योंही यह कलह शान्त होता वह अपने तोते की ओर देखकर पुकार उठता, 'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता'। इस मन्त्र के जपते ही उसके चित्त को पूर्ण शान्ति प्राप्त हो जाती थी।

( २ )

एक दिन संयोगवश किसी लड़के ने पिंजरे का द्वार खोल दिया। तं उड़ गया। महादेव ने सिर उठाकर जो पिंजरे की ओर देखा तो उसका कले सन्न हो गया। तोता कहाँ गया! उसने फिर पिंजरे को देखा, तोता गायब थ महादेव घबराकर उठा और इधर-उधर खपरैलों पर निगाह दौड़ाने लगा। उ संसार में कोई वस्तु प्यारी थी तो वह यही तोता था। लड़के-बालों, नाती-पो से उसका जी भर गया था। लड़कों की चुलबुलाहट से उसके काम में वि पड़ता था। बेटों से उसे प्रेम न था, इसलिए नहीं कि वे निकम्मे थे बल्कि इसलि कि उनके कारण वह अपने आनन्ददायी कुल्हड़ों की नियमित संख्या से वंचि रह जाता था। पड़ोसियों से उसे चिढ़ थी, इसलिए कि वे उसकी अँगीठी आग निकाल ले जाते थे। इन समस्त विघ्न-बाधाओं से उसके लिए कोई पन थी तो वह यही तोता था। इससे उसे किसी प्रकार का कष्ट न होता था। व अब उस अवस्था में था जब मनुष्य को शान्तिभोग के सिवा और कोई इच्छ नहीं रहती।

तोता एक खपरैल पर बैठा था। महादेव ने पिंजरा उतार लिया और उ दिखाकर कहने लगा—"आ, आ, 'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता'।" लेकि गाँव और घर के लड़के एकत्र होकर चिल्लाने और तालियाँ बजाने लगे, उ से कौवों ने काँव-काँव की रट लगाई। तोता उड़ा और गाँव से बाहर निक कर एक पेड़ पर जा बैठा। महादेव खाली पिंजरा लिये उसके पीछे दौड़ा, दौड़ा। लोगों को उसकी द्रुतगामिता पर अचम्भा हो रहा था। मोह की इस सुन्दर, इससे सजीव, इससे भावमय कल्पना नहीं की जा सकती।

दोपहर हो गयी थी। किसान लोग खेतों से चले आ रहे थे, उन्हें वि का अच्छा अवसर मिला। महादेव को चिढ़ाने में सभी को मजा आता किसी ने कङ्कड़ फेंके, किसी ने तालियाँ बजाईं। तोता फिर उड़ा और य दूर आम के बागों में एक पेड़ की फुनगी पर जा बैठा। महादेव फिर पिंजरा लिये, मेंढक की भाँति उचकता हुआ चला। बाग में पहुँचा तो तलुवों से आग निकल रही थी, सिर चक्कर खा रहा था। जब जरा से हुआ तो फिर पिंजरा उठाकर कहने लगा, 'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता'

गी से उतरकर नीचे की एक डाल पर आ बैठा; किन्तु महादेव की ओर ंक नेत्रों से ताक रहा था। महादेव ने समझा, डर रहा है। वह पिंजरे को ोड़कर आप एक दूसरे पेड़ की आड़ में छिप गया। तोते ने चारों ओर गौर से देखा, निःशंक हो गया, उतरा और आकर पिंजरे के ऊपर बैठ गया। महादेव का हृदय उछलने लगा। 'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त' का मन्त्र जपता हुआ धीरे-धीरे तोते के समीप आया, और लपका कि तोते को पकड़ ले, किन्तु तोता हाथ न आया, फिर पेड़ पर जा बैठा।

साँझ तक यही हाल रहा। तोता कभी इस डाल पर जाता, कभी उस डाल पर। कभी पिंजरे पर आ बैठता, कभी पिंजरे के द्वार पर बैठ अपनी दाने-पानी की प्यालियों को देखता, फिर उड़ जाता। बुड्ढा अगर मूर्तिमान मोह था, तो तोता मूर्तिमती माया। यहाँ तक कि शाम हो गयी, माया और मोह का यह संग्राम अन्धकार में विलीन हो गया।

( ३ )

रात हो गयी। चारों ओर निविड़ अन्धकार छा गया। तोता न-जाने पत्तों कहाँ छिपा बैठा था। महादेव जानता था कि रात को तोता कहीं उड़कर नहीं ा सकता और न पिंजरे ही में आ सकता है, तिस पर भी वह इस जगह से लने का नाम न लेता था। आज उसने दिन-भर कुछ नहीं खाया, रात के भोजन ा समय भी निकल गया, पानी की एक बूँद भी उसके कंठ में न गयी, लेकिन से न भूख थी न प्यास। तोते के बिना उसे अपना जीवन निस्सार, शुष्क और ना जान पड़ता था। वह दिन-रात काम करता था, इसलिए कि यह उसकी न्तःप्रेरणा थी, जीवन के और काम इसलिए करता था कि आदत थी। इन मों में उसे अपनी सजीविता का लेशमात्र भी ज्ञान न होता था। तोता ही वह थी जो उसे चेतना की याद दिलाती थी। उसका हाथ से जाना जीव का त्याग करना था।

महादेव दिन-भर का भूखा-प्यासा, थका-माँदा, रह-रहकर झपकियाँ ले था, किन्तु क्षण में फिर चौंककर आँखें खोल देता और उस विस्तृत अन्धकार सकी आवाज सुनाई देती—'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता'।

आधी रात गुजर गयी थी। सहसा वह कोई आहट पाकर चौंका तो देखा

कि एक दूसरे वृक्ष के नीचे एक धुँधला दीपक जल रहा है और कई आदमी बैठे हुए आपस में कुछ बातें कर रहे हैं। वह सब चिलम पी रहे थे। तमाखू की महक ने उसे अधीर कर दिया। उच्च स्वर से बोला—'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता' और उन आदमियों की ओर चिलम पीने चला, किन्तु जिस प्रकार बन्दूक की आवाज सुनते ही हिरन भाग जाते हैं, उसी प्रकार उसे आते देख वह सब-के-सब उठकर भागे। कोई इधर गया कोई उधर। महादेव चिल्लाने लगा—'ठहरो ठहरो !' एकाएक उसे ध्यान आ गया, यह सब चोर हैं। वह जोर से चिल्ला उठा—'चोर चोर, पकड़ो पकड़ो!' चोरों ने पीछे फिरकर भी न देखा।

महादेव दीपक के पास गया तो उसे एक कलसा रखा हुआ मिला। मोरचे से काला हो रहा था। महादेव का हृदय उछलने लगा। उसने कलसे में हाथ डाला तो मोहरें थीं। उसने एक मोहर बाहर निकाली और दीपक के उजाले में देखा; हाँ मोहर थी। उसने तुरन्त कलसा उठा लिया; दीपक बुझा दिया और पेड़ के नीचे छिपकर बैठ रहा। साहू से चोर बन गया।

उसे फिर शङ्का हुई कि ऐसा न हो चोर लोट आयें और मुझे अकेला देखकर मोहरें छीन लें। उसने कुछ मोहरें कमर में बाँधीं, फिर एक सूखी लकड़ी से जमीन की मिट्टी हटाकर कई गड्ढे बनाये। उन्हें मोहरों से भरकर मिट्टी से ढँक दिया।

( ४ )

महादेव के अन्तःनेत्रों के सामने अब एक दूसरा ही जगत् था, चिन्ताओं और कल्पनाओं से परिपूर्ण। यद्यपि अभी कोष के हाथ से निकल जाने का भय था, पर अभिलाषाओं ने अपना काम शुरू कर दिया। एक पक्का मकान बन गया, सराफे की एक भारी दुकान खुल गयी, निज सम्बन्धियों से फिर नाता जुड़ गया, विलास की सामग्रियाँ एकत्रित हो गयीं, तब तीर्थयात्रा करने चले और वहाँ से लौटकर बड़े समारोह से यज्ञ, ब्रह्मभोज हुआ। इसके पश्चात् एक शिवालय और कुआँ बन गया, एक उद्यान भी आरोपित हो गया और वहाँ वह नित्यप्रति कथा-पुराण सुनने लगा। साधु-सन्तों का आदर-सत्कार होने लगा।

अकस्मात् उसे ध्यान आया, कहीं चोर आ जायें तो मैं भागूँगा क्योंकर ! उसने परीक्षा करने के लिए कलसा उठाया और दो सौ पग तक बेतहाशा

भागा हुआ चला गया। जान पड़ता था उसके पैरों में पर लग गये हैं। चिन्ता शान्त हो गयी। इन्हीं कल्पनाओं में रात व्यतीत हो गयी। उषा का आगमन हुआ, हवा जगी, चिड़ियाँ गाने लगीं। सहसा महादेव के कानों में आवाज़ आयी—

'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता,
राम के चरन में चित्त लागा।'

यह बोल सदैव महादेव की जिह्वा पर रहता था, दिन में सहस्रों बार ये शब्द उसके मुख से निकलते थे, पर उनका धार्मिक भाव कभी उसके अन्तः-करण को स्पर्श न करता था। जैसे किसी बाजे से राग निकलता है उसी प्रकार उसके मुँह से यह बोल निकलता था, निरर्थक और प्रभावशून्य। तब उसका हृदयरूपी वृक्ष पत्र-पल्लव-विहीन था। यह निर्मल वायु उसे गुञ्जरित न कर सकती थी। पर अब उस वृक्ष में कोपलें और शाखाएँ निकल आयी थीं, इस वायु-प्रवाह से झूम उठा, गुञ्जित हो गया।

अरुणोदय का समय था। प्रकृति एक अनुरागमय प्रकाश में डूबी हुई थी। उसी समय तोता परों को जोड़े हुए ऊँची डाल से उतरा, जैसे आकाश से कोई तारा टूटे, और आकर पिंजड़े में बैठ गया। महादेव प्रफुल्लित होकर दौड़ा और पिंजड़े को उठाकर बोला—'आओ आत्माराम, तुमने कष्ट तो बहुत दिया, पर मेरा जीवन भी सफल कर दिया। अब तुम्हें चाँदी के पिंजरे में रखूँगा और सोने से मढ़ दूँगा।' उसके रोम-रोम से परमात्मा के गुणानु-वाद की ध्वनि निकलने लगी। प्रभु! तुम कितने दयावान् हो और यह तुम्हारा असीम वात्सल्य है, नहीं तो मुझ जैसा पापी, पतित प्राणी, कब इस कृपा के योग्य था। इन पवित्र भावों से उसकी आत्मा विह्वल हो गयी, वह अनुरक्त होकर बोल उठा—

'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता,
राम के चरन में चित्त लागा।'

उसने एक हाथ में पिंजरा लटकाया, बगल में कलसा दबाया और घर चला।

( ५ )

महादेव घर पहुँचा तो अभी कुछ अँधेरा था। रास्ते में एक कुत्ते के सिवाय और किसी से भेंट न हुई और कुत्ते को मोहरों से विशेष प्रेम नहीं होता। उसने कलसे को एक नाँद में छिपा दिया और उसे कोयले से अच्छी तरह ढाँककर अपनी कोठरी में रख आया। जब दिन निकल आया तो वह सीधे पुरोहितजी ही के घर जा पहुँचा। पुरोहितजी पूजा पर बैठे सोच रहे थे—कल ही मुकदमे की पेशी है और अभी तक हाथ में कौड़ी भी नहीं—जजमानों में कोई साँस भी नहीं लेता! इतने में महादेव ने पालागन किया। पण्डितजी ने मुँह फेर लिया, यह अमङ्गलमूर्ति कहाँ से पहुँची! मालूम नहीं, दाना भी मयस्सर होगा या नहीं! रुष्ट होकर पूछा—क्या है जी, क्या कहते हो, जानते नहीं कि हम इस बेला पूजा पर रहते हैं!

महादेव ने कहा—महाराज! आज मेरे यहाँ सत्यनारायण की कथा है।

पुरोहितजी विस्मित हो गये, कानों पर विश्वास न हुआ। महादेव के घर कथा का होना उतनी ही असाधारण घटना थी जितनी अपने घर से किसी भिखारी के लिए भीख निकालना। पूछा—आज क्या है?

महादेव बोला—कुछ नहीं, ऐसे ही इच्छा हुई कि आज भगवान की सुन लूँ।

प्रभात ही से तैयारी होने लगी। बेंदो और अन्य निकटवर्ती गाँव में सुपा[illegible] फिरी। कथा के उपरान्त भोज का भी नेवता था। जो सुनता आश्चर्य करत[illegible] यह आज रेत में दूब कैसे जमी!

सन्ध्या समय जब सब लोग जमा हो गये, पण्डितजी अपने सिंहासन पर विराजमान हुए तो महादेव खड़ा होकर उच्च स्वर से बोला—भाइयो, मेरी सारी उम्र छल-कपट में कट गयी! मैंने न जाने कितने आदमियों को दगा दी, कितना खरे को खोटा किया, पर अब भगवान ने मुझपर दया की है, वह मेरे मुँह की कालिख को मिटाना चाहते हैं। मैं आप सभी भाइयों से ललकारकर कहता हूँ कि जिसका मेरे जिम्मे जो कुछ आता हो, जिसकी जमा मैंने मार ली हो, जिसके चोखे माल को खोटा कर दिया हो वह आकर अपनी एक-एक कौड़ी चुका ले, अगर कोई यहाँ न आ सका हो तो आप लोग उससे जाकर

कह दीजिए, कल से एक महीने तक जब जी चाहे आवे और अपना हिसाब चुकता कर ले। गवाही-साखी का काम नहीं।

सब लोग सन्नाटे में आ गये। कोई मार्मिक भाव से सिर हिलाकर बोला —'हम कहते न थे !' किसी ने अविश्वास से कहा—'क्या खाके भरेगा, हजारों का टोटल हो जायगा।'

एक ठाकुर ने ठठोली की—और जो लोग सुरधाम चले गये ?

महादेव ने उत्तर दिया—उनके घरवाले तो होंगे !

किन्तु इस समय लोगों को वसूली की इतनी इच्छा न थी जितनी यह जानने की कि इसे इतना धन मिल कहाँ से गया। किसी को महादेव के पास आने का साहस न हुआ। देहात के आदमी थे, गड़े मुर्दे उखाड़ना क्या जानें ! फिर प्रायः लोगों को याद भी न थी कि उन्हें महादेव से क्या पाना है और ऐसे पवित्र अवसर पर भूल-चूक हो जाने का भय उनका मुँह बन्द किये हुए था। सब से बड़ी बात यह थी कि महादेव की साधुता ने उन्हें वशीभूत कर लिया था।

अचानक पुरोहितजी बोले—तुम्हें याद है, मैंने तुम्हें एक कंठा बनाने के लिए सोना दिया था और तुमने कई माशे तौल में उड़ा दिये थे।

महादेव—हाँ याद है, आपका कितना नुकसान हुआ होगा ?

पुरोहितजी—५०) से कम न होगा।

महादेव ने कमर से दो मोहरें निकालीं और पुरोहितजी के सामने रख दीं।

पुरोहितजी की लोलुपता पर टीकाएँ होने लगीं। यह बेईमानी है, बहुत हो तो दो-चार रुपये का नुकसान हुआ होगा। बेचारे से ५०) ऐंठ लिये। नारायण का भी डर नहीं। बनने को पंडित, पर नीयत ऐसी खराब ! राम राम !

लोगों को महादेव से एक श्रद्धा-सी हो गयी। एक घंटा बीत गया पर उन सहस्रों मनुष्यों में से एक भी न खड़ा हुआ। तब महादेव ने फिर कहा—मालूम होता है, आप लोग अपना-अपना हिसाब भूल गये हैं। इसलिए आज कथा होने दीजिए, मैं एक महीने तक आप की राह देखूँगा। इसके पीछे तीर्थयात्रा करने चला जाऊँगा। आप सब भाइयों से मेरी विनती है कि आप मेरा उद्धार करें।

एक महीने तक महादेव लेनदारों की राह देखता रहा। रात को चोरों के भय से नींद न आती। अब वह कोई काम न करता। शराब का चसका भी छूटा। साधु-अभ्यागत जो द्वार पर आ जाते उनका यथायोग्य सत्कार करता। दूर-दूर उसका सुयश फैल गया। यहाँ तक कि महीना पूरा हो गया और एक आदमी भी हिसाब चुकाने न आया। अब महादेव को ज्ञात हुआ कि संसार में कितना धर्म, कितना सद्व्यवहार है। अब उसे मालूम हुआ कि संसारबुरों के लिये बुरा है, पर अच्छों के लिए अच्छा है।

( ६ )

इस घटना को हुए ५० वर्ष बीत चुके हैं। आप बेंदो जाइए तो दूर-ही से एक सुनहरा कलस दिखाई देता है। यह ठाकुरद्वारे का कलस है। उससे मिला हुआ एक पक्का तालाब है जिसमें खूब कमल खिले रहते हैं। उसकी मछलियाँ कोई नहीं पकड़ता। तालाब के किनारे एक विशाल समाधि है। यही आत्माराम का स्मृतिचिह्न है। उनके सम्बन्ध में विभिन्न किम्वदन्तियाँ प्रचलित हैं। कोई कहता है, उनका रत्नजटित पिंजरा स्वर्ग को चला गया, कोई कहता है वह 'सत्त गुरुदत्त' कहते हुए अंतर्धान हो गये। पर यथार्थ यह है कि उस पक्षी-रूपी चन्द्र को किसी बिल्लीरूपी राहु ने ग्रस लिया। लोग कहते हैं, आधीरात को अभी तक तालाब के किनारे आवाज आती है—

'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता,
राम के चरन में चित्त लागा।'

महादेव के विषय में भी कितनी जनश्रुतियाँ हैं। उनमें सबसे मान्य यह है कि आत्माराम के समाधिस्थ होने के बाद वह कई संन्यासियों के साथ हिमालय चले गये और वहाँ से लौटकर न आये। उनका नाम आत्माराम प्रसिद्ध हो गया।

———

# पशु से मनुष्य

दुर्गा माली डाक्टर मेहरा बार-ऐट-ला के यहाँ नौकर था। पाँच रुपये मासिक तन पाता था। उसके घर में स्त्री और दो-तीन छोटे बच्चे थे। स्त्री पड़ोसियों ; लिए गेहूँ पीसा करती थी। दो बच्चे, जो समझदार थे, इधर-उधर से लक-ड़ियाँ और उपले चुन लाते थे। किन्तु इतना यत्न करने पर भी, वे बहुत तक-लीफ में रहते थे। दुर्गा, डाक्टर साहब की नजर बचाकर बगीचे से फूल चुन लाता और बाजार में पुजारियों के हाथ बेच दिया करता था। कभी-कभी फलों र भी हाथ साफ किया करता। यही उसकी ऊपरी आमदनी थी। इससे नोन-ल आदि का काम चल जाता था। उसने कई बार डाक्टर महोदय से वेतन ढ़ाने के लिए प्रार्थना की, परन्तु डाक्टर साहब नौकर की वेतन वृद्धि को छूत की बीमारी समझते थे, जो एक से अनेकों को ग्रस लेती है। वे साफ कह दया करते कि, भाई, मैं तुम्हें बाँधे तो हूँ नहीं। तुम्हारा निर्वाह यहाँ नहीं होता, ो और कहीं चले जाओ, मेरे लिए मालियों का अकाल नहीं है। दुर्गा में तना साहस न था कि वह लगी हुई रोजी छोड़कर नौकरी ढूँढ़ने निकलता। ससे अधिक वेतन पाने की आशा भी नहीं थी। इसलिए वह इसी निराशा में ड़ा हुआ जीवन के दिन काटता और अपने भाग्य को रोता था।

डाक्टर महोदय को बागवानी से विशेष प्रेम था। नाना प्रकार-के फूल-पत्ते लगा रखे थे। अच्छे-अच्छे फलों के पौधे दरभंगा, मलीहाबाद, सहारनपुर आदि स्थानों से मँगवाकर लगाये थे। वृक्ष को फलों से लदे हुए देखकर उन्हें हार्दिक आनन्द होता था। अपने मित्रों के यहाँ गुलदस्ते और शाक-भाजी की डालियाँ तोहफे के तौर पर भिजवाते रहते थे। उन्हें फलों को आप खाने का शौक न था, पर मित्रों को खिलाने में उन्हें असीम आनन्द प्राप्त होता था। प्रत्येक फल के मौसिम में मित्रों की दावत करते, और 'पिकनिक पार्टियाँ' उनके मनोरंजन का प्रधान अंग थीं।

एक बार गर्मियों में उन्होंने अपने कई मित्रों को आम खाने की दावत दी। मलीहाबादी वृक्ष में सुफेदे के फल खूब लगे हुए थे। डाक्टर साहब इन फलों को प्रतिदिन देखा करते थे। ये पहले ही फले थे, इसलिए वे मित्रों से उनके

मिठास और स्वाद का बखान सुनना चाहते थे। इस विचार से उन्हें वही आमोद होता था जो किसी पहलवान को अपने पट्ठों के करतब दिखाने से होता है। इतने बड़े सुन्दर और सुकोमल सुफेदे स्वयं उनकी निगाह से न गुजरे थे। इन फलों के स्वाद का उन्हें इतना विश्वास था कि वे एक फल चखकर उनकी परीक्षा करना आवश्यक न समझते थे, प्रधानतः इसलिए कि एक फल की कमी एक मित्र को रसास्वादन से वञ्चित कर देगी।

सन्ध्या का समय था, चैत का महीना। मित्रगण आकर बगीचे में हौज के किनारे कुरसियों पर बैठे थे। बर्फ और दूध का प्रबन्ध पहले ही से कर लिया गया था, पर अभी तक फल न तोड़े गये थे। डाक्टर साहब पहले फलों को पेड़ में लगे हुए दिखलाकर तब उन्हें तोड़ना चाहते थे, जिसमें किसी को यह सन्देह न हो कि फल इनके बाग के नहीं हैं। जब सब सज्जन जमा हो गये तब उन्होंने कहा—आप लोगों को कष्ट तो होगा पर जरा चलकर फलों को पेड़ में लटकते हुए देखिए। बड़ा ही मनोहर दृश्य है। गुलाब में भी ऐसी लोचन-प्रिय लाली न होगी। रङ्ग से स्वाद टपका पड़ता है। मैंने इसकी कलम खास मलीहाबाद से मँगवाई थी और उसका विशेष रीति से पालन किया है।

मित्रगण उठे। डाक्टर साहब आगे-आगे चले। रविशों के दोनो ओर गुलाब की क्यारियाँ थीं। उनकी छटा दिखाते हुए वे अन्त में सुफेदे के पेड़ के सामने आ गये। मगर, आश्चर्य! वहाँ एक भी फल न था। डाक्टर साहब ने समझा शायद यह वह पेड़ नहीं है, दो पग और आगे चले; दूसरा पेड़ मिल गया। और आगे बढ़े, तीसरा पेड़ मिला। फिर पीछे लौटे और एक विस्मित दशा में सफेदे के वृक्ष के नीचे आकर रुक गये। इसमें सन्देह नहीं कि वृक्ष यही है, पर फल क्या हुए? बीस-पचीस आम थे, एक का भी पता नहीं! मित्रों की ओर अपराध-पूर्ण नेत्रों से देखकर बोले—आश्चर्य है कि इस पेड़ में एक भी फल नहीं है! आज सुबह मैंने देखा था, पेड़ फलों से लदा हुआ था। यह देखिए, फलों के डण्ठल हैं। यह अवश्य माली की शरारत है। मैं आज उसकी हड्डियाँ तोड़ दूँगा। उस पाजी ने मुझे कितना धोखा दिया! मैं बहुत लज्जित हूँ कि आप लोगों को व्यर्थ कष्ट हुआ। मैं सत्य कहता हूँ, इस समय मुझे जितना दुःख है उसे प्रकट नहीं कर सकता। ऐसे रँगीले, कोमल, कमनीय फल मैंने अपने

जीवन में कभी न देखे थे। उनके लुप्त हो जाने से हृदय के टुकड़े हुए जाते हैं।

यह कहकर वे नैराश्य वेदना से कुरसी पर बैठ गये। मित्रों ने सान्त्वना देते हुए कहा—नौकरों का सब जगह यही हाल है। यह जाति ही पाजी होती है। आप हम लोगों के कष्ट का खेद न करें। वह सुफेदे न सही दूसरे फल सही।

एक सज्जन ने कहा—साहब, मुझे तो सब आम एक ही से मालूम होते हैं। सुफेदे, मोहनभोग, लँगड़े, बम्बई, फजली, दशहरी, इनमें कोई भेद ही नहीं मालूम होता, न-जाने आप लोगों को कैसे स्वाद में फर्क मालूम होता है?

दूसरे सज्जन बोले—यहाँ भी वही हाल है। इस समय जो फल मिलें वही मँगवाइए। जो गये उनका अफसोस क्या?

डाक्टर साहब ने व्यथित भाव से कहा—आम की क्या कमी है, सारा बाग भरा पड़ा है, खूब शौक से खाइए और बाँधकर घर ले जाइए। वे हैं और किस लिए? पर वह रस और स्वाद कहाँ? आपको विश्वास न होगा, उन सुफेदों पर ऐसा निखार था कि सेब मालूम होते थे। सेब भी देखने में ही सुन्दर होता है। उसमें वह रुचि-वर्द्धक लालित्य, वह सुधामय मृदुता कहाँ! इस माली ने आज वह अनर्थ किया है कि जी चाहता है नमकहराम को गोली मार दूँ। इस वक्त सामने आ जाय तो अधमुआ कर दूँ।

माली बाजार गया हुआ था। डाक्टर साहब ने साईस से कुछ आम तुड़वाये, मित्रों ने आम खाये, दूध पिया और डाक्टर साहब को धन्यवाद देकर अपने अपने घर की राह ली। लेकिन मिस्टर मेहरा वहीं हौज के किनारे हाथ में हण्टर लिये माली की बाट जोहते रहे। आकृति से जान पड़ता था मानो साक्षात् क्रोध मूर्तिमान् हो गया था।

( २ )

कुछ रात गये दुर्गा बाजार से लौटा। वह चौकन्नी आँखों से इधर-उधर ताकता आता था। ज्योंही उसने डाक्टर साहब को हौज के किनारे हाथ में हण्टर लिये बैठे देखा, उसके होश उड़ गये। समझ गया कि चोरी पकड़ ली गयी। इसी भय से उसने बाजार में खूब देर की थी। उसने समझा था, डाक्टर साहब कहीं सैर करने गये होंगे, मैं चुपके से कटहल के नीचे अपनी झोंपड़ी में जा बैठूँगा, सवेरे कुछ पूछ-ताछ भी हुई तो मुझे सफाई देने का अवसर मिल जायगा;

कह दूँगा, सरकार, मेरे झोपड़े की तलाशी ले लें, इस प्रकार मामला दब जायगा। समय सफल चोर का सबसे बड़ा मित्र है। एक-एक क्षण उसे निर्दोष सिद्ध करता जाता है। किन्तु जब वह रँगे हाथों पकड़ा जाता है तब उसे बच निकलने की कोई राह नहीं रहती। रुधिर के सूखे हुए धब्बे रंग के दाग बन सकते हैं, पर ताजा लोहू आप-ही-आप पुकारता है। दुर्गा के पैर थक गये, छाती धड़कने लगी। डाक्टर साहब की निगाह उस पर पड़ गयी थी। अब उलटे पाँव लौटना व्यर्थ था।

डाक्टर साहब उसे दूर से देखते ही उठे कि चलकर उसकी खूब मरम्मत करूँ। लेकिन वकील थे, विचार किया कि इसका बयान लेना आवश्यक है। इशारे से निकट बुलाया और पूछा—सुफेदे के पेड़ में कई आम लगे हुए थे। एक भी नहीं दिखाई देता! क्या हो गये?

दुर्गा ने निर्दोष भाव से उत्तर दिया—हजूर, अभी मैं बाजार गया हूँ तब तक तो सब आम लगे हुए थे! इतनी देर में कोई तोड़ ले गया हो तो मैं नहीं कह सकता।

डाक्टर—तुम्हारा किस पर सन्देह है?

दुर्गा—सरकार, अब मैं किसे बताऊँ? इतने नौकर-चाकर हैं, न जाने किसकी नीयत बिगड़ी हो।

डाक्टर—मेरा सन्देह तुम्हारे ऊपर है, अगर तोड़कर रखे हों तो लाकर दे दो, या साफ-साफ कह दो कि मैंने तोड़े हैं। नहीं तो मैं बुरी तरह पेश आऊँगा।

चोर केवल दण्ड से ही नहीं बचना चाहता, वह अपमान से भी बचना चाहता है। वह दण्ड से इतना नहीं डरता जितना अपमान से। जब उसे सजा से बचने की कोई आशा नहीं रहती, उस समय भी वह अपने अपराध को स्वीकार नहीं करता। वह अपराधी बनकर छूट जाने से निर्दोष बनकर दण्ड भोगना बेहतर समझता है। दुर्गा इस समय अपराध स्वीकार करके सजा से बच सकता था, पर उसने कहा—हजूर मालिक हैं, जो चाहे करें, पर मैंने आम नहीं तोड़े। सरकार ही बतायें, इतने दिन मुझे आपकी ताबेदारी करते हो गये, मैंने एक पत्ती भी छुई है?

डाक्टर—तुम कसम खा सकते हो?

दुर्गा—गंगा की कसम जो मैंने आमों को हाथ से छुआ भी हो।

डाक्टर—मुझे इस कसम पर विश्वास नहीं है। तुम पहले लोटे में पानी लाओ, उसमें तुलसी की पत्तियाँ डालो, तब कसम खाकर कहो कि अगर मैंने तोड़े हों तो मेरा लड़का मेरे काम न आये। तब मुझे विश्वास आयेगा।

दुर्गा—हजूर, साँच को आँच क्या, जो कसम कहिए खाऊँगा। जब मैंने काम ही नहीं किया तो मुझ पर कसम क्या पड़ेगी।

डाक्टर—अच्छा, बातें न बनाओ, जाकर पानी लाओ।

डाक्टर महोदय मानव-चरित्र के ज्ञाता थे। सदैव अपराधियों से व्यवहार रहता था। यद्यपि दुर्गा जबान से हेकड़ी की बातें कर रहा था, पर उसके हृदय में भय समाया हुआ था। वह अपने झोपड़े में आया, लेकिन लोटे में पानी लेकर जाने की उसे हिम्मत न हुई। उसके हाथ थरथराने लगे। ऐसी घटनाएँ याद आ गयीं जिनमें झूठी गङ्गा उठानेवालों पर दैवी कोप का प्रहार हुआ था। ईश्वर के सर्वत्र होने का ऐसा मर्मस्पर्शी विश्वास उसे कभी नहीं हुआ था। उसने निश्चय किया 'मैं झूठी गङ्गा न उठाऊँगा। यही न होगा, निकाल दिया जाऊँगा। नौकरी फिर कहीं-न-कहीं मिल जाएगी और नौकरी न भी मिले तो मजूरी कहीं नहीं गयी है। कुदाल भी चलाऊँगा तो साँझ तक आध सेर आटे का ठिकाना हो जायगा।' वह धीरे-धीरे खाली हाथ डाक्टर साहब के सामने आकर खड़ा हो गया।

डाक्टर साहब ने कड़े स्वर से पूछा—पानी लाया!

दुर्गा—हजूर, मैं गङ्गा न उठाऊँगा।

डाक्टर—तो तुम्हारा आम तोड़ना साबित है।

दुर्गा—अब सरकार जो चाहें समझें। मान लीजिए, मैंने ही आम तोड़े तो आप का गुलाम ही तो हूँ। रात-दिन तावेदारी करता हूँ. बाल बच्चे आमों के लिए रोएँ तो कहाँ जाऊँ? अबकी जान बकसी जाय, फिर ऐसा कसूर न होगा।

डाक्टर महोदय इतने उदार न थे। उन्होंने यही बड़ा उपकार किया कि दुर्गा को पुलिस के हवाले न किया और न हण्टर ही लगाये। उसकी इस धार्मिक श्रद्धा ने उन्हें कुछ नर्म कर दिया था। मगर ऐसे दुर्बल हृदय मनुष्य को अपने यहाँ रखना असम्भव था। उन्होंने उसी क्षण दुर्गा को जवाब दे दिया और उसको आधे महीने की बाकी मजूरी जप्त कर ली।

( ३ )

कई मास के पश्चात एक दिन डाक्टर मेहरा बाबू प्रेमशङ्कर के बाग की सैर करने गये। वहाँ से कुछ अच्छी-अच्छी कलमें लाना चाहते थे। प्रेमशङ्कर को भी बागवानी से प्रेम था और दोनो मनुष्यों में यही एक समानता थी, अन्य सभी विषयों में एक दूसरे से भिन्न थे। प्रेमशङ्कर बड़े सन्तोषी, सरल, सहृदय मनुष्य थे। वे कई साल अमेरिका रह चुके थे। वहाँ उन्होंने कृषि-विज्ञान का खूब अध्ययन किया था और यहाँ आकर इस वृत्ति को अपनी जीविका का आधार बना लिया था। मानव-चरित्र और वर्तमान सामाजिक संगठन के विषय में उनके विचार विचित्र थे। इसी लिए शहर के सभ्य समाज में लोग उनकी उपेक्षा करते थे और उन्हें झक्की समझते थे। इसमें सन्देह नहीं कि उनके सिद्धान्तों से लोगों को एक प्रकार की दार्शनिक सहानुभूति थी, पर उनके क्रियात्मक होने के विषय में उन्हें बड़ी शङ्का थी। संसार कर्मक्षेत्र है, मीमांसाक्षेत्र नहीं। यहाँ सिद्धान्त सिद्धान्त ही रहेंगे, उनका प्रत्यक्ष घटनाओं से सम्बन्ध नहीं।

डाक्टर साहब बगीचे में पहुँचे तो उन्होंने प्रेमशङ्कर को क्यारियों में पानी देते हुए पाया। कुएँ पर एक मनुष्य खड़ा पम्प से पानी निकाल रहा था। मेहरा ने उसे तुरन्त पहचान लिया। वह दुर्गा माली था। डाक्टर साहब के मन में उस समय दुर्गा के प्रति एक विचित्र ईर्ष्या का भाव उत्पन्न हुआ। जिस नराधम को उन्होंने दण्ड देकर अपने यहाँ से अलग कर दिया था, उसे नौकरी क्यों मिल गयी! यदि दुर्गा इस वक्त फटेहाल रोनी सूरत बनाये दिखाई देता और डाक्टर साहब को देखते ही उनके पैरों पर गिर पड़ता, तो शायद डाक्टर साहब को उस पर दया आ जाती। वे सम्भवतः उसे कुछ इनाम देते और प्रेमशङ्कर से उसकी प्रशंसा भी कर देते। उनकी प्रकृति में दया थी और अपने नौकरों पर उनकी कृपा-दृष्टि रहती थी। परन्तु उनकी इस कृपा और उस दया में लेशमात्र भी भेद न था जो उन्हें अपने कुत्तों और घोड़ों से थी। इस कृपा का आधार न्याय नहीं, दीन-पालन है। दुर्गा ने उन्हें देख, कुँए पर खड़े-खड़े सलाम किया और फिर अपने काम में लग गया। उसका यह अभिमान डाक्टर साहब के हृदय में भाले की भाँति चुभ गया। उन्हें यह विचारकर अत्यन्त क्रोध आया कि मेरे यहाँ से निकलना इसके लिए हितकर हो गया। उन्हें अपनी सहृदयता पर जो

घमण्ड था उसे बड़ा आघात लगा। प्रेमशङ्कर ज्योंही उनसे हाथ मिलाकर उन्हें क्यारियों की सैर कराने लगे, त्योंही डाक्टर साहब ने उनसे पूछा—यह आदमी आपके यहाँ कितने दिनों से है?

प्रेमशङ्कर—यही ६ या ७ महीने हुए होंगे।

डाक्टर—कुछ नोच-खसोट तो नहीं करता? यह मेरे यहाँ माली था। इसके हथलपकेपन से तङ्ग आकर मैंने इसे निकाल दिया था। कभी फूल तोड़कर बेच लाता, कभी पौधे उखाड़ ले जाता, और फलों का कहना ही क्या? वे इसके मारे बचते ही न थे। एक बार मैंने मित्रों की दावत की थी। मलीहाबादी सुफेदे में खूब फल लगे हुए थे। जब सब लोग आकर बैठ गये और मैं उन्हें फल दिखाने के लिए ले गया तो सारे फल गायब! कुछ न पूछिए, उस घड़ी कितनी भद्द हुई! मैंने उसी क्षण इन महाशय का दुतकार बताई। बड़ा ही दगाबाज आदमी है, और ऐसा चतुर है कि इसका पकड़ना मुश्किल है। कोई वकीलों ही जैसा काइयाँ आदमी हो तो इसे पकड़ सकता है। ऐसी सफाई और ढिठाई से ढुलकता है कि इसका मुँह देखते रह जाइए। आपको भी तो कभी चरका नहीं दिया?

प्रेमशङ्कर—जी नहीं, कभी नहीं। मुझे इसने शिकायत का कोई अवसर नहीं दिया। यहाँ तो खूब मेहनत करता है, यहाँ तक कि दोपहर की छुट्टी में भी आराम नहीं करता। मुझे इस पर इतना भरोसा हो गया है कि सारा बगीचा इसी पर छोड़ रखा है। दिन-भर में जो कुछ आमदनी होती है वह शाम को मुझे दे देता है और कभी एक पाई का भी अन्तर नहीं पड़ता।

डाक्टर—यही तो इसका कौशल है कि आपको उलटे छुरे से मूँड़े, और आपको खबर भी नहीं। आप इसे वेतन क्या देते हैं?

प्रेमशङ्कर—यहाँ किसी को वेतन नहीं दिया जाता। सब लोग लाभ में बराबर के साझेदार हैं। महीने भर में आवश्यक व्यय के पश्चात् जो कुछ बचता है, उसमें से १०) प्रति सैकड़े धर्मखाते में डाल दिया जाता है, शेष रुपये समान भागों में बाँट दिये जाते हैं। पिछले महीने में १४०) की आमदनी हुई थी। मुझे मिलाकर यहाँ ७ आदमी हैं। २०) हिस्से में पड़े। अबकी नारंगियाँ खूब हुई हैं, मटर की फलियाँ, गन्ने, गोभी आदि से अच्छी आमदनी हो रही है।

४०) रु० से कम न पड़ेंगे।

डाक्टर मेहरा ने आश्चर्य से पूछा—इतने में आपका काम चल जाता है!

प्रेमशङ्कर—जी हाँ, बड़ी सुगमता से। मैं इन्हीं आदमियों के-से कपड़े पहनता हूँ, इन्हीं का-सा खाना खाता हूँ और मुझे कोई दूसरा व्यसन नहीं है। यहाँ २०) मासिक उन औषधियों का खर्च है जो गरीबों को दी जाती हैं। ये रुपये संयुक्त-आय से अलग कर लिये जाते हैं। किसी को कोई आपत्ति नहीं होती। यह साय-किल जो आप देखते हैं, संयुक्त-आय से ही ली गयी है। जिसे जरूरत होती है इस पर सवार होता है। मुझे ये सब अधिक कार्यकुशल समझते हैं और मुझ-पर पूरा विश्वास रखते हैं। बस मैं इनका मुखिया हूँ। जो कुछ सलाह देता हूँ उसे सब मानते हैं। कोई भी यह नहीं समझता कि मैं किसी का नौकर हूँ। सब-के-सब अपने को साझेदार समझते हैं और जी तोड़कर मेहनत करते हैं। जहाँ कोई मालिक होता है और दूसरा उसका नौकर तो उन दोनो में तुरन्त द्वेष पैदा हो जाता है। मालिक चाहता है कि इससे जितना काम लेते बने लेना चाहिए। नौकर चाहता है कि मैं कम-से-कम काम करूँ। उसमें स्नेह या सहानुभूति का नाम तक नहीं होता। दोनो यथार्थ में एक दूसरे के शत्रु होते हैं। इस प्रति-द्वन्द्विता का दुष्परिणाम हम और आप देख ही रहे हैं। मोटे और पतले आद-मियों के पृथक्-पृथक् दल बन गये हैं और उनमें घोर संग्राम हो रहा है। काल-चिह्नों से ज्ञात होता है कि यह प्रतिद्वन्द्विता अब कुछ ही दिनों की मेहमान है। इसकी जगह अब सहकारिता का आगमन होनेवाला है। मैंने अन्य देशों में इस घातक संग्राम के दृश्य देखे हैं और मुझे उनसे घृणा हो गयी है। सहकारिता ही हमें इस सङ्कट से मुक्त कर सकती है।

डाक्टर—तो यह कहिए कि आप 'सोशलिस्ट' हैं।

प्रेमशङ्कर—जी नहीं, मैं 'सोशलिस्ट' या 'डिमाक्रेट' कुछ नहीं हूँ। मैं केवल न्याय और धर्म का दीन सेवक हूँ। मैं निःस्वार्थ सेवा को विद्या से श्रेष्ठ समझता हूँ। मैं अपनी आत्मिक और मानसिक शक्तियों को, बुद्धि-सामर्थ्य को धन और वैभव का गुलाम नहीं बनाना चाहता। मुझे वर्तमान शिक्षा और सभ्यता पर विश्वास नहीं है। विद्या का धर्म है आत्मिक उन्नति, और आत्मिक उन्नति का फल उदारता, त्याग, सदिच्छा, सहानुभूति, न्यायपरता और दया-

शीलता है। जो शिक्षा हमें निर्बलों को सताने के लिए तैयार करे, जो हमें धरती और धन का गुलाम बनाये, जो हमें भोग-विलास में डुबाये, जो हमें दूसरों का रक्त पीकर मोटा होने का इच्छुक बनाये वह शिक्षा नहीं भ्रष्टता है। अगर मूर्ख, लोभ और मोह के पंजे में फँस जायँ तो वे क्षम्य हैं, परन्तु विद्या और सभ्यता के उपासकों की स्वार्थान्धता अत्यन्त लज्जाजनक है। हमने विद्या और बुद्धि-बल को विभूति के शिखर पर चढ़ने का मार्ग बना लिया। वास्तव में वह सेवा और प्रेम का साधन था। कितनी विचित्र दशा है कि जो जितना ही बड़ा विद्वान है वह उतना ही स्वार्थसेवी है। बस, हमारी सारी विद्या और बुद्धि, हमारा सारा उत्साह और अनुराग, धन-लिप्सा में ग्रसित है। हमारे प्रोफेसर साहब एक हजार से कम वेतन पायें तो उनका मुँह ही नहीं सीधा होता। हमारे दीवान और माल के अधिकारी लोग दो हजार मासिक पाने पर भी अपने भाग्य को रोया करते हैं। हमारे डाक्टर साहब चाहते हैं कि मरीज मरे या जीये, मेरी फीस में बाधा न पड़े और हमारे वकील साहब (क्षमा कीजिएगा) ईश्वर से मनाया करते हैं कि ईर्ष्या और द्वेष का प्रकोप हो और मैं सोने की दीवार खड़ी कर लूँ। समय धन है इसी वाक्य को हम ईश्वर-वाक्य समझ रहे हैं। इन महान पुरुषों में से प्रत्येक व्यक्ति सैकड़ों नहीं, हजारों-लाखों गरीबों की जीविका हड़प जाते हैं और फिर भी उसे जाति का भक्त बनने का दावा है। वह अपने स्वजाति-प्रेम का बड़ा डङ्का बजाता फिरता है। पैदा दूसरे करें, पसीना दूसरे बहायें, खाना और मूछों पर ताव देना इनका काम है। मैं समस्त शिक्षित समुदाय को केवल निकम्मा ही नहीं, वरन् अनर्थकारी भी समझता हूँ।

डाक्टर साहब ने बहुत धैर्य से काम लेकर पूछा—तो क्या आप चाहते हैं कि हम सब-के-सब मजूरी करें?

प्रेमशङ्कर—जी नहीं, हाँलाकि ऐसा हो तो इससे मनुष्य-जाति का बहुत उपकार हो। मुझे जो आपत्ति है, वह केवल दशाओं में इस अन्यायपूर्ण असमता से है। यदि एक मजूर ५) रुपया में अपना निर्वाह कर सकता है, तो एक मानसिक काम करनेवाले प्राणी के लिए इससे दुगुना तिगुनी आय काफी होनी चाहिए और यह अधिकता इसलिए कि उसे कुछ उत्तम भोजन, वस्त्र तथा सुख की आवश्यकता होती है। मगर पाँच और पाँच हजार, पचास और

पचास हजार का अस्वाभाविक अन्तर क्यों हो ? इतना ही नहीं, हमारा समाज पाँच और पाँच लाख के अन्तर का भी तिरस्कार नहीं करता; वरन् उसकी और भी प्रशंसा करता है। शासन-प्रबन्ध, वकालत, चिकित्सा, चित्र-रचना, शिक्षा, दलाली, व्यापार, सङ्गीत और इसी प्रकार की सैकड़ों अन्य कलाएँ शिक्षित समुदाय की जीवन-वृत्ति बनी हुई हैं। पर इनमें से एक भी धनोपार्जन नही करतीं। इनका आधार दूसरों की कमाई पर है। मेरी समझ में नहीं आता कि वह उद्योग-धन्धे जो जीवन की सामग्रियाँ पैदा करते हैं, जिन पर जीवन का अवलम्बन है, क्यों उन पेशों से नीचे समझे जायँ, जिनका काम केवल मनोरंजन या अधिक-से-अधिक धनोपार्जन में सहायता करना है। आज सारे वकीलों का देश-निकाला हो जाय, सारे अधिकारी-वर्ग लुप्त हो जायँ और सारे दलाल स्वर्ग को सिधारें तब भी संसार का काम चलता रहेगा, बल्कि और भी सरलता से। किसान भूमि जोतेंगे, जुलाहे कपड़े बुनेंगे, बढ़ई, लोहार, राज, चर्मकार सब-के-सब पूर्ववत् अपना-अपना काम करते रहेंगे। उनकी पंचायतें उनके झगड़ों का निबटारा करेंगी। लेकिन यदि किसान न हों तो सारा संसार क्षुधा-पीड़ा से व्याकुल हो जाय। परन्तु किसान के लिए ५) रु० बहुत समझा जाता है और वकील साहब या डाक्टर साहब के लिए पाँच हजार भी काफी नहीं!

डाक्टर—आप अर्थशास्त्र के उस महत्वपूर्ण सिद्धान्त को भूले जाते हैं जिसे श्रम-विभाजन (डिवीज़न आफ लेबर) कहते हैं। प्रकृति ने प्राणियों को भिन्न-भिन्न शक्तियाँ प्रदान की हैं और उनके विकास के लिए भिन्न-भिन्न दशाओं की आवश्यकता है।

प्रेमशङ्कर—मैं यह कब कहता हूँ कि प्रत्येक मनुष्य मजूरी करने पर मजबूर किया जाय! नहीं, जिसे परमात्मा ने विचार की शक्ति दी है वह शास्त्रों की विवेचना करे। जो भावुक हो, वह काव्य की रचना करे। जो अन्याय से घृणा करता हो वह वकालत करे। मेरा कथन केवल यह है कि भिन्न कार्यों की हैसियत में इतना अन्तर न रहना चाहिए। मानसिक और औद्योगिक कामों में इतना फर्क न्याय के विरुद्ध है। यह प्रकृति के नियमों के प्रतिकूल ज्ञात होता है कि आवश्यक और अनिवार्य कार्यों पर अनावश्यक और अनिवार्य कार्यों की प्रधा-

नता हो। कतिपय सज्जनों का मत है कि इस साम्य से गुणी लोगों का अनादर होगा और संसार को उनके सद्विचारों और सद्कार्यों से लाभ न पहुँच सकेगा। किन्तु वे भूल जाते हैं कि संसार के बड़े-से-बड़े पंडित बड़े-से-बड़े कवि, बड़े-से-बड़े आविष्कारक, बड़े-से-बड़े शिक्षक धन और प्रभुता के लोभ से मुक्त थे। हमारे अस्वाभाविक जीवन का एक कुपरिणाम यह भी है कि हम बलात् कवि और शिक्षक बन जाते हैं। संसार में आज अगणित लेखक और कवि, वकील और शिक्षक उपस्थित हैं। वे सब-के-सब पृथ्वी पर भार-रूप हो रहे हैं। जब उन्हें मालूम होगा कि इन 'दिव्य' कलाओं में कुछ लाभ नहीं है तो वही लोग कवि होंगे, जिन्हें कवि होना चाहिए। संक्षेप में कहना यही है कि धन की प्रधानता ने हमारे समस्त समाज को उलट-पलट दिया है।

डाक्टर मेहरा अधीर हो गये, बोले—महाशय, समाज-संगठन का यह रूप देव-लोक के लिए चाहे उपयुक्त हो पर भौतिक संसार के लिए और इस भौतिक काल में वह कदापि उपयोगी नहीं हो सकता।

प्रेमशङ्कर—केवल इसी कारण से अभी तक धनवानों का, जमींदारों का और शिक्षित समुदाय का प्रभुत्व जमा हुआ है। पर इसके पहले भी कई बार इस प्रभुत्व को धक्का लग चुका है। और चिह्नों से ज्ञात होता है कि निकट-भविष्य में फिर इसकी पराजय होनेवाली है। कदाचित यह हार निर्णयात्मक होगी। समाज का चक्र साम्य से आरम्भ होकर फिर साम्य पर ही समाप्त होता है। एकाधिपत्य, रईसों का प्रभुत्व और वाणिज्य-प्राबल्य, उसकी मध्यवर्ती दशाएँ हैं। वर्तमान चक्र ने मध्यवर्ती दशाओं को भोग लिया है और वह अपने अन्तिम स्थान के निकट आता-जाता है किन्तु हमारी आँखें अधिकार और प्रभुता के मद से ऐसी भरी हुई हैं कि हमें आगे-पीछे कुछ नहीं सूझता। चारों ओर से जनतावाद का घोर नाद हमारे कानों में आ रहा है, पर हम ऐसे निश्चिन्त हैं मानो वह साधारण मेघ की गरज है। हम अभी तक उन्हीं विद्याओं और कलाओं में लीन हैं जिनका आश्रय दूसरों की मेहनत है। हमारे विद्यालयों की संख्या बढ़ती जाती है, हमारे वकील खाने में पाँव रखने की जगह बाकी नहीं, गली-गली फोटो स्टुडियो खुल रहे हैं, डाक्टरों की संख्या मरीजों से भी अधिक हो गयी है, पर अब भी हमारी आँखें नहीं

खुलतीं। हम इस अस्वाभाविक जीवन, इस सभ्यता के तिलिस्म से बाहर निकलने की चेष्टा नहीं करते। हम शहरों में कारखाने खोलते फिरते हैं। इसलिए कि मजदूरों की मेहनत से मोटे हो जायँ। ३०) और ४०) सैकड़े लाभ की कल्पना करके फूले नहीं समाते, पर ऐसा कहीं देखने में नहीं आता कि किसी शिक्षित सज्जन ने कपड़ा बुनना या जमीन जोतना शुरू किया हो। यदि कोई दुर्भाग्यवश ऐसा करे भी तो उसकी हँसी उड़ायी जाती है। हम उसी को मान-प्रतिष्ठा के योग्य समझते हैं जो तकिया-गद्दी लगाये बैठा रहे, हाथ पैर न हिलाए और लेन-देन पर, सूद-बट्टे पर लाखों के वारे न्यारे करता हो....।

यही बातें हो रही थीं कि दुर्गा माली एक डाली में नारङ्गियाँ, गोभी के फूल, अमरूद, मटर की फलियाँ आदि सजाकर लाया और उसे डाक्टर साहब के सामने रख दी। उसके चेहरे पर एक प्रकार का गर्व था, मानो उसकी आत्मा जागरित हो गयी है। वह डाक्टर साहब के समीप एक मोढ़े पर बैठ गया और बोला—हजूर को कैसी कलमें चाहिए। आप बाबूजी को एक चिट पर उनके नाम लिखकर दे दीजिए। मैं कल आपके मकान पहुँचा दूँगा। आपके बाल-बच्चे तो अच्छी तरह हैं?

डाक्टर साहब ने कुछ सकुचाकर कहा—हाँ, लड़के अच्छी तरह हैं, तुम यहाँ अच्छी तरह हो?

दुर्गा—जी हाँ, आपकी दया से बहुत आराम से हूँ।

डाक्टर साहब उठकर चले। प्रेमशङ्कर उन्हें विदा करने साथ-साथ फाटक तक आये। डाक्टर साहब मोटर पर बैठे तो मुस्कुराकर प्रेमशङ्कर से बोले—मैं आपके सिद्धान्तों का कायल नहीं हुआ, पर इसमें सन्देह नहीं कि आपने एक पशु को मनुष्य बना दिया। यह आपके सत्संग का फल है। लेकिन क्षमा कीजिएगा, मैं फिर भी कहूँगा कि आप इससे होशियार रहिएगा। 'यूजेनिक्स' (प्रजनन-शास्त्र) अभी तक किसी ऐसे प्रयोग का आविष्कार नहीं कर सका है जो जन्म के संस्कारों को मिटा दे!

———

# मूठ

डाक्टर जयपाल ने प्रथम श्रेणी की सनद पायी थी; पर इसे भाग्य कहिए या व्यावसायिक सिद्धान्तों का अज्ञान कि उन्हें अपने व्यवसाय में कभी उन्नत अवस्था न मिली। उनका घर एक सँकरी गली में था; पर उनके जी में खुली जगह में घर लेने का कभी विचार-तक न उठा। औषधालय की आलमारियाँ, शीशियाँ और डाक्टरी यन्त्र आदि भी साफ-सुथरे न थे। मितव्ययता के सिद्धान्त का वह अपनी घरेलू बातों में भी बहुत ध्यान रखते थे।

लड़का जवान हो गया था, पर अभी उसकी शिक्षा का प्रश्न सामने न आया था, सोचते थे कि इतने दिनों तक पुस्तकों से सर मारकर मैंने ऐसी कौन-सी बड़ी सम्पत्ति पा ली जो उसके पढ़ाने-लिखाने में हजारों रुपये बर्बाद करूँ। उनकी पत्नी अहिल्या धैर्यवान महिला थी, पर डाक्टर साहब ने उसके इन गुणों पर इतना बोझ रख दिया था कि उसकी कमर भी झुक गयी थी। माँ भी जीवित थीं पर गंगास्नान के लिए तरस-तरसकर रह जाती थीं, दूसरे पवित्र स्थानों की यात्रा की चर्चा ही क्या! इस क्रूर मितव्ययता का परिणाम यह था कि इस घर में सुख और शान्ति का नाम न था। अगर कोई मद फुटकल थी तो वह बुढ़िया महरी जगिया थी। उसने डाक्टर साहब को गोद में खिलाया था और उसे इस घर से कुछ ऐसा प्रेम हो गया था कि सब प्रकार की कठिनाइयाँ झेलती थी पर टलने का नाम न लेती थी।

( २ )

डाक्टर साहब डाक्टरी आय की कमी को कपड़े और शक्कर के कारखानों में हिस्से लेकर पूरा करते थे। आज संयोगवश बम्बई के एक कारखाने ने इनके पास वार्षिक लाभ के साढ़े सात सौ रुपये भेजे। डाक्टर साहब ने बीमा खोला, नोट गिने, डाकिये को विदा किया, पर डाकिये के पास रुपये अधिक थे, बोझ से दबा जाता था। बोला—हजूर रुपये ले लें और मुझे नोट दे दें तो बड़ा एहसान हो, बोझ हलका हो जाय। डाक्टर साहब डाकियों को प्रसन्न रखा करते थे, उन्हें मुफ्त दवाइयाँ दे दिया करते थे, सोचा कि हाँ; मुझे बैंक जाने

के लिए ताँगा मँगाना ही पड़ेगा क्यों न बिना कौड़ी के उपकारवाले सिद्धान्त से काम लूँ। रुपये गिनकर एक थैली में रख दिये और सोच ही रहे थे कि चलूँ इन्हें बैंक में रखता आऊँ कि एक रोगी ने बुला भेजा। ऐसे अवसर यहाँ कदाचित् ही आते। यद्यपि डाक्टर साहब को बक्स पर भरोसा न था पर विवश होकर थैली बक्स में रखी और रोगी को देखने चले गये। वहाँ से लौटे तो तीन बज चुके थे, बैंक बन्द हो चुका था, आज रुपये किसी तरह जमा न हो सकते थे। प्रतिदिन की भाँति औषधालय में बैठ गये। आठ बजे रात को जब घर के भीतर जाने लगे, तो थैली को घर ले जाने के लिए बक्स से निकाला, थैली कुछ हल्की जान पड़ी, तत्काल उसे दवाइयों के तराजू पर तौला, होश उड़ गये। पूरे पाँच सौ रुपये कम थे। विश्वास न हुआ। थैली खोलकर रुपये गिने, पाँच सौ रुपये कम निकले। विक्षिप्त अधीरता के साथ बक्स के दूसरे खानों को टटोला, परन्तु व्यर्थ ! निराश होकर एक कुरसी पर बैठ गये और स्मरण-शक्ति को एकत्र करने के लिए आँखें बन्द कर लीं और सोचने लगे, मैंने रुपये कहीं अलग तो नहीं रखे, डाकिये ने रुपये कम तो नहीं दिये, मैंने गिनने में तो भूल नहीं की, मैंने पचीस-पचीस रुपये की गड्डियाँ लगाई थीं, पूरी तीस गड्डियाँ थीं, खूब याद है मैंने एक-एक गड्डी गिनकर थैली में रखी, स्मरण-शक्ति मुझे धोखा नहीं दे रही है। सब मुझे ठीक-ठीक याद है, बक्स का ताला भी बन्द कर दिया था, किन्तु ओह, अब समझ में आ गया, कुंजी मेज पर ही छोड़ दी, जल्दी के मारे उसे जेब में रखना भूल गया। वह अभी तक मेज पर पड़ी है। बस यह बात है, कुंजी जेब में डालने की याद न रही, परन्तु ले कौन गया, बाहर के दरवाजे बन्द थे। घर में मेरे रुपये-पैसे कोई छूता नहीं, आज तक कभी ऐसा अवसर नहीं आया। अवश्य यह किसी बाहरी आदमी का काम है। हो सकता है कि कोई दरवाजा खुला रह गया हो, कोई दवा लेने आया हो, कुंजी मेज पर पड़ी देखी हो और बक्स खोलकर रुपये निकाल लिये हों।

इसी से मैं रुपये नहीं लिया करता, कौन ठिकाना डाकिये की ही करतूत हो, बहुत सम्भव है, उसने मुझे बक्स में थैली रखते देखा था। ये रुपये जमा हो जाते तो मेरे पास पूरे....हजार रुपये हो जाते, ब्याज जोड़ने में सरलता होती। क्या करूँ ? पुलिस को खबर दूँ ? व्यर्थ बैठे-बिठाये उलझन मोल लेनी

है। टोले-भर के आदमियों की दरवाजे पर भीड़ होगी। दस-पाँच आदमियों को गालियाँ खानी पड़ेंगी और फल कुछ नहीं! तो क्या धीरज धरकर बैठ रहूँ? कैसे धीरज धरूँ! यह कोई सेंतमेंत मिला धन तो था नहीं, हराम की कौड़ी होती तो समझता कि जैसे आयी वैसे गयी, यहाँ एक-एक पैसा अपने पसीने का है, मैं जो इतनी मितव्ययता से रहता हूँ, इतने कष्ट सहता हूँ, कंजूस प्रसिद्ध हूँ, घर के आवश्यक व्यय में भी काट छाँट करता रहता हूँ, क्या इसी लिए कि किसी उचक्के के लिए मनोरंजन का सामान जुटाऊँ! मुझे रेशम से घृणा नहीं, न मेवे ही अरुचिकर हैं, न अजीर्ण का रोग है कि मलाई खाऊँ और अनपच हो जाय, न आँखों में दृष्टि कम है कि थियेटर और सिनेमा का आनन्द न उठा सकूँ। मैं सब ओर से अपने मन को मारे रहता हूँ। इसी लिए तो कि मेरे पास चार पैसे हो जायँ, काम पड़ने पर किसी के आगे हाथ न फैलाना पड़े। कुछ जायदाद ले सकूँ, और नहीं तो अच्छा घर ही बनवा लूँ। पर इस मन मारने का फल यह! गाढ़े परिश्रम के रुपये लुट जायँ! अन्याय है कि मैं यों दिनदहाड़े लुट जाऊँ और उस दुष्ट का बाल भी टेढ़ा न हो। उसके घर दिवाली हो रही होगी, आनन्द मानया जा रहा होगा, सब-के-सब बगलें बजा रहे होंगे।

डाक्टर साहब बदला लेने के लिए व्याकुल हो गये। मैंने कभी किसी फकीर को, किसी साधु को, दरवाजे पर खड़ा नहीं होने दिया। अनेक बार चाहने पर भी मैंने कभी मित्रों को अपने यहाँ निमंत्रित नहीं किया। कुटुम्बियों और सम्बन्धियों से सदा बचता रहा। क्या इसी लिए? उसका पता लग जाता तो मैं एक विषैली सूई से उसके जीवन कर अन्त का देता!

किन्तु कोई उपाय नहीं है। जुलाहे का गुस्सा दाढ़ी पर। गुप्त पुलिसवाले भी बस नाम ही के हैं। पता लगाने की योग्यता नहीं। इनकी सारी अक्ल राजनीतिक व्याख्यानों और झूठी रिपोर्टों के लिखने में समाप्त हो जाती है। किसी मेस्मेरिजम जाननेवाले के पास चलूँ। वह इस उलझन को सुलझा सकता है। सुनता हूँ यूरोप और अमेरिका में बहुधा चोरियों का पता इसी उपाय से लग जाता है। पर यहाँ ऐसा मेस्मेरिजम का पंडित कौन है और फिर मेस्मेरिजम के उत्तर सदा विश्वसनीय नहीं होते। ज्योतिषियों के समान वे भी अनुमान और अटकल के अनन्त-सागर में डुबकियाँ लगाने लगते हैं। कुछ लोग नाम

भी तो निकालते हैं। मैंने कभी उन कहानियों पर विश्वास नहीं किया, परन्तु कुछ-न-कुछ इसमें तत्व है अवश्य, नहीं तो इस प्रकृति-उपासना के युग में इनका अस्तित्व ही न रहता। आजकल के विद्वान भी तो आत्मिक-बल का लोहा मानते जाते हैं। पर मान लो किसी ने नाम बतला ही दिया तो मेरे हाथ में बदला चुकाने का कौन-सा उपाय है? अन्तर्ज्ञान साक्षी का काम नहीं दे सकता। एक क्षण के लिए मेरे जी को शान्ति मिल जाने के सिवाय और इसमें क्या लाभ है!

हाँ, खूब याद आया, नदी की ओर जाते हुए वह जो एक ओझा बैठता है, उसके करतब की कहानियाँ प्रायः सुनने में आती हैं। सुनता हूँ गड़े हुए धन का पता बतला देता है। रोगियों को बात-की-बात में चंगा कर देता है, चोरी के माल का पता लगा देता है, मूठ चलाता है। मूठ की बड़ी बड़ाई सुनी है। मूठ चली और चोर के मुँह से रक्त जारी हुआ। जब तक वह माल लौटा न दे रक्त बन्द नहीं होता। यह निशान बैठ जाय तो मेरी हार्दिक इच्छा पूरी हो जाय! मुँहमाँगा फल पाऊँगा! रुपये भी मिल जायँ, चोर को शिक्षा भी मिल जाय! उसके यहाँ सदा लोगों की भीड़ लगी रहती है। उसमें कुछ करतब न होता तो इतने लोग क्यों जमा होते? उसकी मुखाकृति से एक प्रतिभा बरसती है। आजकल के शिक्षित लोगों को तो इन बातों पर विश्वास नहीं है, पर नीच और मूर्खमण्डली में उसकी बहुत चर्चा है, भूत प्रेत आदि की कहानियाँ प्रतिदिन ही सुना करता हूँ। क्यों न उसी ओझे के पास चलूँ? मान लो कोई लाभ न हुआ तो हानि ही क्या हो जायगी। जहाँ पाँच सौ गये हैं, दो-चार रुपये का खून और सही। यह समय भी अच्छा है। भीड़ कम होगी, चलना चाहिए।

( ३ )

जी में यह निश्चय करके डाक्टर साहब उस ओझे के घर की ओर चले। जाड़े की रात थी, नौ बज गये थे, रास्ता लगभग बन्द हो गया था, कभी-कभी घरों से रामायण की ध्वनि कानों में आ जाती थी। कुछ देर के बाद बिलकुल सन्नाटा हो गया। रास्ते के दोनो ओर हरे-भरे खेत थे, सियारों का हुँआना सुन पड़ने लगा। जान पड़ता है, इनका दल कहीं पास ही है। डाक्टर साहब को प्रायः दूर से इनका सुरीला स्वर सुनने का सौभाग्य हुआ था। पास

से सुनने का नहीं। इस समय इस सन्नाटे में और इतने पास से उनका चीखना सुनकर उन्हें डर लगा। कई बार अपनी छड़ी धरती पर पटकी, पैर धमधमाये। सियार बड़े डरपोक होते हैं। आदमी के पास नहीं आते। पर फिर सन्देह हुआ, कहीं इनमें कोई पागल हो तो उसका काटा तो बचता ही नहीं। यह सन्देह होते ही कीटाणु, बैक्टीरिया, पास्चर-इन्स्टिट्यूट और कसौली की याद उनके मस्तिष्क में चक्कर काटने लगी। वह जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाये चले जाते थे। एकाएक जी में विचार उठा, कहीं मेरे ही घर में किसी ने रुपये उड़ा लिये हों तो! वे तत्काल ठिठक गये पर एक ही क्षण में उन्होंने इसका भी निर्णय कर लिया, क्या हर्ज है, घरवालों को तो और भी कड़ा दण्ड मिलना चाहिए। चोर की मेरे साथ सहानुभूति नहीं हो सकती, पर घरवालों की सहानुभूति का मैं अधिकारी हूँ, उन्हें जानना चाहिए कि मैं जो कुछ करता हूँ उन्हीं के लिए करता हूँ, रात-दिन मरता हूँ, तो उन्हीं के लिए मरता हूँ। यदि इस पर भी वे मुझे यों धोखा देने के लिए तैयार हों तो उनसे अधिक कृतघ्न, उनसे अधिक अकृतज्ञ, उनसे अधिक निर्दय और कौन होगा? उन्हें और भी कड़ा दण्ड मिलना चाहिए। इतना कड़ा, इतना शिक्षाप्रद कि फिर कभी किसी को ऐसा करने का साहस न हो।

अन्त में वे ओझे के घर के पास जा पहुँचे। लोगों की भीड़ न थी, उन्हें बड़ा सन्तोष हुआ। हाँ उनकी चाल कुछ धीमी पड़ गयी। फिर जी में सोचा, कहीं यह सब ढकोसला ही ढकोसला हो तो व्यर्थ लज्जित होना पड़े। जो सुने मूर्ख बनाये, कदाचित् ओझा ही मुझे तुच्छबुद्धि समझे। पर अब तो आ गया, यह तजरबा भी हो जाय। और कुछ न होगा तो जाँच ही सही। ओझा का नाम बुद्धू था, लोग चौधरी कहते थे। जाति का चमार था। छोटा-सा घर और वह भी गन्दा। छप्पर इतना नीचा था कि झुकने पर भी सिर में टक्कर लगने का डर लगता था। दरवाजे पर एक नीम का पेड़ था। उसके नीचे एक चौरा। नीम के पेड़ पर एक झण्डी लहराती थी। चौरे पर मिट्टी के सैकड़ों हाथी सिन्दूर से रँगे हुए खड़े थे। कई लोहे के नोकदार त्रिशूल भी गड़े थे जो मानो इन मन्दगति हाथियों के लिए अंकुश का काम दे रहे थे। दस बजे थे। बुद्धू चौधरी जो एक काले रंग का तोंदीला और रोबदार आदमी था, एक

फटे हुए टाट पर बैठा नारियल पी रहा था। बोतल और गिलास भी सामने रखे हुए थे।

बुद्धू ने डाक्टर साहब को देखकर तुरन्त बोतल छिपा दी और नीचे उतरकर सलाम किया। घर से एक बुढ़िया ने मोढ़ा लाकर उनके लिए रख दिया। डाक्टर साहब ने कुछ झेंपते हुए सारी घटना कह सुनाई। बुद्धू ने कहा—हजूर, यह कौन बड़ा काम है, अभी इस इतवार को दरोगाजी की घड़ी चोरी गयी थी, बहुत कुछ तहकीकात की, पता न चला। मुझे बुलाया, मैंने बात-की-बात में पता लगा दिया। पाँच रुपये इनाम दिये। कल की बात है, जमादार साहब की घोड़ी खो गयी थी। चारों तरफ दौड़ते-फिरते थे; मैंने ऐसा पता बता दिया कि घोड़ी खड़ी चरती हुई मिल गयी। इसी विद्या की बदौलत हजूर-हुक्काम सभी मानते हैं।

डाक्टर को दारोगा और जमादार की चर्चा न रुची। इन सब गँवारों की आँखों में जो कुछ है वह दारोगा और जमादार ही हैं। बोले—मैं केवल चोरी का पता लगाना नहीं चाहता, मैं चोर को सजा भी देना चाहता हूँ।

बुद्धू ने एक क्षण के लिए आँखें बन्द कीं। जमुहाइयाँ लीं, चुटकियाँ बजायीं और फिर कहा—यह घर ही के किसी आदमी का काम है।

डाक्टर—कुछ परवाह नहीं, कोई हो।

बुढ़िया—पीछे से कोई बात बने या बिगड़ेगी तो हजूर हमीं को बुरा कहेंगे।

डाक्टर—इसकी तुम कुछ चिन्ता न करो, मैंने खूब सोच लिया है। बल्कि अगर घर के किसी आदमी की शरारत है तो मैं उसके साथ और भी कड़ाई करना चाहता हूँ। बाहर का आदमी मेरे साथ छल करे तो क्षमा के योग्य है; पर घर के आदमी को मैं किसी प्रकार क्षमा नहीं कर सकता।

बुद्धू—तो हजूर क्या चाहते हैं?

डाक्टर—बस यही कि, मेरे रुपये मिल जायँ और चोर किसी बड़े कष्ट में पड़ जाय।

बुद्धू—मूठ चला दूँ।

बुढ़िया—ना बेटा, मूठ के पास न जाना। न-जाने कैसी पड़े कैसी न पड़े।

डाक्टर—तुम मूठ चला दो, इसका जो कुछ मेहनताना और इनाम हो मैं देने को तैयार हूँ।

बुढ़िया—बेटा, मैं फिर कहती हूँ, मूठ के फेर में न पड़। कोई जोखम की बात आ पड़ेगी तो यही बाबूजी फिर तेरे सिर होंगे और तेरे बनाये कुछ न बनेगी। क्या जानता नहीं, मूठ का उतार कितना कठिन है ?

बुद्धू—हाँ बाबूजी ! फिर एक बार अच्छी तरह सोच लीजिए। मूठ तो मैं चला दूँगा लेकिन उसको उतारने का जिम्मा मैं नहीं ले सकता।

डाक्टर—अजी कह तो दिया, मैं तुमसे उतारने को न कहूँगा, चलाओ भी तो।

बुद्धू ने आवश्यक सामान की एक लम्बी तालिका बनाई ! डाक्टर साहब ने सामान की अपेक्षा रुपये देना अधिक उचित समझा। बुद्धू राजी हो गया। डाक्टर साहब चलते-चलते बोले—ऐसा मन्तर चलाओ कि सबेरा होते-होते चोर मेरे सामने माल लिये हुए आ जाय।

बुद्धू ने कहा—आप निसाखातिर रहें।

( ४ )

डाक्टर साहब वहाँ से चले तो ग्यारह बजे थे। जाड़े की रात, कड़ाके की ठण्ड थी। उनकी माँ और स्त्री दोनो बैठी हुई उनकी राह देख रही थीं। जी को बहलाने के लिए बीच में एक अँगीठी रख ली थी, जिसका प्रभाव शरीर की अपेक्षा विचार पर अधिक पड़ता था। यहाँ कोयला विलास पदार्थ समझा जाता था। बुढ़िया महरी जगिया वहीं एक फटा टाट का टुकड़ा ओढ़े पड़ी थी। वह बार-बार उठकर अपनी अँधेरी कोठरी में जाती, आले पर कुछ टटोलकर देखती और फिर अपनी जगह पर आकर पड़ रहती। बार-बार पूछती, कितनी रात गयी होगी? जरा भी खटका होता तो चौंक पड़ती और चिन्तित दृष्टि से इधर उधर देखने लगती। आज डाक्टर साहब ने नियम के प्रतिकूल क्यों इतनी देर लगायी, इसका सबको आश्चर्य था। ऐसे अवसर बहुत कम आते थे कि उन्हें रोगियों को देखने के लिए रात को जाना पड़ता हो। यदि कुछ लोग उनकी डाक्टरी के कायल भी थे तो वे रात को उस गली में आने का साहस न करते थे। सभा-सोसाइटियों में जाने की उन्हें रुचि न थी। मित्रों से भी उनका मेल-

जोल न था। माँ ने कहा—जाने कहाँ चला गया, खाना बिलकुल पानी हो गया।

अहिल्या—आदमी जाता है तो कहकर जाता है। आधी रात से ऊपर हो गयी।

माँ—कोई ऐसी ही अटक हो गयी होगी नहीं तो वह कब घर से बाहर निकलता है।

अहिल्या—मैं तो अब सोने जाती हूँ, उनका जब जी चाहे आयें, कोई सारी रात बैठा पहरा देगा!

यही बातें हो रही थीं कि डाक्टर साहब घर आ पहुँचे। अहिल्या सँभल बैठी; जगिया उठकर खड़ी हो गयी और उनकी ओर सहमी हुई आँखों से ताकने लगी। माँ ने पूछा—आज कहाँ इतनी देर लगा दी?

डाक्टर—तुम लोग तो सुख से बैठी हो न! हमें देर हो गयी इसकी तुम्हें क्या चिन्ता! जाओ, सुख से सोओ, इन ऊपरी दिखावटी बातों से मैं धोखे में नहीं आता, अवसर पाओ तो गला काट लो, इस पर चली हो बात बनाने!

माँ ने दुखी होकर कहा—बेटा! ऐसी जी दुखानेवाली बातें क्यों करते हो! घर में तुम्हारा कौन बैरी है जो तुम्हारा बुरा चेतेगा?

डाक्टर—मैं किसी को अपना मित्र नहीं समझता, सभी मेरे बैरी हैं, मेरे प्राणों के गाहक हैं। नहीं तो क्या आँख ओझल होते ही मेरी मेज पर से पाँच सौ रुपये उड़ जायँ। दरवाजे बाहर से बन्द थे, कोई गैर आया नहीं, रुपये रखते ही उड़ गये। जो लोग इस प्रकार मेरा गला काटने पर उतारू हों उन्हें क्योंकर अपना समझूँ? मैंने खूब पता लगा लिया है, अभी एक ओझे के पास से चला आ रहा हूँ। उसने साफ कह दिया कि घर के ही किसी आदमी का काम है। अच्छी बात है, जैसी करनी वैसी भरनी। मैं भी बता दूँगा कि मैं अपने बैरियों का शुभचिन्तक नहीं हूँ। यदि बाहर का आदमी होता तो कदाचित् मैं जाने भी देता। पर जब घर के आदमी, जिनके लिए मैं रात-दिन चक्की पीसता हूँ, मेरे साथ ऐसा छल करें तो वे इसी योग्य हैं कि उनके साथ जरा भी रियायत न की जाय। देखना, सवेरे तक चोर की क्या दशा होती है। मैंने ओझे से मूठ चलाने को कह दिया है, मूठ चली और उधर चोर के प्राण संकट में पड़े!

जगिया घबड़ाकर बोली—भइया, मूठ में तो जान जोखम है !

डाक्टर—चोर की यही सजा है।

जगिया—किस ओझे ने चलाई है ?

डाक्टर—बुद्धू चौधरी ने।

जगिया—अरे राम, उसकी मूठ का तो उतार ही नहीं।

डाक्टर अपने कमरे में चले गये, तो माँ ने कहा—सूम का धन शैतान खाता है, पाँच सौ रुपया कोई मुँह मारकर ले गया, इतने में तो मेरे सातों धाम हो जाते !

अहिल्या बोली—कंगन के लिए बरसों से झींक रही हूँ, अच्छा हुआ, मेरी आह पड़ी है।

माँ—भला घर में उसके रुपये कौन लेगा ?

अहिल्या—किवाड़ खुले होंगे, कोई बाहरी आदमी उड़ा ले गया होगा।

माँ—उसको विश्वास क्योंकर आ गया कि घर ही के किसी आदमी ने रुपये चुराये हैं ?

अहिल्या—रुपये का लोभ आदमी को शक्की बना देता है।

( ५ )

रात को एक बजा था, डाक्टर जयपाल भयानक स्वप्न देख रहे थे। एकाएक अहिल्या ने आकर कहा—जरा चलकर देखिए, जगिया का क्या हाल हो रहा है, जान पड़ता है, जीभ ऐंठ गयी। कुछ बोलती ही नहीं, आँखें पथरा गयी हैं।

डाक्टर चौंककर उठ बैठे, एक क्षण तक इधर-उधर ताकते रहे, मानो सोच रहे थे, यह भी स्वप्न तो नहीं है, तब बोले—क्या कहा ? जगिया को क्या हो गया !

अहिल्या ने फिर जगिया का हाल कहा, डाक्टर के मुख पर हलकी-सी मुस्कराहट दौड़ गयी, बोले—चोर पकड़ गया, मूठ ने अपना काम किया।

अहिल्या—और जो घर ही के किसी आदमी ने ले लिये होते ?

डाक्टर—तो उसकी भी यही दशा होती, सदा के लिए सीख जाता।

अहिल्या—पाँच सौ रुपये के पीछे प्राण ले लेते ?

डाक्टर—पाँच सौ रुपये के लिए नहीं, आवश्यकता पड़े तो पाँच हजार

खर्च कर सकता हूँ, केवल छल-कपट का दण्ड देने के लिए।

अहिल्या—बड़े निर्दयी हो!

डाक्टर—तुम्हें सिर से पैर तक सोने से लाद दूँ तो मुझे भलाई का पुतला समझने लगो, क्यों? खेद है कि मैं तुमसे यह सनद नहीं ले सकता।

यह कहते हुए वह जगिया की कोठरी में गये। उसकी हालत उससे कहीं अधिक खराब थी जो अहिल्या ने बताई थी। मुख पर मुर्दनी छायी हुई थी, हाथ-पैर अकड़ गये थे, नाड़ी का कहीं पता न था। उनकी माँ उसे होश में लाने के लिए बार-बार उसके मुँह पर पानी के छींटे दे रही थीं। डाक्टर ने यह हालत देखी तो होश उड़ गये। उन्हें अपने उपाय की सफलता पर प्रसन्न होना चाहिए था। जगिया ने रुपये चुराये, इसके लिए अब अधिक प्रमाण की आवश्यकता न थी, परन्तु मूठ इतनी जल्दी प्रभाव डालनेवाली और घातक वस्तु है, इसका उन्हें अनुमान भी न था। वे चोर को एड़ियाँ रगड़ते, पीड़ा से कराहते और तड़पते देखना चाहते थे। बदला लेने की इच्छा आशातीत सफल हो रही थी, परन्तु वह नमक की अधिकता थी जो कौर को मुँह के भीतर धँसने नहीं देता। यह दुःखमय दृश्य देखकर प्रसन्न होने के बदले उनके हृदय पर चोट लगी। रोब में हम अपनी निर्दयता और कठोरता का भ्रममूलक अनुमान कर लिया करते हैं। प्रत्यक्ष घटना विचार से कहीं अधिक प्रभावशालिनी होती है। रणस्थल का विचार कितना कवित्वमय है। युद्धावेश का काव्य कितनी गर्मी उत्पन्न करनेवाला है। परन्तु कुचले हुए शव और कटे हुए अंग-प्रत्यंग देखकर कौन मनुष्य है जिसे रोमाञ्च न हो आये। दया मनुष्य का स्वाभाविक गुण है।

इसके अतिरिक्त इसका उन्हें अनुमान न था कि जगिया-जैसी दुर्बल आत्मा मेरे रोष पर बलिदान होगी। वह समझते थे, मेरे बदले का वार किसी सजीव मनुष्य पर होगा, यहाँ तक कि वे अपनी स्त्री और लड़के को भी इस वार के योग्य समझते थे। पर मरे को मारना, कुचले को कुचलना उन्हें अपनी प्रतिघात मर्यादा के विपरीत जान पड़ा। जगिया का यह काम क्षमा के योग्य था। जिसे रोटियों के लाले हों, कपड़ों को तरसे, जिसकी आकांक्षा का भवन सदा अन्धकारमय रहा हो, जिसकी इच्छाएँ कभी पूरी न हुई हों, उसकी नीयत

बिगड़ जाय तो आश्चर्य की बात नहीं। वे तत्काल औषधालय में गये, होश में लाने की जो अच्छी-अच्छी औषधियाँ थीं, उनको मिलाकर एक मिश्रित नयी औषधि बना लाये, जगिया के गले में उतार दी। कुछ लाभ न हुआ। तब विद्युत् यन्त्र ले आये और उसकी सहायता से जगिया को होश में लाने का यत्न करने लगे। थोड़ी ही देर में जगिया की आँखें खुल गयीं। उसने सहमी हुई दृष्टि से डाक्टर को देखा, जैसे लड़का अपने अध्यापक की छड़ी की ओर देखता है, और उखड़े हुए स्वर में बोली—हाय राम, कलेजा फुँका जाता है, अपने रुपये ले ले, आले पर एक हाँड़ी है, उसी में रखे हुए हैं। मुझे अंगारों से मत जला। मैंने तो वह रुपये तीरथ करने के लिए चुराये थे। क्या तुझे तरस नहीं आता? मुट्ठी भर रुपये के लिए मुझे आग में जला रहा है, मैं तुझे काला न समझती थी, हाय राम!

यह कहते-कहते वह फिर मूर्छित हो गयी, नाड़ी बन्द हो गयी, ओठ नीले पड़ गये, शरीर के अंगों में खिंचाव होने लगा। डाक्टर ने दीनभाव से अहिल्या की ओर देखा और बोले—मैं तो अपने सारे उपाय कर चुका, अब इसे होश में लाना मेरी सामर्थ्य के बाहर है। मैं क्या जानता था कि यह अभागी मूठ इतनी घातक होती है। कहीं इसकी जान पर बन गयी तो जीवन-भर पछताना पड़ेगा। आत्मा की ठोकरों से कभी छुटकारा न मिलेगा, क्या करूँ बुद्धि कुछ काम नहीं करती।

अहिल्या—सिविल सर्जन को बुलाओ, कदाचित् वह कोई अच्छी दवा दे दे। किसी को जान बूझकर आग में ढकेलना न चाहिए।

डाक्टर—सिविल सर्जन इससे अधिक और कुछ नहीं कर सकता जो मैं कर चुका। हर घड़ी इसकी दशा और गिरती जाती है, न-जाने हत्यारे ने कौन-सा मन्त्र चला दिया! उसकी माँ मुझे बहुत समझाती रही, पर मैंने क्रोध में उसकी बातों की जरा भी परवाह न की।

माँ—बेटा, तुम उसी को बुलाओ जिसने मन्त्र चलाया है, क्या किया जायगा। कहीं मर गयी तो हत्या सिर पर पड़ेगी। कुटुम्ब को सदा सतायेगी।

( ६ )

दो बज रहे थे; ठण्डी हवा हड्डियों में चुभी जाती थी। डाक्टर लम्बे

पाँवों बुद्धू चौधरी के घर की ओर चले जाते थे। इधर-उधर व्यर्थ आँखें दौड़ाते थे कि कोई इक्का या ताँगा मिल जाय। उन्हें मालूम होता था कि बुद्धू का घर बहुत दूर हो गया है। कई बार धोखा हुआ, कहीं रास्ता तो नहीं भूल गया। कई बार इधर आया हूँ, यह बाग तो कभी नहीं मिला, यह लेटर-बक्स भी सड़क पर कभी नहीं देखा, यह पुल तो कदापि न था, अवश्य राह भूल गया। किससे पूछूँ? वे अपनी स्मरण-शक्ति पर झुँझलाये और उसी ओर थोड़ी दूर तक दौड़े। पता नहीं, दुष्ट इस समय मिलेगा भी या नहीं, शराब में मस्त पड़ा होगा। कहीं इधर बेचारी चल न बसी हो। कई बार इधर-उधर घूम जाने का विचार हुआ पर अन्तःप्रेरणा ने सीधी राह से हटने न दिया। यहाँ तक कि बुद्धू का घर देख पड़ा। डाक्टर जयपाल की जान-में-जान आयी। बुद्धू के दरवाजे पर जाकर जोर से कुण्डी खटखटायी। भीतर से कुत्ते ने असभ्यतापूर्ण उत्तर दिया, पर किसी आदमी का शब्द न सुनाई दिया। फिर जोर-जोर से किवाड़ खटखटाये, कुत्ता और भी तेज पड़ा, बुढ़िया की नींद टूटी, बोली—यह कौन इतनी रात गये किवाड़ तोड़े डालता है?

डाक्टर—मैं हूँ, जो कुछ देर हुई तुम्हारे पास आया था।

बुढ़िया ने बोली पहचानी, समझ गयी इनके घर के किसी आदमी पर बिपद पड़ी, नहीं तो इतनी रात गये क्यों आते, पर अभी तो बुद्धू ने मूठ चलायी नहीं। उसका असर क्योंकर हुआ? समझाती थी तब न माने। खूब फँसे। उठकर कुप्पी जलायी और उसे लिये हुए बाहर निकली। डाक्टर साहब ने पूछा—बुद्धू चौधरी सो रहे हैं? जरा उन्हें जगा दो।

बुढ़िया—न बाबूजी, इस बखत मैं न जगाऊँगी, मुझे कच्चा ही खा जायगा, रात को लाट साहब भी आवें तो नहीं उठता।

डाक्टर साहब ने थोड़े शब्दों में पूरी घटना कह सुनायी और बड़ी नम्रता के साथ कहा कि बुद्धू को जगा दे। इतने में बुद्धू अपने-ही-आप बाहर निकल आया और आँखें मलता हुआ बोला—कहिए बाबूजी, क्या हुकुम है?

बुढ़िया ने चिढ़कर कहा—तेरी नींद आज कैसे खुल गयी? मैं जगाने गयी होती तो मारने उठता।

डाक्टर—मैंने सारा माजरा बुढ़िया से कह दिया है, इसी से पूछो।

बुढ़िया—कुछ नहीं, तूने मूठ चलायी थी, रुपये इनके घर की महरी ने लिये हैं, अब उसका अब-तब हो रहा है।

डाक्टर—बेचारी मर रही है, कुछ ऐसा उपाय करो कि उसके प्राण बच जायँ।

बुद्धू—यह तो आपने बुरी सुनायी, मूठ को फेरना सहज नहीं है।

बुढ़िया—बेटा, जान जोखम है, क्या तू जानता नहीं? कहीं उलटे फेरनेवाले पर ही पड़े तो जान बचना कठिन हो जाय!

डाक्टर—अब उसकी जान तुम्हारे ही बचाये बचेगी, इतना धर्म करो।

बुढ़िया—दूसरे की जान की खातिर कोई अपनी जान गढ़े में डालेगा?

डाक्टर—तुम रात-दिन यही काम करते रहते हो, तुम उसके दाँव-घात सब जानते हो। मार भी सकते हो, जिला भी सकते हो। मेरा तो इन बातों पर बिलकुल विश्वास ही न था, लेकिन तुम्हारा कमाल देखकर दंग रह गया। तुम्हारे हाथों कितने ही आदमियों का भला होता है, उस गरीब बुढ़िया पर दया करो।

बुद्धू कुछ पसीजा, पर उसकी माँ मामलेदारी में उससे कहीं अधिक चतुर थी। डरी, कहीं यह नरम होकर मामला बिगाड़ न दे। उसने बुद्धू को कुछ कहने का अवसर न दिया। बोली—यह तो सब ठीक है, पर हमारे भी बाल-बच्चे हैं! न-जाने कैसी पड़े कैसी न पड़े, वह हमारे सिर आवेगी न? आप तो अपना काम निकालकर अलग हो जायँगे? मूठ फेरना हँसी नहीं है!

बुद्धू—हाँ बाबूजी, काम बड़े जोखम का है।

डाक्टर—काम जोखम का है तो तुमसे मुफ़्त तो नहीं करवाना चाहता।

बुढ़िया—आप बहुत देंगे, सौ-पचास रुपये देंगे। इतने में हम के दिन तक खायँगे। मूठ फेरना, साँप के बिल में हाथ डालना, आग में कूदना है। भगवान की ऐसी ही निगाह हो तो जान बचती है!

डाक्टर—तो माताजी, मैं तुमसे बाहर तो नहीं होता हूँ। जो कुछ तुम्हारी मरजी हो वह कहो, मुझे तो उस गरीब की जान बचानी है। यहाँ बातों में देर हो रही है, वहाँ मालूम नहीं उसका क्या हाल होगा।

बुढ़िया—देर तो आप ही कर रहे हैं, आप बात पक्की कर दें तो यह आपके साथ चला जाय। आपकी खातिर यह जोखम अपने सिर ले रही हूँ। दूसरा होता तो झट इनकार कर जाती। आपके मुलाहजे में पड़कर जान-बूझकर जहर पी रही हूँ।

डाक्टर साहब को एक क्षण एक वर्ष जान पड़ रहा था। वह बुद्धू को उसी समय अपने साथ ले जाना चाहते थे। कहीं उसका दम निकल गया तो यह जाकर क्या बनायेगा। उस समय उनकी आँखों में रुपये का कोई मूल्य न था। केवल यही चिन्ता थी कि जगिया मौत के मुँह से निकल आये। जिस रुपये पर वह अपनी आवश्यकताएँ और घरवालों की आकांक्षाएँ निछावर करते थे उसे दया के आवेश ने बिलकुल तुच्छ बना दिया था। बोले—तुम्हीं बतलाओ, अब मैं क्या कहूँ? पर जो कुछ कहना हो झटपट कह दो।

बुढ़िया—अच्छा तो पाँच सौ रुपये दीजिए, इससे कम में न होगा।

बुद्धू ने माँ की ओर आश्चर्य से देखा, और डाक्टर साहब तो मूर्च्छित-से हो गये, निराशा से बोले—इतना मेरे बूते के बाहर है, जान पड़ता है उसके भाग्य में मरना ही बदा है।

बुढ़िया—तो जाने दीजिए, हमें अपनी जान भार थोड़े ही है? हमने तो आपके मुलाहिजे इस काम का बीड़ा उठाया था। जाओ बुद्धू सोओ।

डाक्टर—बूढ़ी माता, इतनी निर्दयता न करो। आदमी का काम आदमी से ही निकलता है।

बुद्धू—नहीं बाबूजी, मैं हर तरह से आपका काम करने को तैयार हूँ, इसने पाँच सौ कहे, आप कुछ कम कर दीजिए, हाँ जोखम का ध्यान रखिएगा।

बुढ़िया—तू जाके सोता क्यों नहीं? इन्हें रुपये प्यारे हैं तो क्या तुझे अपनी जान प्यारी नहीं है, कल को लहू थूकने लगेगा तो कुछ बनाये न बनेगी, बाल-बच्चों को किस पर छोड़ेगा? है घर में कुछ?

डाक्टर साहब ने संकोच करते हुए ढाई सौ रुपये कहे। बुद्धू राजी हो गया, मामला तय हुआ। डाक्टर साहब उसे साथ लेकर घर की ओर चले। उन्हें ऐसी आत्मिक प्रसन्नता कभी न मिली थी। हारा हुआ मुकदमा जीतकर अदालत से लौटनेवाला मुकदमेबाज भी इतना प्रसन्न न होगा। लपके चले

जाते थे। बुद्धू से बार-बार तेज चलने को कहते। घर पहुँचे तो जगिया को बिल्कुल मरने के निकट पाया। जान पड़ता था यही साँस अन्तिम साँस है। उनकी माँ और स्त्री दोनों आँसू भरे निराश बैठी थीं। बुद्धू को दोनों ने विनम्र दृष्टि से देखा, डाक्टर साहब के आँसू भी न रुक सके। जगिया की ओर झुके तो आँसू की बूँदें उसके मुरझाये हुए पीले मुँह पर टपक पड़ीं। स्थिति ने बुद्धू को सजग कर दिया। बुढ़िया की देह पर हाथ रखते हुए बोला—बाबूजी, अब मेरा किया कुछ नहीं हो सकता। यह तो दम तोड़ रही है।

डाक्टर साहब ने गिड़गिड़ाकर कहा—नहीं चौधरी, ईश्वर के नाम पर अपना मन्त्र चलाओ, इसकी जान बच गयी तो सदा के लिए मैं तुम्हारा गुलाम बना रहूँगा।

बुद्धू—आप मुझे जान-बूझकर जहर खाने को कहते हैं। मुझे मालूम न था कि मूठ के देवता इस बखत इतने गरम हैं। वह मेरे मन में बैठे कह रहे हैं, तुमने हमारा शिकार छीना तो हम तुम्हें निगल जायँगे।

डाक्टर—देवता को किसी तरह राजी कर लो।

बुद्धू—राजी करना बड़ा कठिन है, पाँच सौ रुपये दीजिए तो इसकी जान बचे। उतारे के लिए बड़े-बड़े जतन करने पड़ेंगे।

डाक्टर—पाँच सौ रुपये दे दूँ तो इसकी जान बचा दोगे?

बुद्धू—हाँ, सर्त बदकर।

डाक्टर साहब बिजली की तरह लपककर अपने कमरे में गये और पाँच सौ रुपयों की थैली लाकर बुद्धू के सामने रख दी। बुद्धू ने विजय की दृष्टि से थैली को देखा, फिर जगिया का सर अपनी गोद में रखकर उस पर हाथ फेरने लगा। कुछ बुदबुदा कर छू-छू करता जाता था। एक क्षण में उसकी सूरत डरावनी हो गयी, लपटें-सी निकलने लगीं। बार-बार अँगड़ाइयाँ लेने लगा। इसी दशा में उसने एक बेसुरा गीत गाना आरम्भ किया। पर हाथ जगिया के सर पर ही था। अन्त में कोई आध घण्टा बीतने पर जगिया ने आँखें खोल दीं, जैसे बुझते हुए दिये में तेल पड़ जाय। धीरे-धीरे उसकी अवस्था सुधरने लगी। उधर कौवे की बोल सुनाई दी, इधर जगिया एक अँगड़ाई लेकर उठ बैठी।

सात बजे थे। जगिया मीठी नींद सो रही थी; उसकी आकृति नीरोग थी, बुद्धू रुपयों की थैली लेकर अभी गया था। डाक्टर साहब की माँ ने कहा—बात-की-बात में पाँच सौ रुपये मार ले गया।

डाक्टर—यह क्यों नहीं कहतीं कि एक मुरदे को जिला गया। क्या उसके प्राण का मूल्य इतना भी नहीं है।

माँ—देखो, आले पर पाँच सौ रुपये हैं या नहीं ?

डाक्टर—नहीं, उन रुपयों को हाथ मत लगाना, उन्हें वहीं पड़े रहने दो। उसने तीरथ करने के वास्ते लिये थे, वह उसी काम में लगेंगे।

माँ—यह सब रुपये उसी के भाग के थे।

डाक्टर—उसके भाग के तो पाँच सौ ही थे, बाकी मेरे भाग के थे। उनकी बदौलत मुझे ऐसी शिक्षा मिली जो उम्र-भर न भूलेगी। तुम मुझे अब आवश्यक कामों में मुट्ठी बन्द करते हुए न पाओगी।

---

# ब्रह्म का स्वाँग

## स्त्री—

मैं वास्तव में अभागिनी हूँ, नहीं तो क्या मुझे नित्य ऐसे-ऐसे घृणित दृश्य देखने पड़ते ! शोक की बात यह है कि वे मुझे केवल देखने ही नहीं पड़ते, वरन् दुर्भाग्य ने उन्हें मेरे जीवन का मुख्य भाग बना दिया है। मैं उस सुपात्र ब्राह्मण की कन्या हूँ जिसकी व्यवस्था बड़े-बड़े गहन धार्मिक विषयों पर सर्वमान्य समझी जाती है। मुझे याद नहीं, घर पर कभी बिना स्नान और देवोपासना किये पानी की एक बूँद भी मुँह में डाली हो। मुझे एक बार कठिन ज्वर में स्नानादि के बिना दवा पीनी पड़ी; उसका मुझे महीनों खेद रहा। हमारे घर में धोबी कदम नहीं रखने पाता, चमारिनें दालान में भी नहीं पैठ सकती थीं, किन्तु यहाँ आकर मैं मानो भ्रष्टलोक में पहुँच गयी हूँ। मेरे स्वामी बड़े दयालु, बड़े चरित्रवान और बड़े सुयोग्य पुरुष हैं। उनके यह सद्गुण देखकर मेरे पिताजी उन पर मुग्ध हो

गये थे। लेकिन वे क्या जानते थे कि यहाँ लोग अघोर-पंथ के अनुयायी हैं। संध्या और उपासना तो दूर रही, कोई नियमित रूप से स्नान भी नहीं करता। बैठक में नित्य मुसलमान, क्रिस्तान सब आया-जाया करते हैं और स्वामीजी वहीं बैठे-बैठे पानी, दूध, चाय पी लेते हैं। इतना ही नहीं, वह वहीं बैठे-बैठे मिठाइयाँ भी खा लेते हैं। अभी कल की बात है, मैंने उन्हें लेमोनेड पीते देखा था। साईस जो चमार है, बेरोक-टोक घर में चला आता है। सुनती हूँ, वे अपने मुसलमान मित्रों के घर दावतें खाने भी जाते हैं। यह भ्रष्टाचार मुझसे नहीं देखा जाता। मेरा चित्त घृणा से व्यस्त हो जाता है। जब वे मुस्कुराते हुए मेरे समीप आ जाते हैं और मेरा हाथ पकड़कर अपने समीप बैठा लेते हैं तो मेरा जी चाहता है कि धरती फट जाय और मैं उसमें समा जाऊँ। हा हिन्दू जाति! तूने हम स्त्रियों को अपने पुरुषों की दासी बनाना ही क्या हमारे जीवन का परम कर्तव्य बना दिया! हमारे विचारों का, हमारे सिद्धान्तों का, यहाँ तक कि हमारे धर्म का भी कुछ मूल्य नहीं रहा।

* * *

अब मुझे धैर्य नहीं। आज मैं इस अवस्था का अन्त कर देना चाहती हूँ। मैं इस आसुरिक भ्रष्ट-जाल से निकल जाऊँगी। मैंने अपने पिता की शरण में जाने का निश्चय कर लिया है। आज यहाँ सहभोज हो रहा है, मेरे पति उसमें सम्मिलित ही नहीं, वरन् उसके मुख्य प्रेरकों में हैं। इन्हीं के उद्योग तथा प्रेरणा से यह विधर्मीय अत्याचार हो रहा है। समस्त जातियों के लोग एक साथ बैठकर भोजन कर रहे हैं। सुनती हूँ, मुसलमान भी एक ही पंक्ति में बैठे हुए हैं। आकाश क्यों नहीं गिर पड़ता! क्या भगवान धर्म की रक्षा करने के लिए अब अवतार न लेंगे? ब्राह्मण जाति जो अपने निजी बन्धुओं के सिवाय अन्य ब्राह्मणों का भी पकाया भोजन नहीं करती, वही महान् जाति इस अधोगति को पहुँच गयी कि कायस्थों, बनियों, मुसलमानों के साथ बैठकर खाने में लेशमात्र भी सङ्कोच नहीं करती, बल्कि इसे जातीय गौरव, जातीय एकता का हेतु समझती है!

पुरुष—

वह कौन शुभ घड़ी होगी कि इस देश की स्त्रियों में ज्ञान का उदय होगा और वे राष्ट्रीय संगठन में पुरुषों की सहायता करेंगी? हम कब तक ब्राह्मण-अब्रा-

ह्मण के गोरख-धन्धे में फँसे रहेंगे ? हमारी विवाह-प्रणाली कब तक गोत्र के बन्धन में जकड़ी रहेगी ? हम कब जानेंगे कि स्त्री और पुरुष के विचारों की अनुकूलता और समानता गोत्र और वर्ण से कहीं अधिक महत्व रखती है ? यदि ऐसा ज्ञात होता तो मैं वृन्दा का पति न होता और न वृन्दा मेरी पत्नी। हम दोनो के विचारों में जमीन और आसमान का अन्तर है। यद्यपि वह प्रत्यक्ष नहीं कहती, किन्तु मुझे विश्वास है कि वह मेरे विचारों को घृणा की दृष्टि से देखती है। मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि वह मुझे स्पर्श भी नहीं करना चाहती। उसका दोष नहीं, यह हमारे माता-पिता का दोष है जिन्होंने हम दोनो पर ऐसा घोर अत्याचार किया।

* * *

कल वृन्दा खुल पड़ी। मेरे कई मित्रों ने सहभोज का प्रस्ताव किया था। मैंने उनका सहर्ष समर्थन किया। कई दिन के बाद विवाह के पश्चात् अन्त को कल कुछ गिने-गिनाए सज्जनों ने सहभोज का सामान कर ही डाला। मेरे अतिरिक्त केवल चार और सज्जन ब्राह्मण थे, शेष अन्य जातियों के लोग थे। यह उदारता वृन्दा के लिए असह्य हो गयी। जब मैं भोजन करके लौटा तो वह ऐसी विकल थी मानो उसके मर्मस्थल पर आघात हुआ हो। मेरी ओर विषादपूर्ण नेत्रों से देखकर बोली—अब तो स्वर्ग का द्वार अवश्य खुल गया होगा !

यह कठोर शब्द मेरे हृदय पर तीर के समान लगे। ऐंठकर बोला—स्वर्ग और नर्क की चिन्ता में वे रहते हैं जो अपाहिज हैं, कर्तव्यहीन हैं, निर्जीव हैं। हमारा स्वर्ग और नर्क सब इसी पृथ्वी पर है। हम इस कर्मक्षेत्र में कुछ कर जाना चाहते हैं।

वृन्दा—धन्य है आपके पुरुषार्थ को, आपके सामर्थ्य को ! अब संसार में सुख और शान्ति का साम्राज्य हो जायगा। आपने संसार का उद्धार कर दिया। इससे बढ़कर उसका कल्याण क्या हो सकता है ?

मैंने झुँझलाकर कहा—जब तुम्हें इन विषयों के समझने की ईश्वर ने बुद्धि ही नहीं दी, तो क्या समझाऊँ। इस पारस्परिक भेद-भाव से हमारे राष्ट्र की जो हानि हो रही है, उसे मोटी-से-मोटी बुद्धि का मनुष्य भी समझ सकता है। इस भेद का मिटाने से देश का कितना कल्याण होता है, इसमें किसी को सन्देह

नहीं। हाँ जो जानकर भी अनजान बने, उसकी बात दूसरी है।

वृन्दा—बिना एक साथ भोजन किये परस्पर प्रेम उत्पन्न नहीं हो सकता ?

मैंने इस विवाद में पड़ना अनुपयुक्त समझा। किसी ऐसी नीति की शरण लेनी आवश्यक जान पड़ी, जिसमें विवाद का स्थान ही न हो। वृन्दा की धर्म पर बड़ी श्रद्धा है, मैंने उसी के शस्त्र से उसे पराजित करना निश्चय किया। बड़े गम्भीर भाव से बोला—यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। किन्तु सोचो, यह कितना घोर अन्याय है कि हम सब एक ही पिता की सन्तान होते हुए, एक दूसरे से घृणा करें, ऊँच-नीच की व्यवस्था में मग्न रहें। यह सारा जगत् उसी परम पिता का विराट रूप है। प्रत्येक जीव में उसी परमात्मा की ज्योति आलोकित हो रही है। केवल इसी भौतिक परदे ने हमें एक-दूसरे से पृथक् कर दिया है। यथार्थ में हम सब एक हैं। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश अलग-अलग घरों में जाकर भिन्न नहीं हो जाता, उसी प्रकार ईश्वर की महान् आत्मा पृथक्-पृथक् जीवों में प्रविष्ट होकर विभिन्न नहीं होती....।

मेरी इस ज्ञान-वर्षा ने वृन्दा के शुष्क हृदय को तृप्त कर दिया। वह तन्मय होकर मेरी बातें सुनती रही। जब मैं चुप हुआ तो उसने मुझे भक्ति-भाव से देखा और रोने लगी।

### स्त्री—

स्वामी के ज्ञानोपदेश ने मुझे सजग कर दिया, मैं अँधेरे कुएँ में पड़ी थी। इस उपदेश ने मुझे उठाकर एक पर्वत के ज्योतिर्मय शिखर पर बिठा दिया। मैंने अपनी कुलीनता से, झूठे अभिमान से अपने वर्ण की पवित्रता के गर्व में कितनी आत्माओं का निरादर किया! परमपिता, तुम मुझे क्षमा करो। मैंने अपने पूज्यपाद पति से इस अज्ञान के कारण जो अश्रद्धा प्रकट की है, जो कठोर शब्द कहे हैं, उन्हें क्षमा करना!

जब से मैंने वह अमृत-वाणी सुनी है, मेरा हृदय अति कोमल हो गया है, नाना प्रकार की सद्कल्पनाएँ चित्त में उठती रहती हैं। कल धोबिन कपड़े लेकर आयी थी। उसके सिर में बड़ा दर्द था। पहले मैं उसे इस दशा में देखकर कदाचित् मौखिक समवेदना प्रगट करती, अथवा महरी से उसे थोड़ा तेल दिलवा देती, पर कल मेरा चित्त विकल हो गया। मुझे प्रतीत हुआ, मानो वह मेरी

बहिन है। मैंने उसे अपने पास बैठा लिया और घण्टे-भर तक उसके सिर में तेल मलती रही। उस समय मुझे जो स्वर्गीय आनन्द हो रहा था वह अकथनीय है। मेरा अन्तःकरण किसी प्रबल शक्ति के वशीभूत होकर उसकी ओर खिंचा चला जाता था। मेरी ननद ने आकर मेरे इस व्यवहार पर कुछ नाक-भौं चढ़ाई, पर मैंने लेशमात्र भी परवाह न की। आज प्रातःकाल कड़ाके की सर्दी थी। हाथ-पाँव गले जाते थे। महरी काम करने आयी तो खड़ी काँप रही थी। मैं लिहाफ ओढ़े अँगीठी के सामने बैठी हुई थी। तिस पर भी मुँह बाहर निकालते न बनता था। महरी की सूरत देखकर मुझे अत्यन्त दुःख हुआ। मुझे अपनी स्वार्थवृत्ति पर लज्जा आयी। इसके और मेरे बीच में क्या भेद है? इसकी आत्मा में उसी प्रकार की ज्योति है। यह अन्याय क्यों? क्या इसी लिए कि मैं संयोग से एक धनवान पति की स्त्री हूँ। क्या इसी लिए कि माया ने हममें भेद कर दिया है? मुझे कुछ और सोचने का साहस नहीं हुआ। मैं उठी और अपनी ऊनी चादर लाकर महरी को उढ़ा दी और उसे हाथ पकड़कर अँगीठी के पास बिठा लिया। इसके उपरान्त मैंने अपना लिहाफ रख दिया और उसके साथ बैठकर बर्तन धोने लगी। वह सरलहृदय मुझे वहाँ से बार-बार हटाना चाहती थी। मेरी ननद ने आकर मुझे कौतूहल से देखा और इस प्रकार मुँह बनाकर चली गयी, मानो मैं क्रीड़ा कर रही हूँ। सारे घर में हलचल पड़ गयी और इस जरा-सी बात पर! हमारी आँखों पर कितने मोटे परदे पड़ गये हैं! हम परमात्मा का कितना अपमान कर रहे हैं!

पुरुष—

कदाचित् मध्यम-पथ पर रहना नारी-प्रकृति ही में नहीं है। वह केवल सीमाओं पर ही रह सकती है। वृन्दा कहाँ तो अपनी कुलीनता और अपनी कुल-मर्यादा पर जान देती थी, कहाँ अब साम्य और सहृदयता की मूर्ति बनी हुई है। मेरे उस सामान्य उपदेश का यह चमत्कार है! अब मैं भी अपनी प्रेरक-शक्तियों पर गर्व कर सकता हूँ। मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है कि वह नीच जाति की स्त्रियों के साथ बैठे, हँसे और बोले, उन्हें कुछ पढ़कर सुनाये, लेकिन उनके पीछे अपने को बिलकुल भूल जाना मैं कदापि पसन्द नहीं कर सकता। तीन दिन हुए, मेरे पास एक चमार अपने जमींदार पर नालिश करने आया

था। निस्सन्देह जमींदार ने उसके साथ ज्यादती की थी, लेकिन वकीलों का काम मुफ्त में मुकदमे दायर करना नहीं। फिर एक चमार के पीछे एक बड़े जमींदार से बैर करूँ! ऐसे तो वकालत कर चुका! उसके रोने की भनक वृन्दा के कान में भी पड़ गयी। बस वह मेरे पीछे पड़ गयी कि उस मुकदमे को जरूर ले लो। मुझसे तर्क-वितर्क करने पर उद्यत हो गयी! मैंने बहाना करके उसे किसी प्रकार टालना चाहा, लेकिन उसने मुझसे वकालतनामे पर हस्ताक्षर कराकर तब पिंड छोड़ा। उसका परिणाम यह हुआ कि पिछले तीन दिन मेरे यहाँ मुफ्त-खोर मुवक्किलों का ताँता लगा रहा और मुझे कई बार वृन्दा से कठोर शब्दों में बातें करनी पड़ीं। इसी से प्राचीन काल के व्यवस्थाकारों ने स्त्रियों को धार्मिक उपदेशों का पात्र नहीं समझा था। इनकी समझ में यह नहीं आता कि प्रत्येक सिद्धान्त का व्यावहारिक रूप कुछ और ही होता है। हम सभी जानते हैं कि ईश्वर न्यायशील है, किन्तु न्याय के पीछे अपनी परिस्थिति को कौन भूलता है? आत्मा की व्यापकता को यदि व्यवहार में लाया जाय तो आज संसार में साम्य का राज्य हो जाय, किन्तु उसी भाँति साम्य जैसे दर्शन का एक सिद्धांत ही रहा है और रहेगा, वैसे ही राजनीति भी एक अलभ्य वस्तु है और रहेगी। हम इन दोनों सिद्धान्तों की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा करेंगे, उन पर तर्क करेंगे, अपने पक्ष को सिद्ध करने में उनसे सहायता लेंगे, किन्तु उनका उपयोग करना असम्भव है। मुझे नहीं मालूम था कि वृन्दा इतनी मोटी-सी बात भी न समझेगी।

* * *

वृन्दा की बुद्धि दिनोंदिन उलटी ही होती जाती है। आज रसोई में सब के लिए एक ही प्रकार के भोजन बने। अब तक घरवालों के लिए महीन चावल पकते थे, तरकारियाँ घी में बनती थीं, दूध-मक्खन आदि दिया जाता था। नौकरों के लिए मोटा चावल, मटर की दाल और तेल की भाजियाँ बनती थीं। बड़े-बड़े रईसों के यहाँ भी यही प्रथा चली आती है। हमारे नौकरों ने कभी इस विषय में शिकायत नहीं की। किन्तु आज देखता हूँ, वृन्दा ने सब के लिए एक ही भोजन बनवाया है। मैं कुछ बोल न सका, भौंचक्का-सा हो गया। वृन्दा सोचती होगी कि भोजन में भेद करना नौकरों पर अन्याय है। कैसा बच्चों का-सा विचार है! नासमझ! यह भेद सदा रहा है और रहेगा। मैं भी राष्ट्रीय

ऐक्य का अनुरागी हूँ। समस्त शिक्षित-समुदाय राष्ट्रीयता पर जान देता है। किन्तु कोई स्वप्न में भी कल्पना नहीं करता कि हम मजदूरों या सेवा-वृत्तिधारियों को समता का स्थान देंगे। हम उनमें शिक्षा का प्रचार करना चाहते हैं। उनको दीनावस्था से उठाना चाहते हैं। यह हवा संसार-भर में फैली हुई है, पर इसका मर्म क्या है यह दिल में सभी समझते हैं, चाहे कोई खोलकर न कहे। इसका अभिप्राय यही है कि हमारा राजनैतिक महत्व बढ़े, हमारा प्रभुत्व उदय हो, हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव अधिक हो, हमें यह कहने का अधिकार हो जाय कि हमारी ध्वनि केवल मुट्ठी-भर शिक्षित-वर्ग ही की नहीं वरन् समस्त जाति की संयुक्त ध्वनि है, पर वृन्दा को यह रहस्य कौन समझाये ?

स्त्री—

कल मेरे पति महाशय खुल पड़े। इसलिए मेरा चित्त खिन्न है। प्रभो ! संसार में इतना दिखावा, इतनो स्वार्थान्धता है, हम इतने दीन-घातक हैं! उनका उपदेश सुनकर मैं उन्हें देव-तुल्य समझने लगी थी, आज मुझे ज्ञात हो गया कि जो लोग एक साथ दो नावों पर बैठना जानते हैं, वे ही जाति के हितैषी कहलाते हैं।

कल मेरी ननद की बिदाई थी। वह ससुराल जा रही थी। बिरादरी की कितनी ही महिलाएँ निमन्त्रित थीं। वे उत्तम-उत्तम वस्त्राभूषण पहने कालीनों पर बैठी हुई थीं। मैं उनका स्वागत कर रही थी। निदान मुझे द्वार के निकट कई स्त्रियाँ भूमि पर बैठी हुई दिखायी दीं, जहाँ इन महिलाओं की जूतियाँ और स्लीपरें रखी हुई थीं। वे बेचारी भी बिदाई देखने आयी थीं। मुझे उनका वहाँ बैठना अनुचित जान पड़ा। मैंने उन्हें भी लाकर कालीन पर बैठा दिया। इस पर महिलाओं में मटकियाँ होने लगीं और थोड़ी देर में वे किसी-न-किसी बहाने से एक-एक करके चली गयीं। मेरे पति महाशय से किसी ने यह समाचार कह दिया। वे बाहर से क्रोध में भरे हुए आये और आँखें लाल करके बोले—यह तुम्हें क्या सूझी है, क्या हमारे मुँह में कालिख लगवाना चाहती हो! तुम्हें ईश्वर ने इतनी भी बुद्धि नहीं दी कि किसके साथ बैठना चाहिए ? भले घर की महिलाओं के साथ नीच स्त्रियों को बैठा दिया! वे अपने मन में क्या कहती होंगी ? तुमने मुझे कहीं मुँह दिखाने लायक नहीं रखा। छिः ! छिः ! !

मैंने सरल भाव से कहा—तो इससे महिलाओं का क्या अपमान हुआ ? आत्मा तो सबकी एक है। आभूषणों से आत्मा तो ऊँची नहीं हो जाती !

पति महाशय ने होंठ चबाकर कहा—चुप भी रहो, बेसुरा राग अलाप रही हो। बस, वही मुर्गी की एक टाँग, आत्मा एक है, परमात्मा एक है ! न कुछ जानो, न बूझो, सारे शहर में नक्कू बना दिया, उस पर और बोलने को मरती हो। उन महिलाओं की आत्मा को कितना दुःख हुआ, कुछ इस पर भी ध्यान दिया ?

मैं विस्मित होकर उनका मुँह देखने लगी।

* * *

आज प्रातःकाल उठी, तो मैंने एक विचित्र दृश्य देखा। रात मेहमानों की जूठी पत्तल, सकोरे, दोने आदि बाहर मैदान में फेंक दिये गये थे। पचासों मनुष्य उन पत्तलों पर घिरे हुए उन्हें चाट रहे थे। हाँ मनुष्य थे, वही मनुष्य जो परमात्मा के निज स्वरूप हैं। कितने ही कुत्ते भी पत्तलों पर झपट रहे थे, पर वे कङ्गले कुत्तों को मार-मारकर भगा देते थे। उनकी दशा कुत्तों से भी गयी-बीती थी। यह कौतुक देखकर मुझे रोमाञ्च होने लगा, मेरी आँखों से अश्रुधारा बहने लगी। भगवान् ! ये भी हमारे भाई-बहन हैं, हमारी आत्माएँ हैं ! उनकी ऐसी शोचनीय, दीन दशा! मैंने तत्क्षण महरी को भेजकर उन मनुष्यों को बुलवाया और जितनी पूरियाँ-मिठाइयाँ मेहमानों के लिए रखी हुई थीं, सब पत्तलों में रखकर उन्हें दे दीं। महरी थर-थर काँप रही थी, सरकार सुनेंगे तो मेरे सिर का एक बाल भी न छोड़ेंगे। लेकिन मैंने उसे ढाढ़स दिया, तब उसकी जान-में-जान आयी।

अभी ये बेचारे कंगले मिठाइयाँ खा ही रहे थे कि पति महाशय मुँह लाल किये हुए आये और अत्यन्त कठोर स्वर में बोले—तुमने भंग तो नहीं खा ली? जब देखो, एक न एक उपद्रव खड़ा कर देती हो। मेरी समझ में नहीं आता कि तुम्हें क्या हो गया है। ये मिठाइयाँ डोमड़ों के लिए नहीं बनायी गयी थीं। इनमें घी, शक्कर, मैदा लगा था, जो आजकल मोतियों के तौल बिक रहा है। हलवाइयों को दूध के धोये रुपये मजदूरी के दिये गये थे। तुम ने उठाकर डोमड़ों को खिला दीं। अब मेहमानों को क्या खिलाया जायगा ? तुमने मेरी इज्जत

बिगाड़ने का प्रण कर लिया है क्या ?

मैंने गम्भीर भाव से कहा—आप व्यर्थ इतने क्रुद्ध होते हैं। आपकी जितनी मिठाइयाँ मैंने खिला दी है वह मैं मँगवा दूँगी। मुझसे यह नहीं देखा जाता कि कोई आदमी तो मिठाइयाँ खाय और कोई पत्तलें चाटे! डोमड़े भी तो मनुष्य ही हैं। उनके जीवन में भी तो उसी....।

स्वामी ने बात काटकर कहा—रहने भी दो, मेरी-तुम्हारी आत्मा! बस तुम्हारी ही रक्षा से आत्मा की रक्षा होगी! यदि ईश्वर की इच्छा होती कि प्राणि-मात्र को समान सुख प्राप्त हो तो उसे सबको एक दशा में रखने से किसने रोका था? वह ऊँच-नीच का भेद होने ही क्यों देता है? जब उसकी आज्ञा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता, तो इतनी महान् सामाजिक व्यवस्था उसकी आज्ञा के बिना क्योंकर भंग हो सकती है? जब वह स्वयं सर्वव्यापी है तो वह अपने ही को ऐसे-ऐसे घृणोत्पादक अवस्थाओं में क्यों रखता है? जब तुम इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं दे सकतीं तो उचित है कि वर्तमान रीतियों के अनुसार चलो। इन बे-सिरपैर की बातों से हँसी और निन्दा के सिवाय और कुछ लाभ नहीं।

मेरे चित्त की क्या दशा हुई, वर्णन नहीं कर सकती। मैं अवाक् रह गयी। हा स्वार्थ! हा मायान्धकार! हम ब्रह्म का भी स्वाँग बनाते हैं।

उसी क्षण से पतिश्रद्धा और पतिभक्ति का भाव मेरे हृदय से लुप्त हो गया!

यह घर मुझे अब कारागार लगता है। किन्तु मैं निराश नहीं हूँ। मुझे विश्वास है कि जल्दी या देर में ब्रह्म-ज्योति यहाँ अवश्य चमकेगी और वह इस अन्धकार को नष्ट कर देगी!

---

# सुहाग की साड़ी

यह कहना भूल है कि दाम्पत्य-सुख के लिए स्त्री-पुरुष के स्वभाव में मेल होना आवश्यक है। श्रीमती गौरा और श्रीमान् कुँवर रतनसिंह में कोई बात न मिलती थी। गौरा उदार थी, रतनसिंह कौड़ी-कौड़ी को दाँतों से पकड़ते थे।

वह हँसमुख थी, रतनसिंह चिन्ताशील थे। वह कुल-मर्यादा पर जान देती थी, रतनसिंह इसे आडम्बर समझते थे। उनके सामाजिक व्यवहार और विचार में भी घोर अन्तर था। यहाँ उदारता की बाजी रतनसिंह के हाथ थी। गौरा को सहभोज से आपत्ति थी, विधवा-विवाह से घृणा और अछूतों के प्रश्न से विरोध। रतनसिंह इन सभी व्यवस्थाओं के अनुमोदक थे। राजनीतिक विषयों में यह विभिन्नता और भी जटिल थी। गौरा वर्तमान स्थिति को अटल, अमर, अपरिहार्य समझती थी, इसलिए वह नरम-गरम, कांग्रेस, स्वराज्य, होमरूल सभी से विरक्त थी। कहती—'ये मुट्ठी-भर पढ़े-लिखे आदमी क्या बना लेंगे, चने कहीं भाड़ फोड़ सकते हैं?' रतनसिंह पक्के आशावादी थे, राजनीतिक-सभा की पहली पंक्तियों में बैठनेवाले, कर्मक्षेत्र में सबसे पहले कदम उठानेवाले, स्वदेश-व्रतधारी और बहिष्कार के पूरे अनुयायी। इतनी विषमताओं पर भी उनका दाम्पत्य-जीवन सुखमय था। कभी-कभी उनमें मतभेद अवश्य हो जाता था, पर वे समीर के वे झोंके थे जो स्थिर जल को हल्की-हल्की लहरों से आभूषित कर देते हैं; वे प्रचण्ड झोंके नहीं जिनसे सागर विप्लव-क्षेत्र बन जाता है। थोड़ी-सी सहृदयता, थोड़ा-सा लिहाज, थोड़ी-सी सहानुभूति, थोड़ी-सी सदिच्छा सारी विषमताओं और मतभेदों का प्रतिकार कर देती थी।

( २ )

विदेशी कपड़ों की होलियाँ जलायी जा रही थीं। स्वयंसेवकों के जत्थे भिखारियों की भाँति द्वारों पर खड़े हो-होकर विलायती कपड़ों की भिक्षा माँगते थे और ऐसा किंचित् ही कोई द्वार था जहाँ उन्हें निराश होना पड़ता हो। खद्दर और गाढ़े के दिन फिर गये थे। नयनसुख नयनदुख, मलमल मनमल और तनजेब तनबेध हो गये थे। रतनसिंह ने आकर गौरा से कहा—लाओ अब सब विदेशी कपड़े सन्दूक से निकाल दो, दे दूँ।

गौरा—अरे तो इसी घड़ी कोई साइत निकली जाती है, फिर कभी दे देना।

रतन—वाह, लोग द्वार पर खड़े कोलाहल मचा रहे हैं और तुम कहती हो फिर कभी दे देना!

गौरा—तो यह कुञ्जी लो, निकालकर दे दो। मगर यह सब है लड़कों का

खेल। घर फूँकने से स्वराज्य न कभी मिला है और न मिलेगा।

रतन—मैंने कल ही तो इस विषय पर तुम से घण्टों सिर-पच्ची की थी और उस समय तुम मुझसे सहमत भी हो गयी थीं, आज तुम फिर वही शंकाएँ करने लगीं ?

गौरा—मैं तुम्हारे अप्रसन्न हो जाने के डर से चुप हो गयी थी।

रतन—अच्छा, शंकाएँ फिर कर लेना, इस समय जो करना है वह करो।

गौरा—लेकिन मेरे कपड़े तो न लोगे न ?

रतन—सब देने पड़ेंगे, विलायत का एक सूत भी घर में रखना मेरे व्रत को भंग कर देगा।

इतने में रामटहल साईस ने बाहर से पुकारा—सरकार, लोग जल्दी मचा रहे हैं, कहते हैं अभी कई मुहल्लों का चक्कर लगाना है। कोई गाढ़े का टुकड़ा हो तो मुझे भी मिल जाय, मैंने भी अपने कपड़े दे दिये।

केसर महरी कपड़ों की एक गठरी लेकर बाहर जाती हुई दिखाई दी। रतनसिंह ने पूछा—क्या तुम भी अपने कपड़े देने जाती हो ?

केसर ने लजाते हुए कहा—हाँ सरकार, जब देश छोड़ रहा है तो मैं कैसे पहनूँ ?

रतनसिंह ने गौरा की ओर आदेशपूर्ण नेत्रों से देखा। अब वह विलम्ब न कर सकी। लज्जा से सिर झुकाये सन्दूक खोलकर कपड़े निकालने लगी। एक सन्दूक खाली हो गया तो उसने दूसरा सन्दूक खोला। सबसे ऊपर एक सुन्दर रेशमी सूट रखा हुआ था जो कुँवर साहब ने किसी अङ्गरेजी कारखाने में सिलाया था। गौरा ने पूछा—क्या सूट भी निकाल दूँ।

रतन—हाँ, हाँ, इसे किस दिन के लिए रखोगी ?

गौरा—यदि मैं यह जानती कि इतनी जल्दी हवा बदलेगी तो कभी यह सूट न बनवाने देती, सारे रुपये खून हो गये।

रतनसिंह ने कुछ उत्तर न दिया। तब गौरा ने अपना सन्दूक खोला और जलन के मारे स्वदेशी-विदेशी सभी कपड़े निकाल-निकालकर फेंकने लगी। वह आवेश-प्रवाह में आ गयी। उनमें कितनी ही बहुमूल्य फैंसी जाकेट और साड़ियाँ थीं जिन्हें किसी समय पहनकर वह फूली न समाती थी। बाज-बाज

साड़ियों के लिए तो उसे रतनसिंह से बार-बार तकाजे करने पड़े थे। पर इस समय सब-की-सब आँखों में खटक रही थीं। रतनसिंह उसके भावों को ताड़ रहे थे। स्वदेशी कपड़ों का निकाला जाना उन्हें अखर रहा था, पर इस समय चुप रहने ही में कुशल समझते थे। तिस पर भी दो-एक बार वाद-विवाद की नौबत आ ही गयी। एक बनारसी साड़ी के लिए तो वह झगड़ बैठे। उसे गौरा के हाथों से छीन लेना चाहा, पर गौरा ने एक न मानी, निकाल ही फेंका। सहसा सन्दूक में से एक केसरिया रंग की तनजेब की साड़ी निकल आयी जिस पर पक्के आँचल और पल्ले टँके हुए थे। गौरा ने उसे जल्दी से लेकर अपनी गोद में छिपा लिया।

रतनसिंह ने पूछा—यह कैसी साड़ी है?

गौरा—कुछ नहीं, तनजेब की साड़ी है। आँचल पक्का है।

रतन—तनजेब की है तब तो जरूर ही विलायती होगी, उसे अलग क्यों रख लिया? क्या वह बनारसी साड़ियों से अच्छी है?

गौरा—अच्छी तो नहीं है पर मैं इसे न दूँगी।

रतन—वाह, इस विलायती चीज को मैं न रखने दूँगा। लाओ इधर।

गौरा—नहीं, मेरी खातिर से इसे रहने दो।

रतन—तुमने मेरी खातिर से एक भी चीज नहीं रखी, मैं क्यों तुम्हारी खातिर करूँ?

गौरा—पैरों पड़ती हूँ, जिद्द न करो।

रतन—स्वदेशी साड़ियों में से जो चाहो रख लो, लेकिन इस विलायती चीज को मैं न रखने दूँगा। इसी कपड़े की बदौलत हम गुलाम बने, यह गुलामी का दाग मैं अब नहीं रख सकता। लाओ इधर।

गौरा—मैं इसे न दूँगी, एक बार नहीं हजार बार कहती हूँ कि न दूँगी।

रतन—मैं इसे लेकर छोड़ूँगा, इस गुलामी के पटके को, इस दासत्व के बन्धन को किसी तरह न रखूँगा।

गौरा—नाहक जिद करते हो।

रतन—आखिर तुमको इससे क्यों इतना प्रेम है?

गौरा—तुम तो बाल की खाल निकालने लगते हो। इतने कपड़े थोड़े

हैं ! एक साड़ी रख ही ली तो क्या ?

रतन—तुमने अभी तक इन होलियों का आशय ही नहीं समझा ।

गौरा—खूब समझती हूँ । सब ढोंग है । चार दिन में जोश ठण्डा पड़ जायगा ।

रतन—तुम केवल इतना बतला दो कि यह साड़ी तुम्हें क्यों इतनी प्यारी है, तो शायद मैं मान जाऊँ ।

गौरा—यह मेरी सुहाग की साड़ी है ।

रतन—(जरा देर सोचकर) तब तो मैं इसे कभी न रखूँगा । मैं विदेशी वस्त्र को यह शुभस्थान नहीं दे सकता । इस पवित्र संस्कार का यह अपवित्र स्मृति-चिह्न घर में नहीं रख सकता । मैं इसे सबसे पहले होली की भेंट करूँगा । लोग कितने हतबुद्धि हो गये थे कि ऐसे शुभ कार्यों में भी विदेशी वस्तुओं का व्यवहार करने में सङ्कोच न करते थे । मैं इसे अवश्य होली में दूँगा ।

गौरा—कैसा अशकुन मुँह से निकालते हो ।

रतन—ऐसी सुहाग की साड़ी का घर में रखना ही अशकुन, अमङ्गल, अनिष्ट और अनर्थ है ।

गौरा—यों चाहे जबरदस्ती छीन ले जाओ पर खुशी से न दूँगी ।

रतन—तो फिर मैं जबरदस्ती ही करूँगा । मजबूरी है ।

यह कहकर वह लपके कि गौरा के हाथों से साड़ी छीन लूँ ।

गौरा ने मजबूती से पकड़ लिया और रतन की ओर कातर नेत्रों से देखकर कहा—तुम्हें मेरे सिर की कसम ।

केसर महरी बोली—बहूजी की इच्छा है तो रहने दीजिए ।

रतनसिंह के बढ़े हुए हाथ रुक गये, मुख मलिन हो गया । उदास होकर बोले—मुझे अपना व्रत तोड़ना पड़ेगा । प्रतिज्ञा-पत्र पर झूठे हस्ताक्षर करने पड़ेंगे । खैर यही सही ।

( ३ )

शाम हो गयी थी । द्वार पर स्वयंसेवकगण शोर मचा रहे थे, कुँवर साहब जल्दी आइए, श्रीमतीजी से भी कह दीजिये हमारी प्रार्थना स्वीकार करें । बहुत देर हो रही है । उधर रतनसिंह असमंजस में पड़े हुए थे कि प्रतिज्ञापत्र पर कैसे

हस्ताक्षर करूँ। विदेशी वस्त्र घर में रखकर स्वदेशी व्रत का पालन क्योंकर होगा ? आगे कदम बढ़ा चुका हूँ, पीछे नहीं हटा सकता। लेकिन प्रतिज्ञा का अक्षरशः पालन करना अभीष्ट भी तो नहीं, केवल उसके आशय पर लक्ष्य रहना चाहिए। इस विचार से मुझे प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करने का पूरा अधिकार है। त्रिया-हठ के सामने किसी की नहीं चलती। यों चाहूँ तो एक ताने में काम निकल सकता है, पर उसे बहुत दुःख होगा। बड़ी भावुक है, उसके भावों का आदर करना मेरा कर्त्तव्य है।

गौरा भी चिन्ता में डूबी हुई थी। सुहाग की साड़ी सुहाग का चिह्न है, उसे आग....कितने अशकुन की बात है। ये कभी-कभी बालकों की भाँति जिद करने लगते हैं, अपनी धुन में किसी की सुनते ही नहीं। बिगड़ते हैं तो मानो मुँह ही नहीं सीधा होता।

लेकिन वे बेचारे भी तो अपने सिद्धान्तों से मजबूर हैं। झूठ से उन्हें घृणा है। प्रतिज्ञा-पत्र पर झूठी स्वीकृति लिखनी पड़ेगी, उनकी आत्मा को बड़ा दुःख होगा, घोर धर्म-संकट में पड़े होंगे, यह भी तो नहीं हो सकता कि सारे शहर में स्वदेशानुरागियों के शिरमौर बनकर उस प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करने में आनाकानी करें। कहीं मुँह दिखाने को जगह न रहेगी। लोग समझेंगे बना हुआ है। पर शकुन की चीज कैसे दूँ !

इतने में रामटहल साईस को सिर पर कपड़ों का गट्ठर लिये बाहर जाते देखा। केसर महरी भी एक गट्ठर सिर पर रखे हुए थी। पीछे-पीछे रतनसिंह हाथ में प्रतिज्ञा-पत्र लिये जा रहे थे। उनके चेहरे पर ग्लानि की झलक थी। जैसे कोई सच्चा आदमी झूठी गवाही देने जा रहा हो। गौरा को देखकर उन्होंने आँखें फेर लीं और चाहा कि उसकी निगाह बचाकर निकल जाऊँ। गौरा को ऐसा जान पड़ा कि उनकी आँखें डबडबाई हुई हैं। वह राह रोककर बोली—जरा सुनते जाओ।

रतन—जाने दो, दिक न करो, लोग बाहर खड़े हैं।

उन्होंने चाहा कि पत्र को छिपा लूँ पर गौरा ने उसे उनके हाथ से छीन लिया; उसे गौर से पढ़ा और एक क्षण चिन्ता-मग्न रहने के बाद बोली—वह साड़ी भी लेते जाओ।

रतन—रहने दो, अब तो मैंने झूठ लिख ही दिया।

गौरा—मैं क्या जानती थी तुम ऐसी कड़ी प्रतिज्ञा कर रहे हो।

रतन—यह तो मैं तुमसे पहले ही कह चुका था।

गौरा—मेरी भूल थी, क्षमा कर दो और इसे लेते जाओ।

रतन—जब तुम इसे देना अशकुन समझती हो तो रहने दो, तुम्हारी खातिर थोड़ा-सा झूठ बोलने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

गौरा—नहीं, लेते जाओ। अमङ्गल के भय से तुम्हारी आत्मा का हनन नहीं करना चाहती।

यह कहकर उसने अपनी सुहाग की साड़ी उठाकर पति के हाथों में रख दी। रतन ने देखा, गौरा के चेहरे पर एक रंग आता है एक रंग जाता है; जैसे कोई रोगी अन्तरस्थ विषम वेदना को दबाने की चेष्टा कर रहा हो। उन्हें अपनी अहृदयता पर लज्जा आयी। हा! केवल अपने सिद्धान्त की रक्षा के लिए अपनी आत्मा के सम्मान के लिए, मैं इस देवी के भावों का वध कर रहा हूँ! यह अत्याचार है। साड़ी गौरा को देकर बोले—तुम इसे रख लो, मैं प्रतिज्ञा-पत्र को फाड़ डालता हूँ।

गौरा ने दृढ़ता से कहा—तुम न ले जाओगे तो मैं खुद जाकर दे आऊँगी।

रतनसिंह विवश हो गये। साड़ी ली और बाहर चले आये।

( ४ )

उसी दिन से गौरा के हृदय पर एक बोझा-सा रहने लगा। वह दिल बहलाने के लिए नाना उपाय करती, जलसों में भाग लेती, सैर करने जाती, मनोरञ्जक पुस्तकें पढ़ती, यहाँ तक कि कई बार नियम के विरुद्ध थियेटरों में भी गयी। किसी प्रकार अमंगल कल्पना को शान्त करना चाहती थी, पर यह आशङ्का एक मेघमण्डल की भाँति उसके हृदय पर छायी रहती थी।

जब एक पूरा महीना गुजर गया और उसकी मानसिक वेदना दिनोंदिन बढ़ती ही गयी तो कुँवर साहब ने उसे कुछ दिनों के लिए अपने इलाके पर ले जाने का निश्चय किया। उनका मन उन्हें आदर्श प्रेम पर नित्य तिरस्कार किया करता था। वह अक्सर देहातों में प्रचार का काम करने जाया करते थे। पर अब अपने गाँव से बाहर न जाते, या जाते तो सन्ध्या तक जरूर लौट आते।

उनकी एक दिन की देर, उनका साधारण सिर-दर्द और जुकाम उसे अव्यवस्थित कर देते थे। वह बहुधा बुरे स्वप्न देखा करती। किसी अनिष्ट के काल्पनिक अस्तित्व की छाया उसे अपने चारों ओर मँडराती हुई प्रतीत होती थी।

वह तो देहात में पड़ी हुई आशंकाओं की कठपुतली बनी हुई थी। इधर उसकी सुहाग की साड़ी स्वदेश-प्रेम की वेदी पर भस्म होकर ऋद्धिप्रदायिनी भभूत बनी हुई थी।

दूसरे महीने के अन्त में रतनसिंह उसे लेकर लौट आये।

( ५ )

गौरा को वापस आये तीन-चार दिन हो चुके थे, पर असबाब के सँभालने और नियत स्थान पर रखने में वह इतनी व्यस्त रही कि घर से बाहर न निकल सकी थी। कारण यह था कि केसर महरी उसके जाने के दूसरे ही दिन छोड़कर चली गयी थी और अभी उतनी चतुर दूसरी महरी न मिली थी। कुँवर साहब का साईस रामटहल भी छोड़ गया था। बेचारे कोचवान को साईस का भी काम करना पड़ता था।

सन्ध्या का समय था। गौरा बरामदे में बैठी आकाश की ओर एकटक होकर ताक रही थी। चिन्ताग्रस्त प्राणियों का एकमात्र यही अवलम्ब है! सहसा रतनसिंह ने आकर कहा—चलो आज तुम्हे स्वदेशी बाजार की सैर करा लावें। यह मेरा ही प्रस्ताव था। पर चार दिन आये हो गये उधर जाने का अवकाश ही न मिला।

गौरा—मेरा तो जाने को जी नहीं चाहता। यहीं बैठकर कुछ बातें करो।

रतन—नहीं चलो, देख आवें। एक घण्टे में लौट आवेंगे।

अन्त में गौरा राजी हो गयी। इधर महीनों से वह बाहर न निकली थी। आज उसे चारों तरफ एक विचित्र शोभा दिखायी दी। बाजार कभी इतनी रौनक पर न था। वह स्वदेशी बाजार में पहुँची तो जुलाहों और कोरियों को अपनी-अपनी दूकानें सजाये बैठे देखा। सहसा एक वृद्ध कोरी ने आकर रतनसिंह को सलाम किया। रतनसिंह चौंककर बोले—रामटहल, तुम अब कहाँ हो?

रामटहल का चेहरा श्रीसम्पन्न था। उसके अङ्ग-अङ्ग से आत्मसम्मान की

आभा झलक रही थी। आँखों में गौरव-ज्योति थी। रतनसिंह को कभी अनुमान न हुआ था कि अस्तबल साफ करनेवाला बुड्ढा रामटहल इतना सौम्य, इतना भद्र पुरुष है। वह बोला—सरकार, अब तो अपना कारबार करता हूँ। जबसे आपकी गुलामी छोड़ी तब से अपने काम में लग गया। आप लोगों की निगाह हम गरीबों पर हो गयी कि हमारा भी गुजर हो रहा है, नहीं तो आप जानते ही हैं किस हालत में पड़ा हुआ था। जात का कोरी हूँ, पर पापी पेट के लिए चमार बन गया था।

रतन—तो भई, अब मुँह मीठा कराओ। यह बाजार लगाने की मेरी ही सलाह थी, बिक्री तो अच्छी होती है?

रामटहल—हाँ सरकार, आजकल खूब बिक्री हो रही है। माल हाथोंहाथ उड़ जाता है, यहाँ बैठते हुए एक महीना हो गया है पर आपकी कृपा से लोगों के चार पैसे लेने-देने थे वे बेबाक हो गये। भगवान की दया से रूखा-सूखा भोजन भी दोनो समय मिल जाता है, और क्या चाहिये। मल्किन की सुहाग की साड़ी का होली में आना कहिए और बाजार का चमकना कहिये। लोगों ने कहा, जब इतने बड़े आदमी होकर ऐसे शकुन की चीज की परवाह नहीं करते तो फिर हम विदेशी कपड़े क्यों रखें। जिस दिन होली जली है उसके दो-तीन दिन पहले ही सरकार इलाके पर चले गये थे। उसके पहले भी सरकार कई दिनों तक घर से बहुत कम निकलते थे। मैं तो यही कहूँगा कि यह सारी माया उसी सुहाग की साड़ी की है।

इतने में एक अधेड़ स्त्री गौरा के सामने आकर बोली—बहूजी, मुझे भूल तो नहीं गयीं?

गौरा ने सिर उठाया तो सामने केसर महरी खड़ी थी। वह सुन्दर साड़ी पहने हुए थी, हाथ-पाँव में मामूली गहने भी थे, चेहरा खिला हुआ था। स्वाधीन जीवन का गौरव एक-एक भाव से प्रस्फुटित हो रहा था।

गौरा ने कहा—इतनी जल्दी भूल जाऊँगी? अब कहाँ हो? हमें लौटने भी न दिया, बीच ही में उड़ भागी।

केसर—क्या करूँ सरकार। अपना काम चलते देखकर सबर न हो सका। जब तक रोजगार न चलता था तब तक लाचारी थी। पेट के लिए सेवा-टहल

करम-कुकरम, सभी करना पड़ता था। अब आप लोगों की दया से हमारे भी दिन लौटे हैं, अब दूसरा काम नहीं किया जाता। अगर बाजार का यही रंग रहा तो अपनी कमाई खाये न चुकेगी। यह सब आपकी साड़ी की महिमा है। उसकी बदौलत हम गरीबों के कितने ही घर बस गये। एक महीना पहले इन दूकान-वालों में किसी को रोटियों का ठिकाना न था। कोई साईसी करता था, कोई ताशे बजाता था। यहाँ तक कि कई आदमी मेहतर का काम करते थे। कितने ही भीख माँगते थे। अब सब अपने धन्धे में लग गये हैं। सच पूछो तो तुम्हारी सुहाग की साड़ी ने हमें सुहागिन बना दिया, नहीं तो हम सुहागिन होते हुए भी विधवाएँ थीं। सच कहती हूँ, सैकड़ों जबानों से नित्य यही दुआ निकलती है कि आपका सुहाग अमर हो, जिसने हमारी राँड़ जात को सुहाग-दान दिया।

रतनसिंह एक दूकान पर बैठकर कुछ कपड़े देखने लगे। गौरा का भावुक हृदय आनन्द से पुलकित हो रहा था। उसकी सारी अमंगल कल्पनाएँ स्वप्नवत् विच्छिन्न होती जाती थीं। आँखें सजल हो गयी थीं और सुहाग की देवी अश्रु-सिंचित नेत्रों से सामने खड़ी आँचल फैलाकर उसे आशीर्वाद दे रही थी।

उसने रतनसिंह को भक्तिपूर्ण आँखों से देखकर कहा—मेरे लिए भी एक साड़ी ले लो।

( ६ )

जब गौरा यहाँ से चली तो सड़क की बिजलियाँ जल चुकी थीं। सड़कों पर खूब प्रकाश था। उसका हृदय भी आनन्द के प्रकाश से जगमगा रहा था।

रतनसिंह ने पूछा—सीधे घर चलूँ?

गौरा—नहीं, छावनी की तरफ होते चलो।

रतन—बाजार खूब सजा हुआ था।

गौरा—यह जमीन लेकर एक स्थायी बाजार बनवा दो। स्वदेशी कपड़ों की दूकानें हों और किसी से किराया न लिया जाय।

रतन—बहुत खर्च पड़ेगा।

गौरा—मकान बेच दो, रुपये ही रुपये हो जायँगे।

रतन—और रहें पेड़ तले?

गौरा—नहीं, गाँववाले मकान में।

रतन—सोचूँगा !

गौरा—(जरा देर में) इलाके भर में खूब कपास की खेती कराओ, जो कपास बोये, उसकी बेगार माफ कर दो।

रतन—हाँ, तदबीर अच्छी है, दूनी उपज हो जायगी।

गौरा—(कुछ देर तक सोचने के बाद) लकड़ी बिना दाम दो तो कैसा हो ! जो चाहे चरखे बनवाने के लिए काट ले जाय।

रतन—लूट मच जायगी।

गौरा—ऐसी बेईमानी कोई न करेगा।

जब उसने गाड़ी से उतरकर घर में कदम रखा तो उसका चित्त शुभ कल्पनाओं से प्रफुल्लित हो रहा था। मानो कोई बछड़ा खूँटे से छूटकर किलोलें कर रहा हो।

———

# विमाता

स्त्री की मृत्यु के तीन ही मास बाद पुनर्विवाह करना मृतात्मा के साथ ऐसा अन्याय और उसकी आत्मा पर ऐसा आघात है जो कदापि क्षम्य नहीं हो सकता। मैं यह न कहूँगा कि उस स्वर्गवासिनी की मुझसे अन्तिम प्रेरणा थी और न मेरा शायद यह कथन ही मान्य समझा जाय कि हमारे छोटे बालक के लिए 'माँ' की उपस्थिति परमावश्यक थी। परन्तु इस विषय में मेरी आत्मा निर्मल है और मैं आशा करता हूँ कि स्वर्गलोक में मेरे इस कार्य की निर्दय आलोचना न की जायगी। सारांश यह कि मैंने विवाह किया और यद्यपि एक नव-विवाहिता वधू को मातृत्व का उपदेश एक बेसुरा राग था, पर पहले ही दिन अम्बा से साफ कह दिया कि मैंने तुमसे केवल इस अभिप्राय से विवाह किया है कि तुम भोले बालक की माँ बनो और उसके हृदय से उसकी माँ की मृत्यु का शोक भुला दो !

( २ )

दो मास व्यतीत हो गये। मैं सन्ध्या समय मुन्नू को साथ लेकर वायुसेवन को

जाया करता था। लौटते समय कतिपय मित्रों से भेंट भी कर लिया करता था। उन संगतों में मुन्नू श्यामा की भाँति चहकता। वास्तव में इन संगतों से मेरा अभिप्राय मनोविनोद नहीं, केवल मुन्नू के असाधारण बुद्धि-चमत्कार को प्रदर्शित करना था। मेरे मित्रगण जब मुन्नू को प्यार करते और उसकी विलक्षण बुद्धि की सराहना करते तो मेरा हृदय बाँसों उछलने लगता था। एक दिन मैं मुन्नू के साथ बाबू ज्वालासिंह के घर बैठा हुआ था। ये मेरे परम मित्र थे। मुझमें और उनमें कुछ भेद-भाव न था। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम अपनी क्षुद्रताएँ, अपने पारिवारिक कलहादि और अपनी आर्थिक कठिनाइयाँ बयान किया करते थे। नहीं, हम इन मुलाकातों में भी अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करते थे और अपनी दुरवस्था का जिक्र कभी हमारी जबान पर न आता था। अपनी कालिमाओं को सदैव छिपाते थे। एकता में भी भेद था और घनिष्ठता में भी अन्तर। अचानक बाबू ज्वालासिंह ने मुन्नू से पूछा—'क्यों तुम्हारी अम्मा तुम्हें खूब प्यार करती हैं न?' मैंने मुस्कराकर मुन्नू की ओर देखा। उसके उत्तर के विषय में मुझे कोई सन्देह न था। मैं भली-भाँति जानता था कि अम्बा उसे बहुत प्यार करती है। परन्तु मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब मुन्नू ने इस प्रश्न का उत्तर मुख से न देकर नेत्रों से दिया। उसके नेत्रों से आँसू की बूँदें टपकने लगीं। मैं लज्जा से गड़ गया। इस अश्रु-जल ने अम्बा के उस सुन्दर चित्र को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया जो गत दो मास से मैंने हृदय में अंकित कर रखा था। ज्वालासिंह ने मुझे कुछ संशय की दृष्टि से देखा और पुनः मुन्नू से पूछा—'क्यों रोते हो बेटा?' मुन्नू बोला—'रोता नहीं हूँ, आँखों में धुआँ लग गया था।' ज्वालासिंह का विमाता पर सन्देह करना स्वाभाविक बात थी। परन्तु वास्तव में मुझे भी सन्देह हो गया। अम्बा सहृदयता और स्नेह की वह देवी नहीं है जिसकी सराहना करते मेरी जिह्वा न थकती थी। वहाँ से उठा तो मेरा हृदय भरा हुआ था और लज्जा से माथा न उठता था।

( ३ )

मैं घर की ओर चला तो मन में विचार करने लगा कि किस प्रकार अपने क्रोध को प्रकट करूँ। क्यों न मुँह ढाँककर सो रहूँ! अम्बा जब पूछे तो कठोरता से कह दूँ कि सिर में पीड़ा है, मुझे तंग मत करो। भोजन के लिए उठाये

तो झिड़ककर उत्तर दूँ। अम्बा अवश्य समझ जायगी कि कोई बात मेरी इच्छा के प्रतिकूल हुई है। मेरे पाँव पकड़ने लगेगी। उस समय अपनी व्यंगपूर्ण बातों से उसका हृदय बेध डालूँगा। ऐसा रुलाऊँगा कि वह भी याद करे। पुनः विचार आया कि उसका हँसमुख चेहरा देखकर मैं अपने हृदय को वश में रख सकूँगा या नहीं। उसकी एक प्रेम-पूर्ण दृष्टि, एक मीठी बात, एक रसीली चुटकी मेरी शिलातुल्य रुष्टता के टुकड़े-टुकड़े कर सकती है। परन्तु हृदय की इस निर्बलता पर मेरा मन झुँझला उठा। यह मेरी क्या दशा है, क्या इतनी जल्दी मेरे चित्त की काया पलट गयी? मुझे पूर्ण विश्वास था कि मैं इन मृदुल वाक्यों की आँधी और ललित कटाक्षों के बहाव में भी अचल रह सकता हूँ और कहाँ अब यह दशा हो गयी कि मुझमें साधारण झोंके को भी सहन करने की सामर्थ्य नहीं! इन विचारों से हृदय में कुछ दृढ़ता आयी, तिस पर भी क्रोध की लगाम पग-पग पर ढीली होती जाती थी। अन्त में मैंने हृदय को बहुत दबाया और बनावटी क्रोध का भाव धारण किया। ठान लिया कि चलते-ही-चलते एक दम से बरस पड़ूँगा।

ऐसा न हो कि विलम्ब रूपी वायु इस क्रोधरूपी मेघ को उड़ा ले जाय; परन्तु ज्योंही घर पहुँचा, अम्बा ने दौड़कर मुन्नू को गोदी में ले लिया और प्यार से सने हुए कोमल स्वर से बोली—'आज तुम इतनी देर तक कहाँ घूमते रहे? चलो, देखो, मैंने तुम्हारे लिए कैसी अच्छी-अच्छी फुलौड़ियाँ बनायी हैं।' मेरा कृत्रिम क्रोध एक क्षण में उड़ गया। मैंने विचार किया, इस देवी पर क्रोध करना भारी अत्याचार है। मुन्नू अबोध बालक है। सम्भव है कि वह अपनी माँ को स्मरण कर रो पड़ा हो। अम्बा इसके लिए दोषी नहीं ठहरायी जा सकती। हमारे मनोभाव पूर्व-विचारों के अधीन नहीं होते, हम उनको प्रकट करने के निमित्त कैसे-कैसे शब्द गढ़ते हैं परन्तु समय पर शब्द हमें धोखा दे जाते हैं और वे ही भावनाएँ स्वाभाविक रूप में प्रकट होती हैं। मैंने अम्बा को न तो कोई व्यंग-पूर्ण बातें ही कहीं और न क्रोधित हो मुख ढाँककर सोया ही, बल्कि अत्यन्त कोमल स्वर में बोला—मुन्नू ने आज मुझे अत्यन्त लज्जित किया। खजानची साहब ने पूछा कि तुम्हारी नयी अम्मा तुम्हें प्यारकरती है या नहीं, तो यह रोने लगा! मैं लज्जा से गड़ गया। मुझे तो स्वप्न में भी यह विचार नहीं हो सकता

कि तुमने इसे कुछ कहा होगा। परन्तु अनाथ बच्चों का हृदय उस चित्र की भाँति होता है जिस पर एक बहुत ही साधारण परदा पड़ा हुआ हो। पवन का साधारण झोंका भी उसे हटा देता है।

ये बातें कितनी कोमल थीं, तिस पर भी अम्बा का विकसित मुखमण्डल कुछ मुरझा गया। वह सजल नेत्र होकर बोली—इस बात का विचार तो मैंने यथासाध्य पहले ही दिन से रखा है। परन्तु यह असम्भव है कि मैं मुन्नू के हृदय से माँ का शोक मिटा दूँ। मैं चाहे अपना सर्वस्व अर्पण कर दूँ, परन्तु मेरे नाम पर जो सौतेलेपन की कालिमा लगी हुई है वह मिट नहीं सकती।

( ४ )

मुझे भय था कि इस वार्तालाप का परिणाम कहीं विपरीत न हो। परन्तु दूसरे ही दिन मुझे अम्बा के व्यवहार में बहुत ही अन्तर दिखायी देने लगा। मैं उसे प्रातः से सायंकाल पर्यन्त मुन्नू की ही सेवा में लगी हुई देखता, यहाँ तक कि उस धुन में उसे मेरी भी चिन्ता न रहती थी। परन्तु मैं त्यागी न था कि अपने आराम को मुन्नू पर अर्पण कर देता। कभी-कभी मुझे अम्बा की यह अश्रद्धा न भाती। परन्तु मैं कभी भूलकर भी इसकी चर्चा न करता। एक दिन मैं अनियमित रूप से दफ्तर से कुछ पहले ही आ गया। क्या देखता हूँ कि मुन्नू द्वार पर भीतर की ओर मुख किये खड़ा है। मुझे इस समय आँख-मिचौनी खेलने की सूझी। मैंने दबे पाँव पीछे से जाकर उसके नेत्र मूँद लिये। पर शोक! उसके दोनों गाल अश्रुपूरित थे। मैंने तुरन्त दोनो हाथ हटा लिये। ऐसा प्रतीत हुआ मानो सर्प ने डस लिया हो। हृदय पर एक चोट लगी। मुन्नू को गोद में लेकर बोला —'मुन्नू, क्यों रोते हो?' यह कहते-कहते मेरे नेत्र भी सजल हो आये।

मुन्नू आँसू पीकर बोला—जी नहीं, रोता तो नहीं हूँ।

मैंने उसे हृदय से लगा लिया और कहा—अम्मा ने कुछ कहा तो नहीं?

मुन्नू ने झिझकते हुए कहा—जी नहीं, वह तो मुझे बहुत प्यार करती हैं।

मुझे विश्वास न हुआ, पूछा—वह प्यार करतीं तो तुम रोते क्यों? उस दिन खजानची के घर भी तुम रोये थे। तुम मुझसे छिपाते हो। कदाचित् तुम्हारी अम्मा अवश्य तुमसे कुछ क्रुद्ध हुई हैं।

मुन्नू ने मेरी ओर कातर दृष्टि से देखकर कहा—जी नहीं, वह मुझे प्यार

करती हैं इसी कारण मुझे बारम्बार रोना आता है। मेरी अम्मा मुझे अत्यन्त प्यार करती थीं। वह मुझे छोड़कर चली गयीं। नयी अम्मा उससे भी अधिक प्यार करती हैं। इसलिए मुझे भय लगता है कि उनकी तरह यह भी मुझे छोड़कर न चली जायँ।

यह कहकर मुन्नू पुनः फूट-फूटकर रोने लगा। मैं भी रो पड़ा। अम्बा के इस स्नेहमय व्यवहार ने मुन्नू के सुकोमल हृदय पर कैसा आघात किया था! थोड़ी देर तक मैं स्तम्भित रह गया। किसी कवि की यह वाणी स्मरण आ गयी कि पवित्र आत्माएँ इस संसार में चिरकाल तक नहीं ठहरतीं। कहीं भावी ही इस बालक की जिह्वा से तो यह शब्द नहीं कहला रही है, ईश्वर न करे कि वह अशुभ दिन देखना पड़े। परन्तु मैंने तर्क द्वारा इस शंका को हृदय से निकाल दिया। समझा कि माता की मृत्यु ने प्रेम और वियोग में एक मानसिक सम्बन्ध उत्पन्न कर दिया और कोई बात नहीं है। मुन्नू को गोद में लिये हुए अम्बा के पास गया और मुस्कराकर बोला—'इनसे पूछो क्यों रो रहे हैं?' अम्बा चौंक पड़ी। उसके मुख की कांति मलिन हो गयी। बोली—'तुम्हीं पूछो।' मैंने कहा—'यह इसलिए रोते हैं कि तुम इन्हें अत्यन्त प्यार करती हो और इनको भय है कि तुम भी इनकी माता की भाँति इन्हें छोड़कर न चली जाओ।' जिस प्रकार गर्द साफ हो जाने से दर्पण चमक उठता है उसी भाँति अम्बा का मुख-मण्डल प्रकाशित हो गया। उसने मुन्नू को मेरी गोद से छीन लिया और कदाचित् यह प्रथम अवसर था कि उसने ममतापूर्ण स्नेह से मुन्नू का मुख चुम्बन किया।

( ५ )

शोक! महा शोक!! मैं क्या जानता था कि मुन्नू की अशुभ कल्पना इतनी शीघ्र पूर्ण हो जायगी। कदाचित् उसकी बालदृष्टि ने होनहार को देख लिया था, कदाचित् उसके बाल-श्रवण मृत्युदूतों के विकराल शब्दों से परिचित थे।

छः मास भी व्यतीत न होने पाये थे कि अम्बा बीमार पड़ी और इन्फ्लुएञ्जा ने देखते-देखते उसे हमारे हाथों से छीन लिया। पुनः वह वन मरुतुल्य हो गया, पुनः बसा हुआ घर उजड़ गया। अम्बा ने अपने को मुन्नू पर अर्पण कर दिया था—हाँ उसने पुत्रस्नेह का आदर्श-रूप दिखा दिया। शीतकाल था और वह घड़ी रात्रि शेष रहते ही मुन्नू के लिए प्रातःकाल का भोजन बनाने

उठती थी। उसके इस स्नेह बाहुल्य ने मुन्नू पर स्वाभाविक प्रभाव डाल दिया था। वह हठीला और नटखट हो गया था। जब तक अम्बा भोजन कराने न बैठे, मुँह में कौर न डालता, जब तक अम्बा पंखा न झले वह चारपाई पर पाँव न रखता। उसे छेड़ता, चिढ़ाता और हैरान कर डालता। परन्तु अम्बा को इन बातों से आत्मिक सुख प्राप्त होता था। इन्फ्लुएञ्जा से कराह रही थी, करवट लेने तक की शक्ति न थी, शरीर तवा हो रहा था परन्तु मुन्नू के प्रातःकाल के भोजन की चिन्ता लगी रहती थी। हाय! वह निःस्वार्थ मातृस्नेह अब स्वप्न हो गया। उस स्वप्न के स्मरण से अब भी हृदय गद्गद हो जाता है। अम्बा के साथ मुन्नू का चुलबुलापन तथा बालक्रीड़ा विदा हो गयी। अब वह शोक और नैराश्य की जीवित मूर्ति है, वह अब कभी नहीं रोता। ऐसा पदार्थ खोकर अब उसे कोई खटका, कोई भय नहीं रह गया।

---

# विस्मृति

चित्रकूट के सन्निकट धनगढ़ नामक एक गाँव है। कुछ दिन हुए वहाँ शानसिंह और गुमानसिंह दो भाई रहते थे। ये जाति के ठाकुर (क्षत्रिय) थे। युद्धस्थल में वीरता के कारण उनके पूर्वजों को भूमि का एक भाग मुआफी प्राप्त हुआ था। खेती करते थे, भैंसें पाल रखी थीं, घी बेचते थे, मट्ठा खाते थे और प्रसन्नतापूर्वक समय व्यतीत करते थे। उनकी एक बहिन थी जिसका नाम दूजी था। यथा नाम तथा गुण। दोनो भाई परिश्रमी और अत्यन्त साहसी थे। बहिन अत्यन्त कोमल, सुकुमारी। सिर पर घड़ा रखकर चलती तो उसकी कमर बल खाती थी। किन्तु तीनों अभी तक कुँवारे थे। प्रकटतः उन्हें विवाह की कुछ चिन्ता न थी। बड़े भाई शानसिंह सोचते, छोटे भाई के रहते हुए अब मैं अपना विवाह कैसे करूँ। छोटे भाई गुमानसिंह लज्जावश अपनी अभिलाषा प्रकट न करते कि बड़े भाई से पहले मैं अपना ब्याह कर लूँ! वे लोगों से कहा करते थे —'भाई, हम बड़े आनन्द में हैं, आनन्दपूर्वक भोजन कर मीठी नींद सोते हैं,

कौन यह झंझट सिर पर ले ?' किन्तु लग्न के दिनों में कोई नाई या ब्राह्मण गाँव में वर ढूँढ़ने आ जाता तो उसकी सेवा-सत्कार में यह लोग कोई बात न उठा रखते थे। पुराने चावल निकाले जाते, पालतू बकरे देवी की भेंट होते और दूध की नदियाँ बहने लगती थीं। यहाँ तक कि कभी-कभी उनका भ्रातृस्नेह प्रतिद्वन्द्विता एवं द्वेषभाव के रूप में परिणत हो जाता था। इन दिनों में इनकी उदारता उमंग पर आ जाती थी और इससे लाभ उठानेवालों की भी कमी न थी। कितने ही नाई और ब्राह्मण ब्याह के असत्य समाचार लेकर उनके यहाँ आते और दो-चार दिन पूड़ी-कचौड़ी खा कुछ विदाई लेकर वर-रक्षा ( फलदान ) भेजने का वादा करके अपने घर की राह लेते। किन्तु दूसरे लग्न तक वह अपना दर्शन तक न देते थे। किसी-न-किसी कारण भाइयों का यह परिश्रम निष्फल हो जाता था। अब कुछ आशा थी तो दूजी से। भाइयों ने यह निश्चय कर लिया था कि इसका विवाह वहीं पर किया जाय जहाँ से एक बहू प्राप्त हो सके।

( २ )

इसी बीच में गाँव का बूढ़ा कारिन्दा परलोक सिधारा। उसकी जगह पर एक नवयुवक ललनसिंह नियुक्त हुआ जो अङ्गरेजी की शिक्षा पाया हुआ, शौकीन, रंगीन और रसीला आदमी था। दो-चार ही दिनों में उसने पनघटों, तालाबों और झरोखों की देख-भाल भली-भाँति कर ली। अन्त में उसकी रसभरी दृष्टि दूजी पर पड़ी। उसकी सुकुमारता और रूपलावण्य पर मुग्ध हो गया। भाइयों से प्रेम और परस्पर मेल-जोल पैदा किया। कुछ विवाह-सम्बन्धी बात-चीत छेड़ दी। यहाँ तक कि हुक्का-पानी भी साथ-साथ होने लगा। सायं-प्रातः इनके घर पर आया करता। भाइयों ने भी उसके आदर-सम्मान की सामग्रियाँ जमा कीं। पानदान मोल लाये, कालीन खरीदा। वह दरवाजे पर आता तो दूजी तुरन्त पान के बीड़े बनाकर भेजती, बड़े भाई कालीन बिछा देते और छोटे भाई तश्तरी में मिठाइयाँ रखकर लाते। एक दिन श्रीमान् ने कहा—भैया शानसिंह, ईश्वर की कृपा हुई तो अबकी लगन में भाभीजी आ जायँगी। मैंने सब बातें ठीक कर ली हैं।

शानसिंह की बाछें खिल गयीं। आग्रहपूर्ण दृष्टि से देखकर कहा—मैं अब

इस अवस्था में क्या ब्याह करूँगा। हाँ, गुमानसिंह की बातचीत कहीं ठीक हो जाती तो पाप कट जाता।

गुमानसिंह ने ताड़ का पंखा उठा लिया और झलते हुए बोले—वाह भैया! कैसी बात कहते हो ?

ललनसिंह ने अकड़कर शानसिंह की ओर देखते हुए कहा—भाई साहब, क्या कहते हो! अबकी लग्न में दोनों भाभियाँ छमाछम करती हुई घर में आवें तो बात! मैं ऐसा कच्चा मामला नहीं रखता। तुम तो अभी बुड्ढों की भाँति बातें करने लगे! तुम्हारी अवस्था यद्यपि पचास से भी अधिक हो गयी पर देखने में चालीस वर्ष से भी कम मालूम होती है। अबकी दोनों विवाह होंगे, बीच खेत होंगे। यह तो बताओ, वस्त्राभूषण का समुचित प्रबन्ध है न ?

शानसिंह ने उनके जूतों को सीधा करते हुए कहा—भाई साहब! आप की यदि ऐसी कृपा-दृष्टि है तो सब-कुछ हो जायगा। आखिर इतने दिन कमा-कमा कर क्या किया है ?

गुमानसिंह घर में गये, हुक्का ताजा किया; तम्बाकू में दो-तीन बूँद इत्र के डाले, चिलम भरी, दूर्जा से कहा कि शरबत घोल दे और हुक्का लाकर ललनसिंह के सामने रख दिया।

ललनसिंह ने दो-चार दम लगाये और बोले—नाई दो-चार दिन में आनेवाला है। ऐसा घर चुना है कि चित्त प्रसन्न हो जाय, एक विधवा है। दो कन्याएँ, एक-से-एक सुन्दर। विधवा दो-एक वर्ष में संसार को त्याग देगी और तुम सम्पूर्ण गाँव में दो आने के हिस्सेदार बन जाओगे। गाँववाले जो अभी हँसी करते हैं पीछे जल-जल मरेंगे। हाँ, भय इतना ही है कि कोई बुढ़िया के कान न भर दे कि सारा बना-बनाया खेल बिगड़ जाय।

शानसिंह के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। गुमानसिंह की मुखकान्ति मलिन हो गयी। कुछ देर बाद शानसिंह बोले—अब तो आपकी ही आशा है, आपकी जैसी राय हो किया जाय।

जब कोई पुरुष हमारे साथ अकारण मित्रता का व्यवहार करने लगे तो हमको सोचना चाहिए कि इसमें उसका कोई स्वार्थ तो नहीं छिपा है। यदि हम अपने सीधेपन से इस भ्रम में पड़ जायँ कि कोई मनुष्य हमको केवल अनुगृहीत

करने के लिए हमारी सहायता करने पर तत्पर है तो हमें धोखा खाना पड़ेगा। किन्तु अपने स्वार्थ की धुन में ये मोटी-मोटी बातें भी हमारी निगाहों से छिप जाती हैं और छल अपने रँगे हुए भेष में आकर हमको सर्वदा के लिए परस्पर व्यवहार का उपदेश देता है। शानसिंह और गुमानसिंह ने विचार से कुछ भी काम न लिया और ललनसिंह के फन्दे नित्यप्रति गाढ़े होते गये। मित्रता ने यहाँ तक पाँव पसारे कि भाइयों की अनुपस्थिति में भी वह बेधड़क घर में घुस जाते और आँगन में खड़े होकर छोटी बहिन से पान हुक्का माँगते। दूजी उन्हें देखते ही अति प्रसन्नता से पान बनाती। फिर आँखें मिलतीं, एक प्रेमाकांक्षा से बेचैन, दूसरी लज्जावश सकुची हुई। फिर मुस्कुराहट की झलक होंटों पर आती। चितवनों की शीतलता कलियों को खिला देती। हृदय नेत्रों द्वारा बातें कर लेते।

इस प्रकार प्रेमलिप्सा बढ़ती गयी। उस नेत्रालिंगन में, जो मनोभावों का बाह्यरूप था, उद्विग्नता और विकलता की दशा उत्पन्न हुई। वह दूजी, जिसे कभी मनिहारे और बिसाती की रुचिकर ध्वनि भी चौखट से बाहर न निकाल सकती थी, अब एक प्रेम-विह्वलता की दशा में प्रतीक्षा की मूर्ति बनी हुई घण्टों दरवाजों पर खड़ी रहती। उन दोहे और गीतों में, जिन्हें वह कभी विनोदार्थ गाया करती थी, अब उसे विशेष अनुराग और विरह-वेदना का अनुभव होता। तात्पर्य यह कि प्रेम का रंग गाढ़ा हो गया।

शनैः-शनैः गाँव में चर्चा होने लगी। घास और कास स्वयं उगते हैं। उखाड़ने से भी नहीं जाते। अच्छे पौधे बड़ी देख-रेख से उगते हैं। इसी प्रकार बुरे समाचार स्वयं फैलते हैं, छिपाने से भी नहीं छिपते। पनघटों और तालाबों के किनारे इस विषय पर काना-फूसी होने लगी। गाँव की बनियाइन जो अपने तराजू पर हृदयों को तौलती थी और ग्वालिन जो जल में प्रेम का रंग देकर दूध का दाम लेती थी और तम्बोलिन जो पान के बीड़ों से दिलों पर रंग जमाती थी, बैठकर दूजी की लोलुपता और निर्लज्जता का राग अलापने लगीं। बेचारी दूजी को घर से निकलना दुर्लभ हो गया, सखी-सहेलियाँ एवं बड़ी-बूढ़ियाँ सभी उसको ताने मारतीं। सखी-सहेलियाँ हँसी से छेड़तीं और वृद्धा स्त्रियाँ हृदय-विदारक व्यंगों से।

मर्दों तक बातें फैलीं। ठाकुरों का गाँव था। उनकी क्रोधाग्नि भड़की। आपस में सम्मति हुई कि ललनसिंह को इस दुष्टता का दण्ड देना उचित है। दोनों भाइयों को बुलाया और बोले—भैया, क्या अपनी मर्यादा नाश करके विवाह करोगे ?

दोनों भाई चौंक पड़े। उन्हें विवाह की उमंग में यह सुधि ही नहीं थी कि घर में क्या हो रहा है। शानसिंह ने कहा—तुम्हारी बात मेरी समझ में नहीं आयी। साफ-साफ क्यों नहीं कहते ?

एक ठाकुर ने जवाब दिया—साफ-साफ क्या कहलाते हो ? इस शोहदे ललनसिंह का अपने यहाँ आना-जाना बन्द कर दो। तुम तो अपनी आँखों पर पट्टी बाँधे ही हो पर उसकी जान की कुशल नहीं। हमने अभी तक इसी लिए तरह दी है कि कदाचित् तुम्हारी आँखें खुलें, किन्तु ज्ञात होता है कि तुम्हारे ऊपर उसने मुर्दे का भस्म डाल दिया है। ब्याह क्या अपनी आबरू बेचकर करोगे ? तुम लोग खेत में रहते हो और हम लोग अपनी आँखों से देखते हैं कि वह शोहदा अपना बनाव-सँवार किये आता है और तुम्हारे घर में घण्टों घुसा रहता है। तुम उसे अपना भाई समझते हो समझा करो। हम तो ऐसे भाई का गला काट लें जो विश्वासघात करे।

भाइयों के नेत्र-पट खुले। दूजी के सम्बन्ध में जो ज्वर का सन्देह था वह प्रेम का ज्वर निकला। रुधिर में उबाल आया। नेत्रों से चिनगारियाँ उड़ीं। तेवर बदले। दोनों भाइयों ने एक दूसरे की ओर क्रोधमय दृष्टि से देखा। मनोगत भाव जिह्वा तक न आ सके। अपने घर आये। किन्तु दरवाजे पर पाँव रखा ही था कि ललनसिंह से मुठभेड़ हो गयी।

ललनसिंह ने हँसकर कहा—वाह भैया ! वाह ! हम तुम्हारी खोज में बारम्बार आते हैं, किन्तु तुम्हारे दर्शन तक नहीं मिलते। मैं समझा, आखिर रात्रि में तो कुछ काम न होगा। किन्तु देखता हूँ आपको इस समय भी छुट्टी नहीं है।

शानसिंह ने हृदय के भीतर क्रोधाग्नि को दबाकर कहा—हाँ, इस समय वास्तव में छुट्टी नहीं है।

ललनसिंह—आखिर क्या काम है ? मैं भी सुनूँ।

शानसिंह—बहुत बड़ा काम है, आपसे छिपा न रहेगा।

ललनसिंह—कुछ वस्त्राभूषण का भी प्रबन्ध कर रहे हो। अब लग्न सिर पर आ गया है।

शानसिंह—अब बड़ा लग्न सिर पर आ पहुँचा है, पहिले इसका प्रबन्ध करना है।

ललनसिंह—क्या किसी से ठन गयी?

शानसिंह—भली भाँति।

ललनसिंह—किससे?

शानसिंह—इस समय जाइए प्रातःकाल बतलाऊँगा।

( ५ )

दूजी भी ललनसिंह के साथ दरवाजे की चौखट तक आयी थी। भाइयों की आहट पाते ही ठिठक गयी और यह बातें सुनीं। उसका माथा ठनका कि आज यह क्या मामला है। ललनसिंह का कुछ आदर-सत्कार नहीं हुआ। न हुक्का न पान। क्या भाइयों के कानों में कुछ भनक तो नहीं पड़ी। किसी ने कुछ लगा तो नहीं दिया। यदि ऐसा हुआ तो कुशल नहीं।

इसी उधेड़बुन में पड़ी थी कि भाइयों ने भोजन परोसने की आज्ञा दी। जब वह भोजन करने बैठे तो दूजी ने अपनी निर्दोषिता और पवित्रता प्रकट करने के लिए एवं अपने भाइयों के दिल का भेद लेने के लिए कुछ कहना चाहा। त्रियाचरित्र में अभी निपुण न थी। बोली—भैया, ललनसिंह से कह दो, घर में न आया करें। आप घर में रहिए तो कोई बात नहीं, किन्तु कभी-कभी आप नहीं रहते तो मुझे अत्यन्त लज्जा आती है। आज ही वह आपको पूछते हुए चले आये, अब मैं उनसे क्या कहूँ? आपको नहीं देखा तो लौट गये।

शानसिंह ने बहिन की तरफ ताने भरे नेत्रों से कहा—अब वह घर में न आयेंगे।

गुमानसिंह बोले—हम इसी समय जाकर उन्हें समझा देंगे।

भाइयों ने भोजन कर लिया। दूजी को पुनः कुछ कहने का साहस न हुआ। उसे उनके तेवर आज कुछ बदले हुए मालूम होते थे। भोजनोपरान्त दोनों

भाई दीपक लेकर भण्डारे की कोठरी में गये। अनावश्यक बर्तन, पुराने सामान पुरुषाओं के समय के अस्त्र-शस्त्र आदि इसी कोठरी में रखे थे। गाँव में जब कोई बकरा देवीजी की भेंट दिया जाता तो यह कोठरी खुलती थी। आज तो कोई ऐसी बात नहीं है। इतनी रात गये यह कोठरी क्यों खोली जाती है ? दूजी को किसी भावी दुर्घटना का सन्देह हुआ। वह दबे पाँव दरवाजे पर गयी तो देखती क्या है कि गुमानसिंह एक भुजाली लिये पत्थर पर रगड़ रहा है। उसका कलेजा धक्-धक् करने लगा और पाँव थर्राने लगे। वह उलटे पाँव लौटना चाहती थी कि शानसिंह की आवाज सुनाई दी—'इसी समय एक घड़ी में चलना ठीक है। पहली नींद बड़ी गहरी होती है। बेधड़क सोता होगा।' गुमानसिंह बोले—'अच्छी बात है, देखो भुजाली की धार! एक हाथ में काम तमाम हो जायगा!'

दूजी को ऐसा ज्ञात हुआ मानो किसी ने पहाड़ पर से ढकेल दिया। सारी बातें उसकी समझ में आ गयीं। वह भय की दशा में घर से निकली और ललनसिंह के चौपाल की ओर चली। किन्तु वह अँधेरी रात प्रेम की घाटी थी और वह रास्ता प्रेम का कठिन मार्ग। वह इस सुनसान अँधेरी रात में चौकन्ने नेत्रों से इधर-उधर देखती, विह्वलता की दशा में शीघ्रतापूर्वक चली जाती थी। किन्तु हाय निराशा ! एक-एक पल उसे प्रेम-भवन से दूर लिये जाता था। उस अँधेरी भयानक रात्रि में भटकती, न-जाने वह कहाँ चली जाती थी, किससे पूछे! लज्जा-वश वह किसी से कुछ न पूछ सकती थी। कहीं चूड़ियों की झनझनाहट भेद न खोल दे ! क्या इन अभागे आभूषणों को आज ही झनझनाना है ? अन्त में एक वृक्ष के तले वह बैठ गयी, सब चूड़ियाँ चूर-चूर कर दीं, आभूषण उतारकर आँचल में बाँध लिये। किन्तु हाय ! यह चूड़ियाँ सुहाग की चूड़ियाँ थीं और यह गहने सुहाग के गहने थे, जो एक बार उतारकर फिर न पहने गये।

उसी वृक्ष के नीचे पयस्विनी नदी पत्थर के टुकड़ों से टकराती हुई बहती थी, जहाँ नौकाओं का निर्वाह दुस्तर था। दूजी बैठी हुई सोचती थी, क्या मेरे जीवन की नदी में प्रेम की नौका दुःख की शिलाओं से टक्कर खाकर डूब जायगी ?

( ६ )

प्रातःकाल ग्रामवासियों ने आश्चर्यजनक समाचार सुना कि ठाकुर ललन-

सिंह की किसी ने हत्या कर डाली। सारे गाँव के स्त्री-पुरुष, वृद्ध-युवा, सहस्रों, की संख्या में चौपाल के सामने जमा हो गये। स्त्रियाँ पनघटों को जाती हुई रुक गयीं। किसान हल-बैल लिये ज्यों-के-त्यों खड़े रह गये। किसी की समझ में न आता था कि यह हत्या किसने की। कैसा मिलनसार, हँसमुख सज्जन मनुष्य था! उसका कौन ऐसा शत्रु था! बेचारे ने किसी पर इजाफा लगान या बेदखली की नालिश तक नहीं की। किसी को दो बात तक नहीं कही। दोनो भाइयों के नेत्रों से आँसू की धारा बहती थी। उनका घर उजड़ गया। सारी आशाओं पर तुषारपात हो गया। गुमानसिंह ने रोकर कहा—हम तीन भाई थे, अब दो ही रह गये! हमसे तो दाँत काटी रोटी थी। साथ उठना-बैठना, हँसी-दिल्लगी, भोजन-छाजन एक हो गया था। हत्यारे से इतना भी नहीं देखा गया? हाय! अब हमको कौन सहारा देगा?

शानसिंह ने आँसू पोंछते हुए कहा—हम दोनो भाई कपास निराने जा रहे थे। ललनसिंह से कई दिन से भेंट नहीं हुई थी। सोचा कि इधर से होते चलें, किन्तु पिछवाड़े आते ही सेंध दिखाई पड़ी। हाथों के तोते उड़ गये। दरवाजों पर जाकर देखा तो चौकीदार-सिपाही सब सो रहे हैं। उन्हें जगाकर ललनसिंह के किवाड़ खटखटाने लगे। परन्तु बहुत बल करने पर भी किवाड़ अन्दर से न खुले तो सेंध के रास्ते से झाँका। आह, कलेजे में एक तीर लग गया! संसार अँधेरा दिखाई दिया। प्यारे ललनसिंह का सिर धड़ से अलग था। रक्त की नदी बह रही थी। शोक! भैया सदा के लिए बिछुड़ गये।

मध्याह्नकाल तक इसी प्रकार विलाप होता रहा। दरवाजे पर मेला लगा हुआ था। दूर-दूर से लोग इस दुर्घटना का समाचार पाकर इकट्ठे होते जाते थे। सन्ध्या होते-होते हल्के के दारोगा साहब भी चौकीदार और सिपाहियों का एक झुण्ड लिये आ पहुँचे। कड़ाही चढ़ गयी। पूड़ियाँ छनने लगीं। दारोगाजी ने जाँच करनी शुरू की। घटनास्थल देखा, चौकीदारों का बयान हुआ। दोनो भाइयों के बयान लिखे। आस-पास के पासी और चमार पकड़े गये और उन पर मार पड़ने लगी। ललनसिंह की लाश लेकर थाने पर गये। हत्यारे का पता न चला। दूसरे दिन इन्सपेक्टर पुलिस का आगमन हुआ। उन्होंने भी गाँव का चक्कर लगाया, चमारों और पासियों की फिर मरम्मत

हुई; हलुआ-सोहन, गोश्त, पूड़ी का स्वाद लेकर सायंकाल को उन्होंने भी अपनी राह ली। कुछ पासियों पर जो कि कई डाके-चोरी में पकड़े जा चुके थे, सन्देह हुआ। उनका चालान किया गया। मजिस्ट्रेट ने गवाही पुष्ट पाकर अपराधियों को सेशन सुपुर्द किया और मुकदमे की पेशी होने लगी।

मध्याह्न का समय था। आकाश पर मेघ छाये हुए थे। कुछ बूँदें भी पड़ रही थीं। सेशन जज कुँवर विनयकृष्ण बघेल के इजलास में मुकदमा पेश था। कुँवर साहब बड़े सोच-विचार में थे कि क्या करूँ। अभियुक्तों के विरुद्ध साक्षी निर्बल थी। किन्तु सरकारी वकील जो एक प्रसिद्ध नीतिज्ञ थे, नजीरों पर नजीरें पेश करते जाते थे कि अचानक दूजी श्वेत साड़ी पहने, घूँघट निकाले हुए निर्भय न्यायालय में आ पहुँची और हाथ जोड़कर बोली—श्रीमान्! मैं शानसिंह और गुमानसिंह की बहिन हूँ। इस मामले में जो कुछ जानती हूँ वह मुझसे भी सुन लिया जाय। इसके बाद सरकार जो फैसला चाहे करें।

कुँवर साहब ने आश्चर्य से दूजी की तरफ दृष्टि फेरी। शानसिंह और गुमानसिंह के शरीर में काटो तो रक्त नहीं। वकीलों ने भी आश्चर्य की दृष्टि से उसकी ओर देखना शुरू किया। दूजी के चेहरे पर दृढ़ता झलक रही थी। भय का लेशमात्र न था। नदी आँधी के पश्चात् स्थिर दशा में थी। उसने उसी प्रवाह में कहना प्रारम्भ किया—ठाकुर ललनसिंह की हत्या करनेवाले मेरे दोनो भाई हैं।

कुँवर साहब के नेत्रों के सामने से पर्दा हट गया। सारी कचहरी दंग हो गयी और सब टकटकी बाँधे दूजी की तरफ देखने लगे।

दूजी बोली—यह वह भुजाली है जो ललनसिंह की गर्दन पर फेरी गयी है। अभी इसका खून ताजा है। मैंने अपनी आँखों से भाइयों को इसे पत्थर पर रगड़ते देखा; उनकी बातें सुनीं। मैं उसी समय घर से बाहर निकली कि ललनसिंह को सावधान कर दूँ। किन्तु मेरा भाग्य खोटा था। चौपाल का पता न लगा। मेरे दोनों भाई सामने खड़े हैं। वह मर्द हैं। मेरे सामने असत्य कदापि न कहेंगे। इनसे पूछ लिया जाय। और सच पूछिए तो यह छुरी मैंने चलाई है। मेरे भाइ का अपराध नहीं है। यह सब मेरे भाग्य का खेल है। यह मेरे कारण हुआ और न्याय की तलवार मेरी ही गर्दन पर पड़नी चाहिए।

मैं ही अपराधिनी हूँ और हाथ जोड़कर कहती हूँ कि इस भुजाली से मेरी गर्दन काट ली जाय।

( ७ )

न्यायालय में एक स्त्री का आना बाजार में भानमती का आना है। अब तक अभियोग नीरस और अरुचिकर था। दूजी के आगमन ने उसमें प्राण डाल दिये। न्यायालय में एक भीड़ लग गयी। मवक्किल और वकील, अमले और दूकानदार, असावधानी की दशा में इधर-उधर से दौड़ते हुए चले आते थे। प्रत्येक पुरुष उसको देखने का इच्छुक था। सहस्रों नेत्र उसके मुखड़े की तरफ देखते थे और वह जनसमूह में शान्ति की मूर्ति बनी हुई निश्चल खड़ी थी।

इस घटना की प्रत्येक पुरुष अपनी-अपनी समझ के अनुसार आलोचना करता था। वृद्धजन कहते थे—बेहया है, ऐसी लड़की का तो सिर काट लेना चाहिए। भाइयों ने वही किया जो मर्दों का काम था। इस निर्लज्ज को तो देखो कि अपना परदा ढाँकने के बदले उसका डंका बजा रही है और भाइयों को भी डुबाये देती है। आँखों का पानी गिर गया है। ऐसी न होती तो यह दिन ही क्यों आता!

मगर नवयुवक, स्वतन्त्रता पर जान न्योछावर कर देनेवाले वकीलों और अमलों में उसके साहस और निर्भयता की प्रशंसा हो रही थी। उनकी समझ में जब यहाँ तक नौबत आ गयी थी तो भाइयों का धर्म था कि दोनो का ब्याह कर देते।

कई वृद्ध वकीलों की अपने नवयुवक मित्रों से कुछ छेड़-छाड़ हो गयी। एक फैशनेबुल बैरिस्टर साहब ने हँसकर कहा—'मित्र, और तो जो कुछ है सो है, यह स्त्री सहस्रों में एक है; रानी मालूम होती है।' सर्वसाधारण ने इसका समर्थन किया। कुँवर विनयकृष्ण इस समय कचहरी से उठे थे। बैरिस्टर साहब की बात सुनी और घृणा से मुँह फेर लिया। वह सोच रहे थे कि जिस स्त्री के क्रोध मे इतनी ज्वाला है क्या उसका प्रेम भी इसी प्रकार ज्वालापूर्ण होगा।

( ८ )

दूसरे दिन फिर दस बजे मुकदमा पेश हुआ। कमरे में तिल रखने की

भी जगह न थी। दूजी कटघरे के पास सिर झुकाये खड़ी थी। दोनो भाई कई कान्सटेबलों के बीच में चुपचाप खड़े थे। कुँवर विनयकृष्ण ने उन्हें सम्बोधित करके उच्च-स्वर से कहा—ठाकुर शानसिंह, गुमानसिंह, तुम्हारी बहिन ने तुम्हारे सम्बन्ध में अदालत में जो-कुछ बयान किया है उसका तुम्हारे पास क्या उत्तर है ?

शानसिंह ने गर्वपूर्ण भाव से उत्तर दिया—बहिन ने जो कुछ बयान किया है वह सब सत्य है। हमने अपना अपराध इसलिए छिपाया था कि हम बदनामी और बेइज्जती से डरते थे। किन्तु अब जब हमारी बदनामी जो-कुछ होनी थी हो चुकी तो हमको अपनी सफाई देने की कोई आवश्यकता नहीं। ऐसे जीवन से अब मृत्यु ही उत्तम है। ललनसिंह से हमारी हार्दिक मित्रता थी। आपस में कोई विभेद न था। हम उसे अपना भाई समझते थे। किन्तु उसने हमको धोखा दिया। उसने हमारे कुल में कलङ्क लगा दिया और हमने उसका बदला लिया। उसने चिकनी-चुपड़ी बातों द्वारा हमारी इज्जत लेनी चाही। किन्तु हम अपने कुल की मर्यादा इतनी सस्ती नहीं बेच सकते थे। स्त्रियाँ ही कुल-मर्यादा की सम्पत्ति होती हैं। मर्द उसके रक्षक होते हैं। जब इस सम्पत्ति पर कपट का हाथ उठे तो मर्दों का धर्म है कि रक्षा करें। इस पूँजी को अदालत का कानून, परमात्मा का भय या सद्विचार नहीं बचा सकता। हमको इसके लिए न्यायालय से जो दण्ड प्राप्त हो वह शिरोधार्य है।

जज ने शानसिंह की बात सुनी। कचहरी में सन्नाटा छा गया और सन्नाटे की दशा में उन्होंने अपना फैसला सुनाया। दोनो भाइयों को हत्या के अपराध में १५ वर्ष कालेपानी का दण्ड मिला।

( ६ )

सायंकाल हो गया था। दोनो भाई कान्स्टेबलों के बीच में कचहरी से बाहर निकले। हाथों में हथकड़ियाँ थीं, पाँवों में बेड़ियाँ। हृदय अपमान से संकुचित और सिर लज्जा के बोझ से झुके हुए थे। मालूम होता था मानो सारी पृथ्वी हम पर हँस रही है।

दूजी पृथ्वी पर बैठी हुई थी कि उसने कैदियों के आने की आहट सुनी, उठ खड़ी हुई। भाइयों ने भी उसकी ओर देखा। परन्तु हाय ! उन्हें ऐसा ज्ञात हुआ

कि यह भी हमारे ऊपर हँस रही है। घृणा से नेत्र फेर लिये। दूजी ने भी उन्हें देखा। किन्तु क्रोध और घृणा से नहीं, केवल एक उदासीन भाव से। जिन भाइयों की गोद में खेली और जिनके कंधों पर चढ़कर बाल्यावस्था व्यतीत की, जिन भाइयों पर जान न्यौछावर करती थी, आज वही दोनों भाई काले-पानी को जा रहे हैं, जहाँ से कोई लौटकर नहीं आता और उसके रक्त में तनिक भी गति नहीं होती! रुधिर भी द्वेष से जल की भाँति जम जाता है! सूर्य की किरणें वृक्षों की डालियों से मिलीं, फिर जड़ों को चूमती हुई चल दीं। उनके लिए अंधकार गोद फैलाये हुए था। क्या इस अभागिनी स्त्री के लिए भी संसार में कोई ऐसा आश्रय नहीं था?

आकाश की लालिमा नीलावरण हो गयी। तारों के कँवल खिले। वायु के लिए पुष्प-शय्या बिछ गयी। ओस के लिए हरी मखमल का फर्श बिछ गया, किन्तु अभागिनी दूजी उसी वृक्ष के नीचे शिथिल बैठी थी। उसके लिए संसार में कोई स्थान न था। अब तक जिसे वह अपना घर समझती थी, उसके दर-वाजे उसके लिए बन्द थे। वहाँ क्या मुँह लेकर जाती? नदी को अपने उद्-गम से चलकर अथाह समुद्र के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं ठिकाना नहीं है।

दूजी उसी तरह निराशा के समुद्र में निमग्न हो रही थी, कि एक वृद्ध स्त्री उसके सामने आकर खड़ी हो गयी। दूजी चौंककर उठ बैठी। वृद्ध स्त्री ने उसकी ओर आश्चर्यान्वित होकर कहा—इतनी रात बीत गयी, अभी तक तुम यहीं बैठी हो?

दूजी ने चमकते हुए तारों की ओर देखकर कहा—कहा जाऊँ? इन शब्दों में कैसा हृदय-विदारक आशय छिपा हुआ था। कहाँ जाय? संसार में उसके लिए अपमान की गली के सिवा और कोई स्थान नहीं था।

बुढ़िया ने प्रेममय स्वर में कहा—बेटी, भाग्य में जो कुछ लिखा है वह तो होकर ही रहेगा, किन्तु तुम कब तक यहाँ बैठी रहोगी! मैं दीन ब्राह्मण हूँ। चलो मेरे घर रहो; जो कुछ भिक्षा-भवन माँगे मिलेगा उसी में हम दोनों निर्वाह कर लेंगी। न-जाने पूर्वजन्म में हमसे-तुमसे क्या सम्बन्ध था? जब से तुम्हारी दशा सुनी है, बेचैन हूँ। सारे शहर में आज घर-घर तुम्हारी चर्चा हो रही है। कोई कुछ कहता है, कोई कुछ। बस अब उठो, यहाँ सन्नाटे में पड़े रहना अच्छा

नहीं। समय बुरा है। मेरा घर यहाँ से थोड़ी ही दूर पर है। नारायण का दिया बहुत कुछ है। मैं भी अकेली से दुकेली हो जाऊँगी। भगवान किसी-न-किसी प्रकार दिन काट ही देंगे।

एक घने, सुनसान, भयानक वन में भटका हुआ मनुष्य जिधर पगडण्डियों का चिह्न पाता है उसी मार्ग को पकड़ लेता है; वह सोच-विचार नहीं करता कि यह मार्ग मुझे कहाँ ले जायगा। दूजी इस बुढ़िया के साथ चली। इतनी ही प्रसन्नता से कुएँ में कूद पड़ती। वायु में उड़नेवाली चिड़िया दाने पर गिरी। क्या इन दानों के नीचे जाल बिछा हुआ था!

( १० )

दूजी को बूढ़ी कैलाशी के साथ रहते हुए एक मास बीत गया। कैलाशी देखने में दीन किन्तु मन की धनी थी। उसके पास संतोष रूपी धन था जो किसी के सामने हाथ नहीं फैलाता। रीवाँ के महाराज के यहाँ से कुछ सहायता मिलती थी। यही उसके जीवन का अवलम्ब था। वह सर्वदा दूजी को ढाढ़स देती रहती थी। ज्ञात होता था कि यह दोनो माँ बेटी हैं। एक ओर से पूर्ण सहानुभूति और ढाढ़स, दूसरी ओर से सच्ची सेवकाई और विश्वास। कैलाशी कुछ हिन्दी जानती थी। दूजी को रामायण और सीता-चरित्र सुनाती। दूजी इन कथाओं को बड़े प्रेम से सुनती। उज्ज्वल वस्त्र पर रङ्ग भली-भाँति चढ़ता है। जिस दिन उसने सीता-वनवास की कथा सुनी वह सारे दिन रोती रही। सोई तो सीता की मूर्ति उसके सामने खड़ी थी। उनके शरीर पर उज्ज्वल साड़ी थी, आँखों में आँसू और आँसू की ओट में प्यार छिपा हुआ था। दूजी हाथ फैलाये हुए लड़कों की भाँति उनकी तरफ दौड़ी। माता, मुझको भी साथ लेती चलो। मैं वन में तुम्हारी सेवा करूँगी। तुम्हारे लिए पुष्प-शय्या बिछाऊँगी। तुमको कमल के थालों में फलों का भोजन कराऊँगी। तुम वहाँ अकेली एक बुड्ढे साधु के साथ कैसे रहोगी? मैं तुम्हारे चित्त को प्रसन्न रखूँगी। जिस समय हम और तुम वन में किसी सागर के किनारे घने वृक्षों की छाया में बैठेंगी उस समय मैं वायु की धीमी-धीमी लहरों के साथ गाऊँगी।

माता ने उसको तिरस्कार से देखकर कहा—तू कलङ्किनी है, मैं तुझे स्पर्श नहीं कर सकती। तपस्या की आँच में अपने को पवित्र कर।

दूजी की आँखें खुल गयीं। उसने निश्चय किया, मैं इस कलङ्क को मिटाऊँगी। आकाश के नीले समुद्र में तारागण पानी के बुलबुले की भाँति मिटते जाते थे। दूजी ने उन झिलमिलाते हुए तारों को देखा। मैं भी उन्हीं तारों की तरह सबके नेत्रों से छिप जाऊँगी। उन्हीं बुलबुलों की भाँति मिट जाऊँगी।

विलासियों की रात हुई। संयोगी जागे। चक्कियों ने अपने सुहावने राग छेड़े। कैलाशी स्नान करने चली तब दूजी उठी और जङ्गल की ओर चल दी। चिड़िया पंखहीन होने पर भी सुनहरे पिंजड़े में न रह सकी।

( ११ )

प्रकाश की एक धुँधली-सी झलक में कितनी आशा, कितना बल, कितना आश्वासन है, यह उस मनुष्य से पूछो जिसे अँधेरे ने एक घने बन में घेर लिया है। प्रकाश की वह प्रभा उसके लड़खड़ाते हुए पैरों को शीघ्रगामी बना देती है; उसके शिथिल शरीर में जान डाल देती है। जहाँ एक-एक पग रखना दुस्तर था वहाँ इस जीवन-प्रकाश को देखते हुए यह मीलों और कोसों तक प्रेम की उमंगों में उछलता हुआ चला जाता है।

परन्तु दूजी के लिए आशा की यह प्रभा कहाँ थी? वहाँ भूखी-प्यासी उन्मद की दशा में चली जाती थी।

शहर पीछे छूटा। बाग और खेत आये; खेतों में हरियाली थी, वाटिकाओं में वसन्त की छटा; मैदान और पर्वत मिले; मैदानों से बाँसुरी की सुरीली रागें आती थीं; पर्वतों के शिखर मोरों की झनकार से गूँज रहे थे।

दिन चढ़ने लगा। सूर्य उसकी ओर आता हुआ दिखाई पड़ा। कुछ काल तक उसके साथ रहा। कदाचित् रूठे को मनाता था। पुनः अपनी राह चला गया। वसन्त ऋतु की शीतल, मन्द, सुगन्धित वायु चलने लगी, खेतों ने कुहरे की चादरें ओढ़ लीं; रात हो गयी और दूजी एक पर्वत के किनारे झाड़ियों में उलझती, चट्टानों से टकराती चली जाती थी, मानो किसी झील की मन्द-मन्द लहरों में किनारे पर उगे हुए झाऊ के पौधों का साया थरथरा रहा हो। इस प्रकार अज्ञात की खोज में अकेली निर्भय वह गिरती-पड़ती चली जाती थी। यहाँ तक की भूख-प्यास और अधिक श्रम के कारण उसकी शक्तियों ने जवाब दे दिया। वह एक शिला पर बैठ गया और भयमीत दृष्टि से इधर-उधर देखने

लगी। दाहिने-बायें ओर अन्धकार के उच्च पर्वत-शिखरों पर तारे जगमगा रहे थे। सामने एक टीला मार्ग रोके खड़ा था और समीप ही किसी जलधारा से दबी हुई सायँ-सायँ की आवाज सुनाई देती थी।

( १२ )

दूजी थककर चूर हो गयी थी। पर उसे नींद न आयी। सर्दी से कलेजा काँप रहा था। वायु के निर्दयी झोंके लेशमात्र भी चैन न लेने देते थे। कभी-कभी एक क्षण के लिए आँखें झपक जातीं और फिर चौंक पड़तीं। रात्रि ज्यों-त्यों व्यतीत हुई, सवेरा हुआ। चट्टान से कुछ दूर एक घना पाकड़ का वृक्ष था, जिसकी जड़ें सूखे पत्थरों से चिमटकर यों रस खींचती थीं जैसे कोई महाजन दीन असामियों को बाँधकर उनसे ब्याज के रुपये वसूल करता है। इस वृक्ष के सामने कई छोटी-छोटी चट्टानों ने मिलकर एक कोठरी की आकृति बना रखी थी। दाहिने ओर लगभग दो सौ गज की दूरी पर नीचे की ओर पयस्विनी नदी चट्टानों और पाषाण-शिलाओं से उलझती, घूमती-घामती बह रही थी, जैसे कोई दृढ़-प्रतिज्ञ मनुष्य बाधाओं का ध्यान न कर अपने इष्ट-साधन के मार्ग पर बढ़ता चला जाता है। नदी के किनारे साधु प्रकृति बगुले चुपचाप मौनव्रत धारण किये हुए बैठे थे। संतोषी जलपक्षी पानी में तैर रहे थे। लोभी टिटि-हरियाँ नदी पर मँडराती थीं और रह-रहकर मछलियों की खोज में टूटती थीं। खिलाड़ी मैने निःशङ्क अपने परों को खुजला-खुजला स्नान कर रहे थे और चतुर कौवे झुण्ड-के-झुण्ड भोजन-सम्बन्धी प्रश्न को हल कर रहे थे। एक वृक्ष के नीचे मोरों की सभा सुसज्जित थी और वृक्षों की शाखाओं पर कबूतर आनन्द कर रहे थे। एक दूसरे वृक्ष पर महाशय काग एवं श्रीमान् पं० नील-कण्ठजी घोर-शास्त्रार्थ में प्रवृत्त थे। महाशय काग ने छेड़ने ही के लिए पंडित-जी के निवासस्थान की ओर दृष्टि डाली थी। इस पर पंडितजी इतने क्रोधित हुए कि महाशय काग के पीछे पड़ गये। महाशय काग अपनी स्वाभाविक बुद्धिमत्ता को काम में लाकर सहज में भाग खड़े हुए। श्रीमान पंडितजी बुरा-भला कहते हुए काग के पीछे पड़े। किसी भाँति महाशयजी की सर्वज्ञता ने उनकी जान बचायी।

थोड़ी देर में जंगली नीलगायों का एक झुण्ड आया। किसी ने पानी पिया,

किसी ने सूँघकर छोड़ दिया। दो-चार युवावस्था के मतवाले हिरण आपस में सींगें मिलाने लगे। फिर एक काला हिरण अभिमान-भरे नेत्रों से देखता ऐंड़-ऐंड़कर पग उठाता कुछ मृगनयनियों को साथ लिये नदी के किनारे आया। बच्चे थोड़ी दूर पर खेलते हुए चले आते थे। कुछ और हटकर एक वृक्ष के नीचे बन्दरों ने अपने डेरे डाल रखे थे। बच्चे क्रीड़ा करते थे। पुरुषों में छेड़छाड़ हो रही थी। रमणियाँ सानन्द बैठी हुई एक-दूसरी के बालों से जुँएँ निकालती थीं और उन्हें अपने मुँह में रखती जाती थीं। दूजी एक चट्टान पर अर्द्धनिद्रा की दशा में बैठी हुई यह दृश्य देख रही थी। घाम के कारण निद्रा आ गयी। नेत्रपट बन्द हो गये।

( १३ )

प्रकृति की इस रङ्गभूमि में दूजी ने अपने चौदह वर्ष व्यतीत किये। वह प्रतिदिन प्रातःकाल इसी नदी के किनारे शिलाओं पर बैठी यही दृश्य देखती और लहरों की कारुणिक ध्वनि सुनती। उसी नदी कि भाँति उसके मन में लहरें उठतीं, जो कभी धैर्य और साहस के किनारों पर चढ़कर नेत्रो द्वारा बह निकलतीं। उसे मालूम होता कि बन के वृक्ष तथा जीव-जन्तु सब मेरी ओर व्यंगपूर्ण नेत्रों से देख रहे हैं। नदी भी उसे देखकर क्रोध से मुँह में फेन भर लेती। जब यहाँ बैठे-बैठे उसका जी ऊब जाता तो वह पर्वत पर चढ़ जाती और दूर तक देखती। पर्वतों के बीच में कहीं-कहीं मिट्टी के घरौंदे की भाँति छोटे-छोटे मकान दिखाई देते, कहीं लहलहाती हुई हरियाली। सारा दृश्य एक नवीन बाटिका की भाँति मनोरम था! उसके दिल में एक तीव्र इच्छा होती कि उड़कर उन चोटियों पर जा पहुँचती। नदी के किनारे या पाकड़ की घनी छाया में बैठी हुई घण्टों सोचा करती। बचपन के वे दिन याद आ जाते जब वह सहेलियों के गले में बाँहें डालकर महुए चुनने जाया करती थी। फिर गुड़ियों के ब्याह का स्मरण हो आता, पुनः अपनी प्यारी मातृभूमि का पनघट आँखों में फिर जाता। आज भी वहाँ वही भीड़ होगी, वही हास्य, चहल-पहल। पुनः अपना घर ध्यान में आता और वह गाय स्मरण आती जो कि उसको देखकर हुँकरती हुई अपने प्रेम का परिचय देती थी। मुन्नू स्मरण हो आता जो उसके पीछे-पीछे छलाँगे मारता हुआ खेतों में जाया करता, जो बर्तन धोते समय

बारम्बार बर्तनों में मुँह डालता। तब ललनसिंह नेत्रों के सामने आकर खड़े हो जाते थे। होठों पर वही मुस्कराहट, नेत्रों में वही चञ्चलता। तब वह उठ खड़ी होती और अपने मन को दूसरी ओर ले जाने की चेष्टा करती।

दिन गुजरते थे किन्तु बहुत धीरे-धीरे। वसन्त आया। सेमल की लालिमा एवं कचनार की ऊदी पुष्प-माला अपनी यौवन छटा दिखलाने लगी। मकोय के फूल महके। गर्मी का प्रारम्भ हुआ—प्रातःकाल समीर के झोंके, दोपहर की लू जलती हुई लपट। डालियाँ फलों से लदीं। फिर वह समय आया कि जब दिन को न सुख था और न रात को नींद। दिन तड़पता था, रात जलती थी, नदियाँ बधिकों के हृदयों की भाँति सूख गयीं। वन के पशु मध्याह्न की धूप में प्यास के कारण जिह्वा निकाले पानी की खोज में इधर-उधर दौड़ते फिरते थे। जिस प्रकार द्वेष से भरे हुए दिल तनिक-तनिक-सी बातों पर जल उठते हैं उसी प्रकार गर्मी से जलते हुए वन-वृक्ष कभी-कभी वायु के झोंकों से परस्पर रगड़ खाकर जल उठते थे। ज्वाला ऊँची उठती थी, मानो अग्निदेव ने तारागणों पर धावा मारा है। वन में एक भगदड़-सी पड़ जाती। फिर आँधी और तूफान के दिन आये। वायु की देवी गरजती हुई आती। पृथ्वी और आकाश थर्रा उठते, सूर्य छिप जाता; पर्वत भी काँप उठते। पुनः वर्षाऋतु का जन्म हुआ। वर्षा की झड़ी लगी। वन लहराये, नदियों ने पुनः अपने सुरीले राग छेड़े। पर्वतों के कलेजे ठण्डे हुए। सूखे मैदानों में हरियाली छाई। सारस की ध्वनि पर्वतों में गूँजने लगी। आषाढ़ मास में बाल्यावस्था का अल्हड़पन था। श्रावण में युवावस्था के पग बढ़े, फुहारें पड़ने लगीं। भादों कमाई के दिन थे, जिसने झीलों के कोष भर दिये। पर्वतों को धनाढ्य कर दिया। अन्त में बुढ़ापा आता। काँस के उज्ज्वल बाल लहराने लगे। जाड़ा आ पहुँचा।

( १४ )

इस प्रकार ऋतु का परिवर्तन हुआ। दिन और महीने गुजरे। वर्ष आये और गये। किन्तु दूजी ने विन्ध्याचल के उस किनारे को न छोड़ा। गर्मियों के भयानक दिन और वर्षा की भयावनी रातें सब उसी स्थान पर काट दीं। क्या भोजन करती थी, क्या पहनती थी, इसकी चर्चा व्यर्थ है। मन

पर चाहे जो बीते, किन्तु भूख और ऋतु-सम्बन्धी कष्ट का निवारण करना ही पड़ता है। प्रकृति की थाली सजी हुई थी। कभी वनबेरों और शरीफों के पकवान थे, कभी तेंदू, कभी मकोय और कभी राम का नाम। वस्त्रों के लिए चित्रकूट के मेले में साल में केवल एक बार जाती। मोरों के पर, हिरणों की सींगें, वन-औषधियाँ महँगे दामों बिकतीं। कपड़ा भी आया, बर्तन भी आया। यहाँ तक कि दीपक जैसी विलास-वस्तु भी एकत्र हो गयी। एक छोटी-सी गृहस्थी जम गयी।

दूजी ने निराशा की दशा में संसार से विमुख होकर जीवन व्यतीत करना जितना सहज समझा था उससे कहीं कठिन मालूम हुआ। आत्मानुराग में निमग्न वैरागी तो बन में रह सकता है परन्तु एक स्त्री, जिसकी अवस्था हँसने-खेलने में व्यतीत हुई हो बिना किसी नौका के सहारे विराग सागर को किस प्रकार पार करने में समर्थ हो सकती है? दो वर्ष के पश्चात् दूजी को एक-एक दिन वहाँ वर्ष-सा प्रतीत होने लगा। कालक्षेप करना दुस्तर हो गया। घर की सुधि एक क्षण भी विस्मृत न होती। कभी-कभी वह इतनी व्यग्र होती कि क्षणमात्र के लिए अपमान का भी भय न रहता। यह दृढ़ विचार करके उन पहाड़ियों के बीच शीघ्रता से पग बढ़ाती। घर की ओर चलती, मानो कोई अपराधी कारागार से भागा जा रहा हो। किन्तु पहाड़ियों की सीमा के बाहर आते ही उसके पग स्वयं रुक जाते। वह आगे न बढ़ सकती। तब वह एक ठंढी साँस भरकर एक शिला पर बैठ जाती और फूट-फूटकर रोती। फिर वही भयानक रात्रि और वही सघन कुञ्ज, वही नदी की भयावनी गरज और शृगालों की वही विकराल ध्वनि!

'ज्यों-ज्यों भीजै कामरी, त्यों-त्यों भारी होय'। भाग्य को धिक्कारते-धिक्कारते उसने ललनसिंह को धिक्कारना आरम्भ किया। एकान्तवास ने उसमें आलोचना और विवेचना की शक्ति पैदा कर दी। मैं क्यों इस वन में मुँह छिपाये दुःख के दिन व्यतीत कर रही हूँ? यह उसी निर्दयी ललनसिंह की लगायी आग है। कैसे सुख से रहती थी! उसी ने आकर मेरे झोपड़े में आग लगा दी। मैं अबोध और अनजान थी। उसने जान-बूझकर मेरा जीवन भ्रष्ट कर डाला। उसने मुझे अपने आमोद का केवल एक खिलौना बनाया था।

यदि उसे मुझसे प्रेम होता तो क्या वह मुझसे विवाह न कर लेता ? वह भी तो चन्देल ठाकुर था । हाय ! मैं कैसी अज्ञान थी । अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारी । इस प्रकार मन से बातें करते-करते ललनसिंह की मूर्ति उसके नेत्रों के सम्मुख आ जाती तो वह घृणा से मुँह फेर लेती । वह मुस्कराहट जो उसका मन हर लिया करती था, वह प्रेममय मृदुभाषण जो उसकी नसों में सनसनाहट पैदा कर देता था, क्रीड़ामय हाव-भाव जिन पर वह मतवाली हो जाती थी, अब उसे एक दूसरे ही रूप में दृष्टिगोचर होते । उनमें अब प्रेम की झलक न थी । वह अब कपट-प्रेम और काम-तृष्णा के गाढ़े रंग में रँगे हुए दिखाई देते थे । वह प्रेम का कच्चा घरौंदा जिसमें वह गुड़िया बनी बैठी थी, वायु के एक झोंके में सँभला, परन्तु जल के प्रबल प्रवाह में न सँभल सका । वह अब अभागी गुड़िया निर्दयी चट्टानों पर पटक दी गयी है कि रो-रोकर जीवन के दिन काटे । उन गुड़ियों की भाँति जो गोटे-पट्टे और आभूषणों से सजी हुई, मखमली पिटारे में भोग-विलास करने के पश्चात्, नदी और तालाब में बहा दी जाती हैं, डूबने के लिए और तरंगों में थपेड़े खाने के लिए ।

ललनसिंह की तरफ से फिरते ही दूजी का मन एक अधीरता के साथ भाइयों की ओर मुड़ा । मैं अपने साथ उन बेचारों को व्यर्थ ले डूबी । मेरे सिर पर उस घड़ी न जाने कौन-सा भूत सवार था । उन बेचारों ने तो जो कुछ किया मेरी मर्यादा रखने के लिए किया । मैं तो उन्मत्त हो रही थी । समझाने-बुझाने से क्या काम चलता और समझाना-बुझाना तो स्त्रियों का काम है । मर्दों का समझाना तो उसी ढङ्ग का होना चाहिए और होता ही है । नहीं मालूम उन बेचारों पर क्या बीती ! क्या मैं उन्हें फिर कभी देखूँगी । यह विचारते-विचारते भाइयों की वह मूर्ति उसके नेत्रों में फिर जाती जो उसने अन्तिम बार देखी थी, जब वह उस देश को जा रहे थे जहाँ से लौटकर फिर आना मानो मृत्यु के मुख से निकल आना है—वह रक्त-वर्ण नेत्र, वह अभिमान से भरी हुई चाल, वह फिरे हुए नेत्र जो एक बार उसकी ओर उठ गये थे । आह ! उनमें क्रोध या द्वेष न था, केवल क्षमा था । वह मुझ पर क्रोध क्या करते ! फिर अदालत के इजलास का चित्र नेत्रों के सामने खिंच जाता । भाइयों के वह तेवर, उनकी वह आँखें, जो क्षणमात्र के लिए क्रोधाग्नि से फैल गयी थीं, फिर उनकी प्यार की बातें,

उनका प्रेम स्मरण आता। पुनः वे दिन याद आते जब वह उनकी गोद में खेलती थी, जब वह उनकी उँगली पकड़कर खेतों को जाया करती थी। हाय! क्या वह दिन भी आयेंगे कि मैं उनको पुनः देखूँगी।

एक दिन वह था कि दूजी अपने भाइयों के रक्त की प्यासी थी, निदान एक दिन आया कि वह पयस्विनी नदी के तट पर कङ्कड़ियों द्वारा दिनों की गणना करती थी। एक कृपण जिस सावधानी से रुपयों को गिन-गिनकर इकट्ठा करता है उसी सावधानी से दूजी इन कङ्कड़ियों को गिन-गिनकर इकट्ठा करती थी। नित्य संध्याकाल वह इस ढेर में पत्थर का एक टुकड़ा और रख देती तो उसे क्षणमात्र के लिए मानसिक सुख प्राप्त होता। इन कङ्कड़ियों का ढेर अब उसका जीवन-धन था। दिन में अनेकों बार इन टुकड़ों को देखती और गिनती। असहाय पक्षी पत्थर के ढेरों से आशा के खोते बनाता था।

यदि किसी को चिन्ता और शोक की मूर्ति देखनी हो तो वह पयस्विनी नदी के तट पर प्रतिदिन सायंकाल देख पड़ती है। डूबते हुए सूर्य की किरणों की भाँति उसका मुख-मण्डल पीला है। वह अपने दुःखमय विचारों में डूबी हुई, तरङ्गों की ओर दृष्टि लगाये बैठी रहती है। यह तरंगें इतनी शीघ्रता से कहाँ जा रही हैं? मुझे भी अपने साथ क्यों नहीं ले जातीं? क्या मेरे लिए वहाँ भी स्थान नहीं है? कदाचित् शोक-क्रन्दन में यह भी मेरी सङ्गिनी है! तरङ्गों की ओर देखते-देखते उसे ज्ञात होता है कि मानो वह स्थिर हो गयी और मैं शीघ्रता से बही जा रही हूँ। तब वह चौंक पड़ती है और अँधेरी शिलाओं के बीच मार्ग खोजती हुई फिर अपने शोक-स्थल पर आ जाती है।

इसी प्रकार दूजी ने अपने दुःख के दिन व्यतीत किये। तीस-तीस ढेलों के बारह ढेर बन गये; तब उसने उन्हें एक स्थान पर इकट्ठा कर दिया। वह आशा का मन्दिर उसी हार्दिक अनुराग से बनता रहा जो किसी भक्त को अपने इष्ट-देव के साथ होता है। रात्रि के बारह घण्टे बीत गये। पूर्व की ओर प्रातःकाल का प्रकाश दिखाई देने लगा। मिलाप का समय निकट आया। इच्छारूपी अग्नि की लपट बढ़ी। दूजी उन ढेरों को बार-बार गिनती, महीनों के दिनों की गणना करती। कदाचित् एक दिन भी कम हो जाय। हाय! आजकल उसके मन की वह दशा थी जो प्रातःकाल सूर्य के सुनहरे प्रकाश में हलकोरे लेनेवाले सागर

की होती है जिसमें वायु की तरङ्गों से मुस्कराता हुआ कमल झूलता है।

( १५ )

आज दूजी इन पर्वतों और वनों से विदा होती है। वह दिन आ पहुँचा जिसकी राह देखते-देखते एक पूरा युग बीत गया। आज चौदह वर्ष के पश्चात् उसकी प्यासी अलकें नदी में लहरा रही हैं। बरगद की जटाएँ नागिन बन गयी हैं।

उस सुनसान वन से उसका चित्त कितना दुखित था। किन्तु आज उससे पृथक् होते हुए दूजी के नेत्र भर-भर आते हैं। जिस पाकड़ की छाया में उसने दुःख के दिन बिताये, जिस गुफा में उसने रो-रोकर रातें काटीं उसे छोड़ते आज शोक हो रहा है। यह दुःख के साथी हैं।

सूर्य की किरणें दूजी की आशाओं की भाँति कुहरे की घटाओं को हटाती चली आती थीं। उसने अपने दुःख के मित्रों को अब पूर्ण नेत्रों से देखा। पुनः ढेरों के पास गयी, जो उसके चौदह वर्ष की तपस्या के स्मारक चिह्न थे। उन्हें एक-एक कर चूमा, मानो वह देवीजी के चबूतरे हैं। तब वह रोती हुई चली जैसे लड़कियाँ ससुराल को चलती हैं।

सन्ध्या समय उसने शहर में प्रवेश किया और पता लगाते हुए कैलाशी के घर पर आयी। घर सूना पड़ा था। तब वह विनयकृष्ण बघेल का घर पूछते-पूछते उनके बँगले पर आयी। कुँवर महाशय टहलकर आये ही थे कि उसे खड़ी देखा। पास आये। उसके मुख पर घूँघट था। दूजी ने कहा—महाराज मैं एक अनाथ दुखिया हूँ।

कुँवर साहब ने आश्चर्य से पूछा—तुम दूजी हो! तुम इतने दिनों तक कहाँ रहीं?

कुँवर साहब के प्रेम-भाव ने घूँघट और बढ़ा दिया। इन्हें मेरा नाम स्मरण है, यह सोचकर दूजी का कलेजा धड़कने लगा। लज्जा से सिर नीचे झुक गया। लजाती हुई बोली—जिसका कोई हितू नहीं है उसका वन के सिवाय अन्यत्र कहाँ ठिकाना है। मैं भी वनों में रही। पयस्विनी नदी के किनारे एक गुफा में पड़ी रही।

कुँवर साहब विस्मित हो गये। चौदह वर्ष और नदी के किनारे गुफा में!

क्या कोई संन्यासी इससे अधिक त्याग कर सकता है ? वह आश्चर्य से कुछ न बोल सके।

दूजी उन्हें चुपचाप देखकर बोली—मैं कैलाशी के घर से सीधे पर्वतों में चली गयी और वहीं इतने दिन व्यतीत किये। चौदह वर्ष पूरे हो गये। जिन भाइयों की गरदन पर छूरी चलाई उनके छुटने के दिन अब आये हैं। नारायण उन्हें अब कुशलपूर्वक लावें। मैं चाहती हूँ कि उनके दर्शन करूँ और उनकी ओर से मेरे दिल में जो इच्छाएँ हैं पूर्ण हो जायँ।

कुँवर साहब बोले—तुम्हारा हिसाब बहुत ठीक है। मेरे पास आज कलकत्ते से सरकारी पत्र आया है कि दोनो भाई चौदह तारीख को कलकत्ता पहुँचेंगे, उनके सम्बन्धियों को सूचना दे दी जाय। यहाँ कदाचित् दो-तीन दिन में आ जायँगे। मैं सोच ही रहा था कि सूचना किसे दूँ।

दूजी ने विनयपूर्वक कहा—मेरा जी चाहता है कि वे जहाज पर से उतरें तो मैं उनके पैरों पर माथा नवाऊँ, उसके पश्चात् मुझे संसार में कोई अभिलाषा न रहेगी। इसी लालसा ने मुझे इतने दिनों तक जिलाया है। नहीं तो मैं आपके सम्मुख कदापि न खड़ी होती।

कुँवर विनयकृष्ण गम्भीर स्वभाव के मनुष्य थे। दूजी के आन्तरिक रहस्य उनके चित्त पर एक गहरा प्रभाव डालते जाते थे। जब सारी अदालत दूजी पर हँसती थी तब उन्हें उसके साथ सहानुभूति थी और आज उसका वृत्तान्त सुनकर वे इस ग्रामीण स्त्री के भक्त हो गये। बोले—यदि तुम्हारी यही इच्छा है तो मैं स्वयं तुम्हें कलकत्ता पहुँचा दूँगा। तुमने उनसे मिलने की जो रीति सोची है उससे उत्तम ध्यान में नहीं आ सकती, परन्तु तुम खड़ी हो और मैं बैठा हूँ, यह अच्छा नहीं लगता। दूजी, मैं बनावट नहीं करता, जिसमें इतना त्याग और संकल्प हो वह यदि पुरुष है तो देवता है, स्त्री है तो देवी है। जब मैंने तुम्हें पहले देखा उसी समय मैंने समझ लिया था कि तुम साधारण स्त्री नहीं हो। जब तुम कैलाशी के घर से चली गयीं तो सब लोग यही कहते थे कि तुम जान पर खेल गयीं। परन्तु मेरा मन कहता था कि तुम जीवित हो। नेत्रों से पृथक् होकर भी तुम मेरे ध्यान से बाहर न हो सकीं। मैंने वर्षों तुम्हारी खोज की, मगर तुम ऐसे खोह में जा छिपी थीं कि तुम्हारा कुछ पता न चला।

इन बातों में कितना अनुराग था! दूजी को रोमाञ्च हो गया। हृदय बल्लियों उछलने लगा। उस समय उसका मन चाहता था कि इनके पैरों पर सिर रख दूँ। कैलाशो ने एक बार जो बात उससे कही थी, वह बात उसे इस समय स्मरण आयी। उसने भोलेपन से पूछा—क्या आप-ही के कहने से कैलाशी ने मुझे अपने घर में रख लिया था?

कुँवर साहब लज्जित होकर बोले—मैं इसका उत्तर कुछ न दूँगा।

रात को जब दूजी एक ब्राह्मणी के घर में नर्म बिछावन पर लेटी हुई थी तो उसके मन की वह दशा हो रही थी जो आश्विन मास के आकाश की होती है। एक ओर चन्द्र-प्रकाश, दूसरी ओर घनी घटा और तीसरी ओर झिलमिलाते हुए तारे।

(१६)

प्रातःकाल का समय था। गङ्गा नामक स्टीमर बङ्गाल की खाड़ी में साभिमान गर्दन उठाये समुद्र की लहरों को पैरों से कुचलता हुगली के बन्दरगाह की ओर चला आता था। डेढ़ सहस्र से अधिक आदमी उसकी गोद में थे। अधिकतर व्यापारी थे। कुछ वैज्ञानिक तत्वों के अनुरागी, कुछ भ्रमण करनेवाले और कुछ ऐसे हिन्दुस्तानी मजदूर जिनको अपनी मातृभूमि आकर्षित कर रही थी। उसी में दोनो भाई शानसिंह और गुमानसिंह एक कोने में बैठे निराशा की दृष्टि से किनारे की ओर देख रहे थे। दोनो हड्डियों के दो ढाँचे थे, उन्हें पहचानना कठिन था।

जहाज घाट पर पहुँचा। यात्रियों के मित्र और परिचितजन किनारे पर स्वागत करने के लिए अधीर हो रहे थे। जहाज पर से उतरते ही प्रेम की बाढ़ आ गयी। मित्रगण परस्पर हाथ मिलाते थे। उनके नेत्र प्रेमाश्रु से परिपूर्ण थे। यह दोनो भाई शनैः-शनैः जहाज से उतरे, मानो किसी ने ढकेलकर उतार दिया। उनके लिए जहाज के तख्ते और मातृभूमि में कुछ अन्तर न था। आये नहीं बल्कि लाये गये। चिरकाल के कष्ट और शोक ने जीवन का ज्ञान भी शेष न छोड़ा था। साहस लेशमात्र भी न था। इच्छाओं का अन्त हो चुका था। वह तट पर खड़े विस्मित दृष्टि से सामने देखते थे। कहाँ जायँ? उनके लिए इस संसार-क्षेत्र में कोई स्थान न दिखाई देता था।

तब दूजी उस भीड़ में से निकलकर आती दिखाई दी। उसने भाइयों को खड़े देखा। तब जिस भाँति जल ढाल की ओर गिरता है उसी प्रकार अधीरता की उमंग में रोती हुई वह उनके चरणों में चिपट गयी। दाहिने हाथ में शानसिंह के चरण थे बायें हाथ में गुमानसिंह के, और नेत्रों से अश्रुधाराएँ प्रवाहित थीं मानो दो सूखे वृक्षों की जड़ों में एक मुरझाई बेल चिमटी हुई हो या दो संन्यासी माया और मोह की बेड़ी में बँधे खड़े हों। भाइयों के नेत्रों से भी आँसू बहने लगे। उनके मुखमण्डल बादलों में से निकलनेवाले तारों की भाँति प्रकाशित हो गये। वह दोनो पृथ्वी पर बैठ गये और तीनों भाई-बहिन परस्पर गले मिलकर बिलख-बिलख रोये। वह गहरी खाड़ी जो भाइयों और बहिन के बीच में थी अश्रुधाराओं से परिपूर्ण हो गयी। आज चौदह वर्ष के पश्चात् भाई और बहिन में मिलाप हुआ और वह घाव जिसने माँस को माँस से, रक्त को रक्त से विलग कर दिया था परिपूर्ण हो गया और वह उस मरहम का काम था जिसके अधिक लाभकारी और कोई मरहम नहीं होता, जो मन के मैल को साफ करता है, जो दुःख को भुलानेवाला और हृदय की दाह को शान्त करनेवाला है, जो व्यंग के विषैले घावों को भर देता है। यह काल का मरहम है।

दोनो भाई घर को लौटे। पट्टीदारों के स्वप्न भंग हो गये। हितमित्र इकट्ठे हुए। ब्रह्मभोज का दिन निश्चित हुआ। पूड़ियाँ पकने लगीं, घी की सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मणों के लिए, तेल की पासी-चमारों के लिए। कालेपानी का पाप इस घी के साथ भस्म हो गया।

दूजी भी कलकत्ते से भाइयों के साथ चली। प्रयाग तक आयी। कुँवर विनयकृष्ण भी उनके साथ थे। भाइयों से कुँवर साहब ने दूजी के सम्बन्ध में कुछ बातें कीं। उनकी भनक दूजी के कानों में पड़ी। प्रयाग में दोनो भाई-बहिन रुक गये कि त्रिवेणी में स्नान करते चलें। कुँवर विनयकृष्ण अपने ध्यान में सब-कुछ ठीक करके मन प्रसन्न करनेवाली आशाओं का स्वप्न देखते हुए चले गये, किन्तु फिर वहाँ से दूजी का पता न चला। मालूम नहीं क्या हुई, कहाँ चली गयी। कदाचित् गंगाजी ने उसे अपनी गोद में लेकर सदा के लिए दुःख से मुक्त कर दिया। भाई बहुत रोये-पीटे किन्तु क्या करते। जिस स्थान

पर दूजी ने अपने बनवास के चौदह वर्ष व्यतीत किये थे, वहाँ दोनों भाई प्रतिवर्ष जाते हैं और उन पत्थरों के ढेरों से चिमट-चिमटकर रोते हैं।

कुँवर साहब ने भी पेंशन ले ली। अब चित्रकूट में रहते हैं। दार्शनिक विचारों के पुरुष थे, जिस प्रेम की खोज थी, वह न मिली। एक बार कुछ आशा दिखाई दी थी, जो चौदह वर्ष एक विचार के रूप में स्थित रही। एकाएक आशा की धुँधली झलक भी एक बार झिलमिलाते हुए दीपक की भाँति हँसकर सदा के लिए अदृश्य हो गयी।

———

# बूढ़ी काकी

बुढ़ापा बहुधा बचपन का पुनरागमन हुआ करता है। बूढ़ी काकी में जिह्वा-स्वाद के सिवा और कोई चेष्टा शेष न थी और न अपने कष्टों की ओर आकर्षित करने का रोने के अतिरिक्त कोई दूसरा सहारा ही। समस्त इन्द्रियाँ, नेत्र, हाथ और पैर जवाब दे चुके थे। पृथ्वी पर पड़ी रहतीं और घरवाले कोई बात उनकी इच्छा के प्रतिकूल करते, भोजन का समय टल जाता या उसका परिमाण पूर्ण न होता, अथवा बाजार से कोई वस्तु आती और उन्हें न मिलती तो वे रोने लगती थीं। उनका रोना-सिसकना साधारण रोना न था, वे गला फाड़-फाड़कर रोती थीं।

उनके पतिदेव को स्वर्ग सिधारे कालान्तर हो चुका था। बेटे तरुण हो-होकर चल बसे थे। अब एक भतीजे के सिवाय और कोई न था। उसी भतीजे के नाम उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति लिख दी थी। भतीजे ने सम्पत्ति लिखाते समय तो खूब लम्बे-चौड़े वादे किये, परन्तु वे सब वादे केवल कुली डिपो के दलालों के दिखाये हुए सब्ज बाग थे। यद्यपि उस सम्पत्ति की वार्षिक आय डेढ़-दो सौ रुपये से कम न थी तथापि बूढ़ी काकी को पेट-भर भोजन भी कठिनाई से मिलता था। इसमें उनके भतीजे पण्डित बुद्धिराम का अपराध था अथवा उनकी अर्द्धांगिनी श्रीमती रूपा का, इसका निर्णय करना सहज नहीं। बुद्धिराम

स्वभाव के सज्जन थे, किन्तु उसी समय तक जब तक कि उनके कोष पर कोई आँच न आये। रूपा स्वभाव से तीव्र थी सही, पर ईश्वर से डरती थी। अतएव बूढ़ी काकी को उसकी तीव्रता उतनी न खलती थी जितनी बुद्धिराम की भलमनसाहत।

बुद्धिराम को कभी-कभी अपने अत्याचार का खेद होता था। विचारते कि इसी सम्पत्ति के कारण मैं इस समय भलामानुष बना बैठा हूँ। यदि मौखिक आश्वासन और सूखी सहानुभूति से स्थिति में सुधार हो सकता तो उन्हें कदाचित् कोई आपत्ति न होती परन्तु विशेष व्यय का भय उनकी सचेष्टा को दबाये रहता था। यहाँ तक कि यदि द्वार पर कोई भला आदमी बैठा होता और बूढ़ी काकी उस समय अपना राग अलापने लगतीं तो वह आग हो जाते और घर में आकर उन्हें जोर से डाँटते। लड़कों को बुड्ढों से स्वाभाविक विद्वेष होता ही है और फिर जब माता-पिता का यह रंग देखते तो बूढ़ी काकी को और भी सताया करते। कोई चुटकी काट कर भागता, कोई उन पर पानी की कुल्ली कर देता। काकी चीख मारकर रोतीं, परन्तु यह बात प्रसिद्ध थी कि वह केवल खाने के लिये रोती हैं; अतएव उनके सन्ताप और आर्त्तनाद पर कोई ध्यान नहीं देता था। हाँ, काकी क्रोधातुर होकर बच्चों को गालियाँ देने लगतीं तो रूपा घटनास्थल पर अवश्य आ पहुँचती। इस भय से काकी अपनी जिह्वा-कृपाण का कदाचित् ही प्रयोग करती थीं, यद्यपि उपद्रव-शांति का यह उपाय रोने से कहीं अधिक उपयुक्त था।

सम्पूर्ण परिवार में यदि काकी से किसी को अनुराग था, तो वह बुद्धिराम की छोटी लड़की लाड़ली थी। लाड़ली अपने दोनो भाइयों के भय से अपने हिस्से की मिठाई-चबेना बूढ़ी काकी के पास बैठकर खाया करती थी। यही उसका रक्षागार था और यद्यपि काकी की शरण उनकी लोलुपता के कारण बहुत महँगी पड़ती थी, तथापि भाइयों के अन्याय से कहीं सुलभ थी। इसी स्वार्थनुकूलता ने उन दोनो में प्रेम और सहानुभूति का आरोपण कर दिया था।

( २ )

रात का समय था। बुद्धराम के द्वार पर शहनाई बज रही थी और गाँव

के बच्चों का झुण्ड विस्मयपूर्ण नेत्रों से गाने का रसास्वादन कर रहा था। चारपाइयों पर मेहमान विश्राम करते हुए नाइयों से मुक्कियाँ लगवा रहे थे। समीप ही खड़ा हुआ भाट विरदावली सुना रहा था और कुछ भावज्ञ मेहमानों की 'वाह, वाह' पर ऐसा खुश हो रहा था मानो इस वाह-वाह का यथार्थ में वही अधिकारी है। दो-एक अङ्गरेजी पढ़े हुए नवयुवक इन व्यवहारों से उदासीन थे। वे इस गँवार-मण्डली में बोलना अथवा सम्मिलित होना अपनी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल समझते थे।

आज बुद्धिराम के बड़े लड़के सुखराम का तिलक आया है। यह उसी का उत्सव है। घर के भीतर स्त्रियाँ गा रही थीं और रूपा मेहमानों के लिए भोजन के प्रबन्ध में व्यस्त थी। भट्ठियों पर कड़ाह चढ़े थे। एक में पूड़ियाँ-कचौरियाँ निकल रही थीं, दूसरे में अन्य पकवान बनते थे। एक बड़े हण्डे मे मसालेदार तरकारी पक रही थी। घी और मसाले की क्षुधावर्द्धक सुगन्धि चारों ओर फैली हुई थी।

बूढ़ी काकी अपनी कोठरी में शोकमय विचारक की भाँति बैठी हुई थी। यह स्वाद-मिश्रित सुगन्धि उन्हें बेचैन कर रही थी। वे मन-ही-मन विचार कर रही थीं, सम्भवतः मुझे पूड़ियाँ न मिलेंगी। इतनी देर हो गयी, कोई भोजन लेकर नहीं आया, मालूम होता है, सब लोग भोजन कर चुके। मेरे लिए कुछ न बचा। यह सोचकर उन्हें रोना आया; परन्तु अशकुन के भय से वह रो न सकीं।

'आहा! कैसी सुगन्धि है! अब मुझे कौन पूछता है? जब रोटियों के लाले पड़े हैं तब ऐसे भाग्य कहाँ कि भरपेट पूड़ियाँ मिलें?' यह विचारकर उन्हें रोना आया; कलेजे में हूक-सी उठने लगी। परन्तु रूपा के भय से उन्होंने फिर मौन धारण कर लिया।

बूढ़ी काकी देर तक इन्हीं दुःखदायक विचारों में डूबी रही। घी और मसालों की सुगन्धि रह-रहकर मन को आपे से बाहर किये देती थी। मुँह में पानी भर-भर आता था। पूड़ियों का स्वाद स्मरण करके हृदय में गुदगुदी होने लगती थी। किसे पुकारूँ; आज लाडली बेटी भी नहीं आयी। दोनो छोकडे सदा दिक किया करते हैं। आज उनका भी कहीं पता नहीं। कुछ मालूम तो होता कि क्या बन रहा है।

बूढ़ी काकी की कल्पना में पूड़ियों की तस्वीर नाचने लगी। खूब लाल-लाल, फूली-फूली, नरम-नरम होंगी। रूपा ने भली-भाँति मोयन दिया होगा। कचौरियों में अजवाइन और इलायची की महक आ रही होगी। एक पूड़ी मिलती तो जरा हाथ में लेकर देखती। क्यों न चलकर कड़ाह के सामने ही बैठूँ! पूड़ियाँ छन-छनकर तैरती होंगी। कड़ाह से गरम-गरम निकालकर थाल में रखी जाती होंगी। फूल हम घर में भो सूँघ सकते हैं; परन्तु वाटिका में कुछ और बात होती है। इस प्रकार निर्णय करके बूढ़ी काकी उकड़ू बैठकर हाथों के बल सरकती हुई बड़ी कठिनाई से चौखट से उतरीं और धीरे-धीरे रेंगती हुई कड़ाह के पास आ बैठीं। यहाँ आने पर उन्हें उतना ही धैर्य हुआ जितना भूखे कुत्ते को खानेवाले के सम्मुख बैठने में होता है।

रूपा उस समय कार्यभार से उद्विग्न हो रही थी। कभी इस कोठे में जाती, कभी उस कोठे में, कभी कहाड़ के पास आती, कभी भण्डार में जाती। किसी ने बाहर से आकर कहा—'महाराज ठंढाई माँग रहे हैं।' ठंढाई देने लगी। इतने में फिर किसी ने आकर कहा—'भाट आया है, उसे कुछ दे दो।' भाट के लिए सीधा निकाल रही थी कि एक तीसरे आदमी ने आकर पूछा—'अभी भोजन तैयार होने में कितना विलम्ब है? जरा ढोल-मजीरा उतार दो।' बेचारी अकेली स्त्री दौड़ते-दौड़ते व्याकुल हो रही थी, झुँझलाती थी, कुढ़ती थी, परन्तु क्रोध प्रकट करने का अवसर न पाती थी। भय होता, कहीं पड़ोसिनें यह न कहने लगें कि इतने ही में उबल पड़ी। प्यास से स्वयं उसका कण्ठ सूख रहा था; गर्मी के मारे फुँकी जाती थी, परन्तु इतना अवकाश भी नहीं था कि जरा पानी पी ले अथवा पंखा लेकर झले। यह भी खटका था कि जरा आँख हटा और चीजों की लूट मची। इस अवस्था में उसने बूढ़ी काकी को कड़ाह के पास बैठी देखा तो जल गयी। क्रोध न रुक सका। इसका भी ध्यान न रहा कि पड़ौसिनें बैठी हुई हैं, मन में क्या कहेंगी, पुरुषों में लोग सुनेंगे तो क्या कहेंगे। जिस प्रकार मेंढक केंचुए पर झपटता है, उसी प्रकार वह बूढ़ी काकी पर झपटी और उन्हें दोनो हाथों से झटककर बोली—ऐसे पेट में आग लगे, पेट है या भाड़? कोठरी में बैठते हुए क्या दम घुटता था? अभी मेहमानों ने नहीं खाया, भगवान को भोग नहीं लगा, तब तक धैर्य न हो सका? आकर

छाती पर सवार हो गयीं। जल जाय ऐसी जीभ। दिन-रात खाती न होती तो न-जाने किसकी हाँड़ी में मुँह डालतीं ? गाँव देखेगा तो कहेगा कि बुढ़िया भर-पेट खाने को नहीं पाती। तभी तो इस तरह मुँह बाये फिरती है। डाइन न मरे न माँचा छोड़े। नाम बेचने पर लगी है। नाक कटवाकर दम लेगी। इतना ठूँसती है, न-जाने कहाँ भस्म हो जाता है। लो ! भला चाहती हो तो जाकर कोठरी में बैठो, जब घर के लोग खाने लगेंगे तब तुम्हें भी मिलेगा। तुम कोई देवी नहीं हो कि चाहे किसी के मुँह में पानी न जाय परन्तु तुम्हारी पूजा पहले ही हो जाय।

बूढ़ी काकी ने सिर न उठाया; न रोई, न बोली। चुपचाप रेंगती हुई अपनी कोठरी में चली गयी। आघात ऐसा कठोर था कि हृदय और मस्तिष्क की सम्पूर्ण शक्तियाँ, सम्पूर्ण विचार और सम्पूर्ण भार उसी ओर आकर्षित हो गये थे। नदी में जब करार का कोई वृहद् खण्ड कटकर गिरता है तो आस-पास का जल-समूह चारों ओर से उसी स्थान को पूरा करने के लिए दौड़ता है।

( ३ )

भोजन तैयार हो गया। आँगन में पत्तल पड़ गयी, मेहमान खाने लगे। स्त्रियों ने जेवनार-गीत गाना आरम्भ कर दिया। मेहमानों के नाई और सेवकगण भी उसी मण्डली के साथ, किन्तु कुछ हटकर भोजन करने बैठे थे, परन्तु सभ्यतानुसार जब तक सब-के-सब खा न चुकें कोई उठ नहीं सकता था। दो-एक मेहमान जो कुछ पढ़े-लिखे थे सेवकों के दीर्घाहार पर झुँझला रहे थे। वे इस बन्धन को व्यर्थ और बे-सिर-पैर की बात समझते थे।

बूढ़ी काकी अपनी कोठरी में जाकर पश्चात्ताप कर रही थीं कि मैं कहाँ-से कहाँ गयी। उन्हें रूपा पर क्रोध नहीं था। अपनी जल्दबाजी पर दुःख था। सच ही तो है जब तक मेहमान लोग भोजन कर न चुकेंगे घरवाले कैसे खायेंगे ! मुझसे इतनी देर भी नहीं रहा गया। सबके सामने पानी उतर गया। अब जब तक कोई बुलाने न आयेगा, न जाऊँगी।

मन-ही-मन इसी प्रकार विचारकर वह बुलावे की प्रतीक्षा करने लगीं। परन्तु घी का रुचिकर सुवास बड़ा ही धैर्य-परीक्षक प्रतीत हो रहा था। उन्हें एक-एक पल एक-एक युग के समान मालूम होता था। अब पत्तल बिछ गयी होगी !

अब मेहमान आ गये होंगे। लोग हाथ-पैर धो रहे हैं, नाई पानी दे रहा है। मालूम होता है लोग खाने बैठ गये। जेवनार गाया जा रहा है, यह विचारकर वह मन को बहलाने के लिए लेट गयीं। धीरे-धीरे एक गीत गुनगुनाने लगीं। उन्हें मालूम हुआ कि मुझे गाते देर हो गयी। क्या इतनी देर तक लोग भोजन कर ही रहे होंगे। किसी की आवाज नहीं सुनायी देती। अवश्य ही लोग खा-पीकर चले गये। मुझे कोई बुलाने नहीं आया। रूपा चिढ़ गयी है, क्या जाने न बुलाये, सोचती हो कि आप ही आवेंगी, वह कोई मेहमान तो नहीं जो उन्हें बुलाऊँ। बूढ़ी काकी चलने के लिए तैयार हुई। यह विश्वास कि एक मिनट में पूड़ियाँ और मसालेदार तरकारियाँ सामने आयेंगी उनकी स्वादेन्द्रियों को गुदगुदाने लगा। उन्होंने मन में तरह-तरह के मंसूबे बाँधे—पहले तरकारी से पूड़ियाँ खाऊँगी, फिर दही और शक्कर से, कचौरियाँ रायते के साथ मजेदार मालूम होंगी! चाहे कोई बुरा माने चाहे भला, मैं तो माँग-माँगकर खाऊँगी। यही न लोग कहेंगे कि इन्हें विचार नहीं? कहा करें, इतने दिनों के बाद पूड़ियाँ मिल रही हैं तो मुँह जूठा करके थोड़े ही उठ आऊँगी।

वह उकड़ूँ बैठकर हाथों के बल सरकती हुई आँगन में आयीं। परन्तु हाय दुर्भाग्य! अभिलाषा ने अपने पुराने स्वभाव के अनुसार समय की मिथ्या कल्पना की थी। मेहमान-मण्डली अभी बैठी हुई थी। कोई खाकर उँगलियाँ चाटता था, कोई तिरछे नेत्रों से देखता था कि और लोग अभी खा रहे हैं या नहीं? कोई इस चिन्ता में था कि पत्तल पर पूड़ियाँ छूटी जाती हैं, किसी तरह इन्हें भीतर रख लेता। कोई दही खाकर जीभ चटकारता था, परन्तु दूसरा दोना माँगते संकोच करता था कि इतने में बूढ़ी काकी रेंगती हुई उनके बीच में जा पहुँचीं। कई आदमी चौंककर उठ खड़े हुए। पुकारने लगे—अरे यह बुढ़िया कौन है? यह कहाँ से आ गयी? देखो किसी को छू न दे।

पं० बुद्धिराम काकी को देखते ही क्रोध से तिलमिला गये। पूड़ियों का थाल लिये खड़े थे। थाल को जमीन पर पटक दिया और जिस प्रकार निर्दयी महाजन अपने किसी बेईमान और भगोड़े कर्जदार को देखते ही झपटकर उसका टेटुआ पकड़ लेता है उसी तरह लपककर उन्होंने बूढ़ी काकी के दोनो हाथ पकड़े और घसीटते हुए लाकर उन्हें अँधेरी कोठरी में धम से पटक दिया। आशा-

रूपी वाटिका लू के एक ही झोंके से नष्ट-विनष्ट हो गयी।

मेहमानों ने भोजन किया। घरवालों ने भोजन किया। बाजेवाले, धोबी-चमार भी भोजन कर चुके, परन्तु बूढ़ी काकी को किसी ने न पूछा। बुद्धिराम और रूपा दोनों ही बूढ़ी काकी को उसकी निर्लज्जता के लिए दण्ड देने का निश्चय कर चुके थे। उनके बुढ़ापे पर, दीनता पर, हत-ज्ञान पर किसी को करुणा न आती थी। अकेली लाडली उनके लिए कुढ़ रही थी।

लाडली को काकी से अत्यन्त प्रेम था। बेचारी भोली लड़की थी। बाल-विनोद और चञ्चलता की उसमें गन्ध तक न थी। दोनों बार जब उसके माता-पिता ने काकी को निर्दयता से घसीटा तो लाडली का हृदय ऐंठकर रह गया। वह झुँझला रही थी कि यह लोग काकी को क्यों बहुत-सी पूड़ियाँ नहीं दे देते? क्या मेहमान सब-की-सब खा जायेंगे? और यदि काकी ने मेहमानों के पहले खा लिया तो क्या बिगड़ जायगा? वह काकी के पास जाकर उन्हें धैर्य देना चाहती थी; परन्तु माता के भय से न जाती थी। उसने अपने हिस्से की पूड़ियाँ बिलकुल न खायी थीं। अपनी गुड़ियों की पिटारी में बन्द कर रखी थीं। वह उन पूड़ियों को काकी के पास ले जाना चाहती थी। उसका हृदय अधीर हो रहा था। बूढ़ी काकी मेरी बात सुनते ही उठ बैठेंगी, पूड़ियाँ देखकर कैसी प्रसन्न होंगी! मुझे खूब प्यार करेंगी!

( ४ )

रात के ग्यारह बज गये थे। रूपा आँगन में पड़ी सो रही थी। लाड़ली की आँखों में नींद न आती थी। काकी को पूड़ियाँ खिलाने की खुशी उसे सोने न देती थी। उसने गुड़ियों की पिटारी सामने ही रखी थी। जब विश्वास हो गया कि अम्मा सो रही हैं तो वह चुपके से उठी और विचारने लगी, कैसे चलूँ? चारों ओर अँधेरा था। केवल चूल्हों में आग चमक रही थी, और चूल्हों के पास एक कुत्ता लेटा हुआ था। लाड़ली की दृष्टि द्वार के सामनेवाले नीम की ओर गयी। उसे मालूम हुआ कि उस पर हनुमानजी बैठे हुए हैं, उनकी पूँछ, उनकी गदा, सब स्पष्ट दिखायी दे रही है। मारे भय के उसने आँखें बन्द कर लीं, इतने में कुत्ता उठ बैठा, लाड़ली को ढाढ़स हुआ। सोये हुए मनुष्यों के बदले एक जागता हुआ कुत्ता उसके लिए अधिक धैर्य का कारण हुआ।

उसने पिटारी उठायी और बूढ़ी काकी की कोठरी की ओर चल दी।

( ५ )

बूढ़ी काकी को केवल इतना स्मरण था कि किसी ने मेरे हाथ पकड़कर घसीटे, फिर ऐसा मालूम हुआ जैसे कोई पहाड़ पर उड़ाये लिये जाता है। उनके पैर बार-बार पत्थरों से टकराये। तब किसी ने उन्हें पहाड़ पर से पटका, वे मूर्च्छित हो गयीं।

जब वे सचेत हुईं तो किसी की जरा भी आहट न मिलती थी। समझीं कि सब लोग खा-पीकर सो गये और उनके साथ मेरी तकदीर भी सो गयी। रात कैसे कटेगी ? राम ! क्या खाऊँ ? पेट में अग्नि धधक रही है। हा ! किसी ने मेरी सुधि न ली ! क्या मेरा ही पेट काटने से धन जुड़ जायगा ? इन लोगों को इतनी भी दया नहीं आती कि न जाने बुढ़िया कब मर जाय ? उसका जी क्यों दुखावें ? मैं पेट की रोटियाँ ही खाती हूँ कि और कुछ ? इस पर यह हाल ! मैं अन्धी-अपाहिज ठहरी, न कुछ सुनूँ न बूझूँ, यदि आँगन में चली गयी तो क्या बुद्धिराम से इतना कहते न बनता था कि अभी लोग खा रहे हैं फिर आना। मुझे घसीटा, पटका उन्हीं पूड़ियों के लिए। रूपा ने सब के सामने गालियाँ दीं उन्हीं पूड़ियों के लिए। इतनी दुर्गति करने पर भी उनका पत्थर का कलेजा न पसीजा। सब को खिलाया, मेरी बात तक न पूछी ! जब तब ही न दीं, तब अब क्या देंगी ?

यह विचारकर काकी निराशामय सन्तोष के साथ लेट गयीं। ग्लानि से गला भर-भर आता था, परन्तु मेहमानों के भय से रोती न थीं।

सहसा उनके कानों में आवाज आयी—'काकी उठो; मैं पूड़ियाँ लायी हूँ।' काकी ने लाडली की बोली पहचानी। चटपट उठ बैठीं। दोनों हाथों से लाडली को टटोला और उसे गोद में बैठा लिया। लाड़ली ने पूड़ियाँ निकालकर दीं। काकी ने पूछा—क्या तुम्हारी अम्माँ ने दी हैं ?

लाडली ने कहा—नहीं, यह मेरे हिस्से की हैं।

काकी पूड़ियों पर टूट पड़ीं। पाँच मिनट में पिटारी खाली हो गयी। लाड़ली ने पूछा—काकी, पेट भर गया ?

जैसे थोड़ी-सी वर्षा ठण्ढक के स्थान पर और भी गर्मी पैदा कर देती है

उसी भाँति इन थोड़ी-सी पूड़ियों ने काकी की क्षुधा और इच्छा को उत्तेजित कर दिया था। बोलीं—नहीं बेटा, जाकर अम्मा से और माँग लाओ।

लाड़ली ने कहा—अम्मा सोती हैं, जगाऊँगी तो मारेंगी।

काकी ने पिटारी को फिर टटोला। उसमें कुछ खुर्चन गिरे थे। उन्हें निकालकर वे खा गयीं। बार-बार होंठ चाटती थीं। चटखारें भरती थीं।

हृदय मसोस रहा था कि और पूड़ियाँ कैसे पाऊँ। सन्तोष-सेतु जब टूट जाता है तब इच्छा का बहाव अपरिमित हो जाता है। मतवालों को मद का स्मरण करना उन्हें मदान्ध बनाता है। काकी का अधीर मन इच्छा के प्रबल प्रवाह में बह गया। उचित और अनुचित का विचार जाता रहा। वे कुछ देर तक उस इच्छा को रोकती रहीं। सहसा लाडली से बोलीं—मेरा हाथ पकड़कर वहाँ ले चलो जहाँ मेहमानों ने बैठकर भोजन किया है।

लाडली उनका अभिप्राय समझ न सका। उसने काकी का हाथ पकड़ा और ले जाकर जूठे पत्तलों के पास बैठा दिया। दीन, क्षुधातुर, हत-ज्ञान बुढ़िया पत्तलों से पूड़ियों के टुकड़े चुन-चुनकर भक्षण करने लगी! ओह! दही कितना स्वादिष्ट था, कचौरियाँ कितनी सलोनी, खस्ता कितनी सुकोमल। काकी बुद्धि-हीन होते हुए भी इतना जानती थीं कि मैं वह काम कर रही हूँ जो मुझे कदापि न करना चाहिए। मैं दूसरों की जूठी पत्तल चाट रही हूँ। परन्तु बुढ़ापा तृष्णा रोग का अन्तिम समय है, जब सम्पूर्ण इच्छाएँ एक ही केन्द्र पर आ लगती हैं। बूढ़ी काकी में यह केन्द्र उनकी स्वादेन्द्रिय थी।

( ६ )

ठीक उसी समय रूपा की आँखें खुलीं। उसे मालूम हुआ कि लाडली मेरे पास नहीं है। वह चौंकी, चारपाई के इधर-उधर ताकने लगी कि कहीं नीचे तो नहीं गिर पड़ी। उसे वहाँ न पाकर वह उठ बैठी तो क्या देखती है कि लाडली जूठे पत्तलों के पास चुपचाप खड़ी है और बूढ़ी काकी पत्तलों पर से पूड़ियों के टुकड़े उठा-उठाकर खा रही है। रूपा का हृदय सन्न हो गया। किसी गाय की गर्दन पर छुरी चलते देखकर जो अवस्था उसकी होती, वही उस समय हुई। एक ब्राह्मणी दूसरों की जूठी पत्तल टटोले, इससे अधिक शोकमय दृश्य असम्भव था। पूड़ियों के कुछ ग्रासों के लिए उसकी चचेरी सास ऐसा पतित

और निकृष्ट कर्म कर रही है ! यह वह दृश्य था जिसे देखकर देखनेवालों के हृदय काँप उठते हैं। ऐसा प्रतीत होता था मानो जमीन रुक गयी, आसमान चक्कर खा रहा है। संसार पर कोई नयी विपत्ति आनेवाला है। रूपा को क्रोध न आया। शोक के सम्मुख क्रोध कहाँ ? करुणा और भय से उसकी आँखें भर आयीं। इस अधर्म के पाप का भागी कौन है ? उसने सच्चे हृदय से गगन-मण्डल की ओर हाथ उठाकर कहा—परमात्मा, मेरे बच्चों पर दया करो, इस अधर्म का दण्ड मुझे मत दो, नहीं तो मेरा सत्यानाश हो जायगा।

रूपा को अपनी स्वार्थपरता और अन्याय इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप में कभी न देख पड़े थे। वह सोचने लगी—हाय ! कितनी निर्दय हूँ। जिसकी सम्पत्ति से मुझे दो सौ रुपया वार्षिक आय हो रही है, उसकी यह दुर्गति ! और मेरे कारण ! हे दयामय भगवान् ! मुझसे बड़ी भारी चूक हुई है, मुझे क्षमा करो। आज मेरे बेटे का तिलक था। सैकड़ों मनुष्यों ने भोजन पाया। मैं उनके इशारों की दासी बनी रही। अपने नाम के लिए सैकड़ों रुपये व्यय कर दिये, परन्तु जिसकी बदौलत हजारों रुपये पाये उसे इस उत्सव में भी भरपेट भोजन न दे सकी। केवल इसी कारण तो कि वह वृद्धा असहाय है।

रूपा ने दिया जलाया, अपने भण्डार का द्वार खोला और एक थाली में सम्पूर्ण सामग्रियाँ सजाकर लिये हुए बूढ़ी काकी की ओर चली।

आधी रात जा चुकी थी, आकाश पर तारों के थाल सजे हुए थे और उन पर बैठे हुए देवगण स्वर्गीय पदार्थ सजा रहे थे, परन्तु उनमें किसी को वह परमात्म प्राप्त न हो सकता था जो बूढ़ी काकी को अपने सम्मुख थाल देखकर प्राप्त हुआ। रूपा ने कण्ठावरुद्ध स्वर में कहा—काकी, उठो, भोजन कर लो। मुझसे आज बड़ी भूल हुई, उसको बुरा न मानना। परमात्मा से प्रार्थना कर दो कि वह मेरा अपराध क्षमा कर दें !

भोले-भाले बच्चों की भाँति, जो मिठाइयाँ पाकर मार और तिरस्कार सब भूल जाता है, बूढ़ी काकी वैसे ही सब भुलाकर बैठी हुई खाना खा रही थीं। उनके एक-एक रोएँ से सच्ची सदिच्छाएँ निकल रही थीं और रूपा बैठी इस स्वर्गीय दृश्य का आनन्द लूटने में निमग्न थी।

———

# हार की जीत

केशव से मेरी पुरानी लागडाँट थी। लेख और वाणी, हास्य और विनोद सभी क्षेत्रों में वह मुझसे कोसों आगे था। उसके गुणों की चन्द्रज्योति में मेरे दीपक का प्रकाश कभी प्रस्फुटित न हुआ। एक बार उसे नीचा दिखाना मेरे जीवन का सबसे बड़ी अभिलाषा थी। उस समय मैंने कभी स्वीकार नहीं किया! अपनी त्रुटियों को कौन स्वीकार करता है—पर वास्तव में मुझे ईश्वर ने उसकी जैसी बुद्धि-शक्ति न प्रदान की थी। अगर मुझे कुछ तस्कीन थी तो यह कि विद्या-क्षेत्र में चाहे मुझे उससे कन्धा मिलाना कभी नसीब न हो पर व्यवहार की रङ्गभूमि में सेहरा मेरे ही सिर रहेगा। लेकिन दुर्भाग्य से जब प्रणय-सागर में भी उसने मेरे साथ ही गोता मारा और रत्न उसी के हाथ लगता हुआ नजर आया तो मैं हताश हो गया। हम दोनो ने ही एम० ए० के लिए साम्यवाद का विषय लिया था। हम दोनों ही साम्यवादी थे। केशव के विषय में तो यह एक स्वाभाविक बात थी। उसका कुल बहुत प्रतिष्ठित न था, न वह समृद्धि ही थी जो इस कमी को पूरा कर देती। मेरी अवस्था इसके प्रतिकूल थी। मैं खानदान का ताल्लुकेदार और रईस था। मेरी साम्यवादिता पर लोगों को कुतूहल होता था। हमारे साम्यवाद के प्रोफेसर बाबू हरिदास भाटिया साम्यवाद के सिद्धान्तों के कायल थे, लेकिन शायद धन की अवहेलना न कर सकते थे। अपनी लज्जावती के लिए उन्होंने कुशाग्रबुद्धि केशव को नहीं, मुझे पसन्द किया। एक दिन सन्ध्या समय वह मेरे कमरे में आये और चिन्तित भाव से बोले—द्वारकाचरण, मैं महीनों से एक बड़ी चिन्ता में पड़ा हुआ हूँ! मुझे आशा है कि तुम उसका निवारण कर सकते हो! मेरे कोई पुत्र नहीं है। मैंने तुम्हें और केशव दोनो ही को पुत्र तुल्य समझा है। यद्यपि केशव तुमसे चतुर है, पर मुझे विश्वास है कि विस्तृत संसार में तुम्हें जो सफलता मिलेगी, वह उसे नहीं मिल सकती। अतएव मैंने तुम्हीं को अपनी लज्जा के लिए वरा है। क्या मैं आशा करूँ कि मेरा मनोरथ पूरा होगा?

मैं स्वतन्त्र था। मेरे माता-पिता मुझे लड़कपन ही में छोड़कर स्वर्ग चले

गये थे। मेरे कुटुम्बियों में अब ऐसा कोई न था जिसकी अनुमति लेने की मुझे जरूरत होती। लज्जावती जैसी सुशीला, सुन्दरी, सुशिक्षिता स्त्री पाकर ऐसा कौन पुरुष होगा जो अपने भाग्य को न सराहता। मैं फूला न समाया। लज्जा एक कुसुमित वाटिका थी जहाँ गुलाब की मनोहर सुगन्धि थी और हरियाली की मनोरम शीतलता। समीर की शुभ्र तरंगें और पक्षियों का मधुर संगीत। वह स्वयं साम्यवाद पर मोहित थी। स्त्रियों के प्रतिनिधित्व और ऐसे ही अन्य विषयों पर उसने मुझसे कितनी ही बार बातें की थीं। लेकिन प्रोफेसर भाटिया की तरह केवल सिद्धान्तों की भक्त न थी। उनको व्यवहार में भी लाना चाहती थी। उसने चतुर केशव को अपना स्नेहपात्र बनाया था। यद्यपि मैं जानता था कि प्रोफेसर भाटिया के आदेश को वह कभी नहीं टाल सकती, तथापि उसकी इच्छा के विरुद्ध मैं उसे अपनी प्रणयिनी बनाने के लिए तैयार न था। इस विषय में मैं स्वेच्छा के सिद्धान्त का कायल था। इसलिए मैं केशव की विरक्ति और क्षोभ से आशातीत आनन्द न उठा सका। हम दोनो ही दुःखी थे, और मुझे पहली बार केशव से सहानुभूति हुई। मैं लज्जावती से केवल इतना पूछना चाहता था कि उसने मुझे क्यों नजरों से गिरा दिया। पर उसके सामने ऐसे नाजुक प्रश्नों को छेड़ते हुए मुझे संकोच होता था, और यह स्वाभाविक था, क्योंकि कोई रमणी अपने अन्तःकरण के रहस्यों को नहीं खोल सकती। लेकिन शायद लज्जावती इस परिस्थिति को मेरे सामने प्रकट करना अपना कर्त्तव्य समझ रही थी। वह उसका अवसर ढूँढ़ रही थी। संयोग से उसे शीघ्र ही अवसर मिल भी गया।

सन्ध्या का समय था। केशव राजपूत होस्टल में साम्यवाद पर एक व्याख्यान देने गया हुआ था। प्रोफेसर भाटिया उस जलसे के प्रधान थे। लज्जा अपने बँगले में अकेली बैठी हुई थी। मैं अपने अशान्त हृदय के भावों को छिपाये हुए, शोक और नैराश्य की दाह से जलता हुआ उसके समीप आकर बैठ गया। लज्जा ने मेरी ओर एक उड़ती हुई निगाह डाली और सदय भाव से बोली—कुछ चिन्तित जान पड़ते हो?

मैंने कृत्रिम उदासीनता से कहा—तुम्हारी बला से।

लज्जा—केशव का व्याख्यान सुनने नहीं गये?

मेरी आँखों से ज्वाला-सी निकलने लगी। जब्त करके बोला—आज सिर में दर्द हो रहा था।

यह कहते-कहते अनायास मेरे नेत्रों से आँसू की कई बूँदें टपक पड़ीं। मैं अपने शोक को प्रदर्शित करके उसका करुणापात्र बनना नहीं चाहता था। मेरे विचार में रोना स्त्रियों के ही स्वभावानुकूल था। मैं उस पर क्रोध प्रकट करना चाहता था और निकल पड़े आँसू। मन के भाव इच्छा के अधीन नहीं होते।

मुझे रोते देखकर लज्जा की आँखों से आँसू गिरने लगे।

मैं कीना नहीं रखता, मलिन हृदय नहीं हूँ, लेकिन न मालूम क्यों लज्जा के रोने पर मुझे इस समय एक आनन्द का अनुभव हुआ। उस शोकावस्था में भी मैं उस पर व्यंग करने से बाज न रह सका, बोला—लज्जा, मैं तो अपने भाग्य को रोता हूँ। शायद तुम्हारे अन्याय की दुहाई दे रहा हूँ। लेकिन तुम्हारे आँसू क्यों?

लज्जा ने मेरी ओर तिरस्कार-भाव से देखा और बोली—मेरे आँसुओं का रहस्य तुम न समझोगे, क्योंकि तुमने कभी समझने की चेष्टा नहीं की। तुम मुझे कटु वचन सुनाकर अपने चित्त को शान्त कर लेते हो। मैं किसे जलाऊँ? तुम्हें क्या मालूम है कि मैंने कितना आगा-पीछा सोचकर, हृदय को कितना दबाकर कितनी रातें करवटें बदलकर और कितने आँसू बहकर यह निश्चय किया है। तुम्हारी कुल-प्रतिष्ठा, तुम्हारी रियासत एक दीवार की भाँति मेरे रास्ते में खड़ा है। उस दीवार को मैं पार नहीं कर सकती। मैं जानती हूँ कि इस समय तुम्हें कुलप्रतिष्ठा और रियासत का लेशमात्र भी अभिमान नहीं है। लेकिन यह भी जानती हूँ कि तुम्हारे कालेज की शीतल छाया में पला हुआ साम्यवाद बहुत दिनों तक सांसारिक जीवन की लू और लपट को न सह सकेगा। उस समय तुम अवश्य अपने फैसले पर पछताओगे और कुढ़ोगे। मैं तुम्हारे दूध की मक्खी और हृदय का काँटा बन जाऊँगी।

मैंने आर्द्र होकर कहा—जिन कारणों से मेरा साम्यवाद लुप्त हो जायगा, क्या वह तुम्हारे साम्यवाद को जीता छोड़ेगा?

लज्जा—हाँ, मुझे पूरा विश्वास है कि मुझ पर उनका जरा भी असर न होगा। मेरे घर में कभी रियासत नहीं रही और कुल की अवस्था तुम भली-

भाँति जानते हो। बाबूजी ने केवल अपने अविरल परिश्रम और अध्यवसाय से यह पद प्राप्त किया है। मुझे वह दिन नहीं भूला है जब मेरी माता जीवित थीं और बाबूजी ११ बजे रात को प्राइवेट ट्यूशन करके घर आते थे। मुझे तो रियासत और कुल-गौरव का अभिमान कभी हो ही नहीं सकता, उसी तरह जैसे तुम्हारे हृदय से यह अभिमान कभी मिट नहीं सकता। घमण्ड मुझे उसी दशा में होगा जब मैं स्मृति-हीन हो जाऊँगी।

मैंने उद्दण्डता से कहा—कुल-प्रतिष्ठा को तो मैं मिटा नहीं सकता, मेरे वश की बात नहीं है, लेकिन तुम्हारे लिए मैं आज रियासत को तिलांजलि दे सकता हूँ।

लज्जा क्रूर मुसकान से बोली—फिर वही भावुकता! अगर यह बात तुम किसी अबोध बालिका से कहते तो कदाचित् वह फूली न समाती। मैं एक ऐसे गहन विषय में जिस पर दो प्राणियों के समस्त जीवन का सुख-दुःख निर्भर है, भावुकता का आश्रय नहीं ले सकती। शादी बनावट नहीं है। परमात्मा साक्षी है, मैं विवश हूँ; मुझे अभी तक स्वयं मालूम नहीं है कि मेरी डोंगी किधर जायेगी। लेकिन मैं तुम्हारे जीवन को कण्टकमय नहीं बना सकती।

मैं यहाँ से चला तो इतना निराश न था जितना सचिन्त। लज्जा ने मेरे सामने एक नयी समस्या उपस्थित कर दी थी।

( २ )

हम दोनो साथ-साथ एम०ए० हुए। केशव प्रथम श्रेणी में आया, मैं द्वितीय श्रेणी में। उसे नागपुर के एक कालेज में अध्यापक का पद मिल गया। मैं घर आकर अपनी रियासत का प्रबन्ध करने लगा। चलते समय हम दोनो गले मिलकर और रोकर विदा हुए। विरोध और ईर्ष्या को कालेज में छोड़ दिया।

मैं अपने प्रान्त का पहला ताल्लुकेदार था जिसने एम० ए० पद प्राप्त किया था। पहले तो राज्याधिकारियों ने मेरी खूब आवभगत की लेकिन जब मेरे सामाजिक सिद्धान्तों से अवगत हुए तो उनकी कृपादृष्टि कुछ शिथिल पड़ गयी। मैंने भी उनसे मिलना-जुलना छोड़ दिया। अपना अधिकांश समय अपने असामियों के ही बीच में व्यतीत करता।

पूरा साल भर भी न गुजरने पाया कि एक ताल्लुकेदार की परलोक-यात्रा

ने कौंसिल में एक स्थान खाली कर दिया। मैंने कौंसिल में जाने की अपनी तरफ से कोई कोशिश नहीं की। लेकिन काश्तकारों ने अपने प्रतिनिधित्व का भार मेरे ही सिर रखा। बेचारा केशव तो अपने कालेज में लेक्चर देता था, किसी का खबर भी न थी कि वह कहाँ है और क्या कर रहा है और मैं अपनी कुल-मर्यादा की बदौलत कौंसिल का मेम्बर हो गया। मेरी वक्तृताएँ समाचारपत्रों में छपने लगीं। मेरे प्रश्नों की प्रशंसा होने लगी। कौंसिल में मेरा विशेष सम्मान होने लगा। कई सज्जन ऐसे निकल आये जो जनतावाद के भक्त थे। पहले वह परिस्थितियों से कुछ दबे हुए थे। अब वह खुल पड़े। हम लोगों ने लोक-वादियों का अपना एक पृथक् दल बना लिया और कृषकों के अधिकारों को जोरों के साथ व्यक्त करना शुरू किया। अधिकांश भूपतियों ने मेरी अवहेलना की। कई सज्जनों ने धमकियाँ भी दीं। लेकिन मैंने अपने निश्चित पथ को न छोड़ा। सेवा के इस सुअवसर को क्योंकर हाथ से जाने देता। दूसरा वर्ष समाप्त होते-होते जाति के प्रधान नेताओं में मेरी गणना होने लगी। मुझे बहुत परिश्रम करना, बहुत पढ़ना, बहुत लिखना और बहुत बोलना पड़ता, पर जरा भी न घबराता। इस परिश्रमशीलता के लिए मैं केशव का ऋणी था। उसी ने मुझे इतना अभ्यस्त बना दिया था।

मेरे पास केशव और प्रोफेसर भाटिया के पत्र बराबर आते रहते थे। कभी-कभी लज्जावती भी लिखती थी। उसके पत्रों में श्रद्धा और प्रेम की मात्रा दिनो-दिन बढ़ती जाती। वह मेरी राष्ट्र-सेवा का बड़े उदार, बड़े उत्साहमय शब्दों में बखान करती। मेरे विषय में उसे पहले जो शङ्काएँ थीं वह मिटती जाती थीं। मेरी तपस्या देवी को आकर्षित करने लगी थी। केशव के पत्रों से उदा-सीनता टपकती थी। उसके कालेज में धन का अभाव था। तीन वर्ष हो गये थे पर उसकी तरक्की न हुई थी। पत्रों से ऐसा प्रतीत होता था मानो वह जीवन से असन्तुष्ट है। कदाचित् इसका मुख्य कारण यह था कि अभी तक उसके जीवन का सुखमय स्वप्न चरितार्थ न हुआ था।

तीसरे वर्ष गर्मियों की तातील में प्रोफेसर भाटिया मुझसे मिलने आये और बहुत प्रसन्न होकर गये। उसके एक ही सप्ताह पीछे लज्जावती का पत्र आया। अदालत ने तजवीज सुना दी। मेरी डिग्री हो गयी। केशव की पहली बार मेरे

मुकाबले में हार हुई। मेरे हर्षोल्लास की कोई सीमा न थी। प्रोफेसर भाटिया का इरादा भारतवर्ष के सब प्रान्तों में भ्रमण करने का था। वह साम्यवाद पर एक ग्रन्थ लिख रहे थे जिसके लिए प्रत्येक बड़े नगर में कुछ अन्वेषण करने की जरूरत थी। लज्जा को अपने साथ ले जाना चाहते थे। निश्चय हुआ कि उनके लौट आने पर आगामी चैत्र के महीने में हमारा संयोग हो जाय। मैं यह वियोग के दिन बड़ी बेसब्री से काटने लगा। जब तक मैं जानता था कि बाजी केशव के हाथ रहेगी मैं निराश था, पर शान्त था। अब आशा थी और उसके साथ घोर अशान्ति थी।

( ३ )

मार्च का महीना था। प्रतीक्षा की अवधि पूरी हो चुकी थी। कठिन परिश्रम के दिन गये, फसल काटने का समय आया। प्रोफेसर साहब ने ढाका से पत्र लिखा था कि कई अनिवार्य कारणों से मेरा लौटना मार्च में नहीं मई में होगा। इसी बीच में काश्मीर के दीवान लाला सोमनाथ कपूर नैनीताल आये। बजट पेश था। उस पर व्यवस्थापक सभा में वाद-विवाद हो रहा था। गवर्नर की ओर से दीवान साहब को पार्टी दी गयी। सभा के प्रतिनिधियों को भी निमन्त्रण मिला। कौंसिल की ओर से मुझे अभिवादन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मेरी बकवास को दीवान साहब ने बहुत पसन्द किया। चलते समय मुझसे कई मिनट तक बातें कीं और मुझे अपने डेरे पर आने का आदेश दिया। उनके साथ उनकी पुत्री सुशीला भी थी। वह पीछे सिर झुकाये खड़ी रही। जान पड़ता था भूमि को पढ़ रही है। पर मैं अपनी आँखों को काबू में न रख सका। वह उतनी ही देर में एक बार नहीं, कई बार उठीं और जैसे बच्चा किसी अजनबी की चुमकार से उसकी ओर लपकता है पर फिर डरकर माँ की गोद से चिमट जाता है वह भी डरकर आधे ही रास्ते से लौट गयीं। लज्जा अगर कुसुमित वाटिका थी तो सुशीला शीतल सलिल-धारा थी जहाँ वृक्षों के कुञ्ज थे, विनोदशील मृगों के झुण्ड, विहगावली की अनन्त शोभा और तरङ्गों का मधुर संगीत।

मैं घर पर आया तो ऐसा थका हुआ था जैसे कोई मंजिल मारकर आया हूँ। सौन्दर्य जीवन-सुधा है। मालूम नहीं क्यों इसका असर इतना प्राणघातक होता है!

लेटा तो वह सूरत सामने थी। मैं उसे हटाना चाहता था। मुझे भय था कि एक क्षण भी उस भँवर में पड़कर मैं अपने को सँभाल न सकूँगा। मैं अब लज्जावती का हो चुका था। वही अब मेरे हृदय की स्वामिनी थी। मेरा उस पर कोई अधिकार न था। लेकिन मेरे सारे संयम, सारी दलीलें निष्फल हुईं। जल के उद्वेग में नौका को धागे से कौन रोक सकता है ? अन्त में हताश होकर मैंने अपने को विचारों के प्रवाह में डाल दिया। कुछ दूर तक नौका वेगवती तरंगों के साथ चली, फिर उसी प्रवाह में विलीन हो गयी।

दूसरे दिन मैं नियत समय पर दीवान साहब के डेरे पर जा पहुँचा, इस भाँति काँपता और हिचकता जैसे कोई बालक दामिनी की चमक से चौंक-चौंककर आँखें बन्द कर लेता है कि कहीं वह चमक न जाय, कहीं मैं उसकी चमक देख न लूँ, भोला-भाला किसान भी अदालत के सामने इतना सशंक न होता होगा। यथार्थ यह था कि मेरी आत्मा परास्त हो चुकी थी, उसमें अब प्रतिकार की शक्ति न रही थी।

दीवान साहब ने मुझसे हाथ मिलाया और कोई घण्टे भर तक आर्थिक और सामाजिक प्रश्नों पर वार्तालाप करते रहे। मुझे उनकी बहुज्ञता पर आश्चर्य होता था। ऐसा वाक्-चतुर पुरुष मैंने कभी न देखा था। साठ वर्ष की वयस थी पर हास्य और विनोद के मानो भण्डार थे। न जाने कितने श्लोक, कितने कवित्त, कितने शेर उन्हें याद थे। बात-बात पर कोई-न-कोई सयुक्ति निकाल लाते थे। खेद है उस प्रकृति के लोग अब गायब होते जाते हैं। वह शिक्षा-प्रणाली न जाने कैसी थी जो ऐसे-ऐसे रत्न उत्पन्न करती थी। अब तो सजीवता कहीं दिखायी ही नहीं देती। प्रत्येक प्राणी चिन्ता की मूर्ति है, उसके होंठों पर कभी हँसी आती ही नहीं। खैर, दीवान साहब ने पहले चाय मँगवायी, फिर फल और मेवे मँगवाये। मैं रह-रहकर इधर-उधर उत्सुक नेत्रों से देखता था। मेरे कान उसके स्वर का रसपान करने के लिए मुँह खोले हुए थे, आँखें द्वार की ओर लगी हुई थीं। भय भी था और लगाव भी, झिझक भी थी और खिंचाव भी। बच्चा झूले से डरता है पर उस पर बैठना चाहता है।

लेकिन रात के नौ बज गये, मेरे लौटने का समय आ गया। मन में

लज्जित हो रहा था कि दीवान साहब दिल में क्या कह रहे होंगे। सोचते होंगे इसे कोई काम नहीं है। जाता क्यों नहीं, बैठे-बैठे दो-ढाई घण्टे तो हो गये।

सारी बातें समाप्त हो गयीं। उनके लतीफे भी खत्म हो गये। वह नीरवता उपस्थित हो गयी जो कहती है कि अब चलिए फिर मुलाकात होगी। यार जिन्दा व सोहबत बाकी। मैंने कई बार उठने का इरादा किया, लेकिन इन्तजार में आशिक की जान भी नहीं निकलती, मौत को भी इन्तजार का पास करना पड़ता है। यहाँ तक कि साढ़े नौ बज गये और अब मुझे बिदा होने के सिवाय कोई मार्ग न रहा, जैसे दिल बैठ गया।

जिसे मैंने भय कहा है, वह वास्तव में भय नहीं था, वह उत्सुकता की चरम सीमा थी।

यहाँ से चला तो ऐसा शिथिल और निर्जीव था मानो प्राण निकल गये हों। अपने को धिक्कारने लगा। अपनी क्षुद्रता पर लज्जित हुआ। तुम समझते हो कि हम भी कुछ हैं। यहाँ किसी को तुम्हारी खबर ही नहीं। किसी को तुम्हारे मरने-जीने की परवाह नहीं। माना उसके लक्षण क्वाँरियों के-से हैं। संसार में क्वाँरी लड़कियों की कमी नहीं। सौन्दर्य भी ऐसी दुर्लभ वस्तु नहीं। अगर प्रत्येक रूपवती और क्वाँरी युवती को देखकर तुम्हारी यही हालत होती रही तो ईश्वर ही मालिक है।

वह भी तो अपने दिल में यही विचार करती होगी। प्रत्येक रूपवान युवक पर उसकी आँखें क्यों उठें! कुलवती स्त्रियों के यह ढङ्ग नहीं होते। पुरुषों के लिए अगर यह रूप-तृष्णा निन्दाजनक है तो स्त्रियों के लिए विनाशकारक है। द्वैत से अद्वैत को भी इतना आघात नहीं पहुँच सकता जितना सौन्दर्य को!

दूसरे दिन शाम को मैं अपने बरामदे में बैठा पत्र देख रहा था, क्लब जाने को भी जी चाहता था। चित्त कुछ उदास था। सहसा मैंने दीवान साहब को फिटन पर आते देखा। मोटर से उन्हें घृणा थी। वह इसे पैशाचिक उड़न-खटोला कहा करते थे। उनके बगल में सुशीला भी थी। मेरा हृदय धक-धक करने लगा। उसकी निगाह मेरी तरफ उठी हो या न उठी हो, पर मेरी टकटकी उस वक्त तक लगी रही जब तक फिटन अदृश्य न हो गयी।

दूसरे दिन मैं फिर बरामदे में आ बैठा। आँखें सड़क की ओर लगी हुई थीं। फिटन आयी और चली गयी। अब यही उसका नित्यप्रति का नियम हो गया है। मेरा अब यही काम था कि सारे दिन बरामदे में बैठा रहूँ। मालूम नहीं फिटन कब निकल जाय। विशेषतः तीसरे पहर तो मैं अपनी जगह से हिलने का नाम भी न लेता था।

इस प्रकार एक मास बीत गया। मुझे अब कौंसिल के कामों में कोई उत्साह न था। समाचरपत्रों में, उपन्यासों में जी न लगता। कहीं सैर करने को भी जी न चाहता। प्रेमियों को न जाने जङ्गल, पहाड़ में भटकने की, काँटों में उलझने की सनक कैसे सवार होती है। मेरे तो जैसे पैरों में बेड़ियाँ-सी पड़ गयी थीं। बस बरामदा था और फिटन का इन्तजार। मेरी विचारशक्ति भी शायद अन्तर्धान हो गयी थी। मैं दीवान साहब को, या अङ्गरेजी शिष्टता के अनुसार सुशीला को ही अपने यहाँ निमन्त्रित कर सकता था, पर वास्तव में मैं अभी तक उससे भयभीत था। अब भी लज्जावती को अपनी प्रणयिनी समझता था, वह अब भी मेरे हृदय की रानी थी, चाहे उस पर किसी दूसरी शक्ति का अधिकार ही क्यों न हो गया हो।

एक महीना और निकल गया, लेकिन मैंने लज्जा को कोई पत्र न लिखा। मुझमें अब उसे पत्र लिखने की भी सामर्थ्य न थी। शायद उससे पत्र-व्यवहार करने को मैं नैतिक अत्याचार समझता था। मैंने उससे दगा की थी। मुझे अब उसे अपने मलिन अन्तःकरण में भी अपवित्र करने का कोई अधिकार न था।

इसका अन्त क्या होगा? यही चिन्ता अहर्निश मेरे मन पर कुहरमेघ की भाँति छायी रहती थी। जीवन मरुस्थल की भाँति शून्य हो गया था। चिन्ता-दाह से दिनोंदिन घुलता जाता था। मित्रजन अक्सर पूछा करते, आपको क्या मर्ज है; मुख निस्तेज, कान्तिहीन हो गया था। भोजन औषध के समान लगता। सोने जाता तो जान पड़ता किसी ने पिंजरे में बन्द कर दिया है। कोई मिलने आता तो चित्त उससे कोसों भागता। विचित्र दशा थी।

एक दिन शाम को दीवान साहब की फिटन मेरे द्वार पर आकर रुकी। उन्होंने अपने व्याख्यानों का एक संग्रह प्रकाशित कराया था। उसकी प्रति

मुझे भेंट करने को आये थे। मैंने उन्हें बैठने के लिए बहुत आग्रह किया, लेकिन उन्होंने यही कहा, सुशीला को यहाँ आने में संकोच होगा और फिटन पर अकेली वह घबरायगी। वह चले तो मैं भी साथ हो लिया और फिटन तक पीछे-पीछे आया। जब वह फिटन पर बैठने लगे तो मैंने सुशीला को निःशंक हो, आँख भरकर देखा, जैसे कोई प्यासा पथिक गर्मी के दिनों में अफरकर पानी पिये कि न जाने कब उसे जल मिलेगा। उस एक चितवन में वह उग्रता, वह याचना, वह उद्वेग, वह करुणा, वह श्रद्धा, वह आग्रह, वह दीनता थी जो पत्थर की मूर्ति को भी पिघला देती। सुशीला तो फिर भी स्त्री थी। उसने भी मेरी ओर देखा, निर्भीक सरल नेत्रों से, जरा भी झेंप नहीं, जरा भी झिझक नहीं। मेरे परास्त होने में जो कसर रह गयी थी वह पूरी हो गयी, इसके साथ ही उसने मुझ पर मानो अमृत-वर्षा कर दी। मेरे हृदय और आत्मा में एक नयी शक्ति का संचार हो गया। मैं लौटा तो ऐसा प्रसन्नचित्त था मानो कल्पवृक्ष मिल गया हो।

दूसरे दिन मैंने प्रोफेसर भाटिया को पत्र लिखा—मैं थोड़े दिनों से किसी गुप्त रोग में ग्रस्त हो गया हूँ। सम्भव है तपेदिक ( क्षय ) का आरम्भ हो, इसलिए मैं इस मई में विवाह करना उचित नहीं समझता। मैं लज्जावती से इस भाँति पराङ्मुख होना चाहता था कि उसकी निगाहों में मेरी इज्जत कम न हो। कभी-कभी अपनी स्वार्थपरता पर क्रुद्ध होता। लज्जा के साथ यह छल-कपट, यह बेवफाई करते हुए मैं अपनी ही नजरों में गिर गया था। लेकिन मन पर कोई वश न था। उस अबला को कितना दुःख होगा, यह सोचकर मैं कई बार रोया। अभी तक मैं सुशीला के स्वभाव, विचार, मनोवृत्तियों से जरा भी परिचित न था। केवल उसके रूप-लावण्य पर अपनी लज्जा की चिरसञ्चित अभिलाषाओं का बलिदान कर रहा था। अबोध बालकों की भाँति मिठाई के नाम पर अपने दूध-चावल को ठुकराये देता था। मैंने प्रोफेसर को लिखा था लज्जावती से मेरी बीमारी का जिक्र न करें। लेकिन प्रोफेसर साहब इतने गहरे न थे। चौथे ही दिन लज्जा का पत्र आया, जिसमें उसने अपना हृदय खोलकर रख दिया था। वह मेरे लिए सब कुछ—यहाँ तक कि वैधव्य की यन्त्रणाएँ भी सहने के लिए तैयार थी। उसकी इच्छा थी कि अब हमारे संयोग में एक

क्षण का भी विलम्ब न हो, अस्तु! इस पत्र को लिये घण्टों एक संज्ञाहीन दशा में बैठा रहा। इस अलौकिक आत्मोत्सर्ग के सामने अपनी क्षुद्रता, अपनी स्वार्थपरता, अपनी दुर्बलता कितनी घृणित थी!

( ४ )

लज्जावती

सावित्री ने क्या सब कुछ जानते हुए भी सत्यवान से विवाह नहीं किया था? फिर मैं क्यों डरूँ? अपने कर्त्तव्य-मार्ग से क्यों डिगूँ? मैं उनके लिए व्रत रखूँगी, तपस्या करूँगी। भय मुझे उनसे अलग नहीं कर सकता। मुझे उनसे कभी इतना प्रेम न था। कभी इतनी अधीरता न थी। यही मेरी परीक्षा का समय है, और मैंने निश्चय कर लिया है। पिताजी अभी यात्रा से लौटे हैं, हाथ खाली है, कोई तैयारी नहीं कर सके हैं। इसलिए दो-चार महीनों के विलम्ब से उन्हें तैयारी करने का अवसर मिल जाता, पर मैं अब विलम्ब न करूँगी। हम और वह इसी महीने में एक दूसरे के हो जायँगे, हमारी आत्माएँ सदा के लिए संयुक्त हो जायँगी, फिर कोई विपत्ति, कोई दुर्घटना मुझे उनसे जुदा न कर सकेगी।

मुझे अब एक दिन की देर भी असह्य है। मैं रस्म और रिवाज की लौंडी नहीं हूँ। न वही इसके गुलाम हैं। बाबूजी भी रस्मों के भक्त नहीं। फिर क्यों न तुरन्त नैनीताल चलूँ। उनकी सेवा-सुश्रूषा करूँ, उन्हें ढाढ़स दूँ। मैं उन्हें सारी चिन्ताओं से, समस्त विघ्न-बाधाओं से मुक्त कर दूँगी। इलाके का सारा प्रबन्ध अपने हाथ में ले लूँगी। कौंसिल के कामों में इतना व्यस्त हो जाने के कारण ही उनकी यह दशा हुई है। पत्रों में अधिकतर उन्हीं के प्रश्न, उन्हीं की आलोचनाएँ, उन्हीं की वक्तृताएँ दिखायी देती हैं। मैं उनसे याचना करूँगी कि कुछ दिनों के लिए कौंसिल से इस्तीफा दे दें। वह मेरा गाना कितने चाव से सुनते थे। मैं उन्हें अपने गीत सुनाकर प्रसन्न करूँगी, किस्से पढ़कर सुनाऊँगी, उनको समुचित रीति से शान्त रखूँगी। इस देश में तो इस रोगी की दवा नहीं हो सकती। मैं उनके पैरों पर गिरकर प्रार्थना करूँगी कि कुछ दिनों के लिए यूरोप के किसी सैनिटोरियम में चलें और विधिपूर्वक इलाज करायें। मैं कल ही कालेज के पुस्तकालय से इस रोग के सम्बन्ध की पुस्तकें लाऊँगी, और विचारपूर्वक उनका

अध्ययन करूँगी। दो-चार दिन में कालेज बन्द हो जायगा। मैं आज ही बाबू-जी से नैनीताल चलने की चर्चा करूँगी।

( ५ )

आह! मैंने कल इन्हें देखा तो पहचान न सकी। कितना सुर्ख चेहरा था, कितना भरा हुआ शरीर, मालूम होता था ईंगुर भरा हुआ है! कितना सुन्दर अंग-विन्यास था! कितना शौर्य था! तीन ही वर्षों में यह काया पलट हो गयी, मुख पीला पड़ गया है, शरीर घुलकर काँटा हो गया। आहार आधा भी नहीं रहा, हरदम चिन्ता में मग्न रहते हैं। कहीं आते-जाते नहीं देखती। इतने नौकर हैं, इतना सुरम्य स्थान है। विनोद के सभी सामान मौजूद हैं। लेकिन इन्हें अपना जीवन अब अन्धकारमय जान पड़ता है। इस कलमुँही बीमारी का सत्यानाश हो। अगर इसे ऐसी ही भूख थी तो मेरा शिकार क्यों न किया। मैं बड़े प्रेम से इसका स्वागत करती। कोई ऐसा उपाय होता कि यह बीमारी इन्हें छोड़-कर मुझे पकड़ लेती! मुझे देखकर कैसे खिल जाते थे और मैं मुसकराने लगती थी। एक-एक अंग प्रफुल्लित हो जाता था। पर मुझे यहाँ दूसरा दिन है। एक बार भी उनके चेहरे पर हँसी न दिखायी दी। जब मैंने बरामदे में कदम रखा तब जरूर हँसे थे, किन्तु कितनी निराशा थी। बाबूजी अपने आँसुओं को न रोक सके। अलग कमरे में जाकर देर तक रोते रहे। लोग कहते हैं, कौंसिलों में लोग केवल सम्मान-प्रतिष्ठा के लोभ से जाते हैं। उनका लक्ष्य केवल नाम पैदा करना होता है। बेचारे मेम्बरों पर यह कितना कठोर आक्षेप है, कितनी घोर कृतघ्नता। जाति की सेवा में शरीर को घुलाना पड़ता है, रक्त को जलाना पड़ता है। यही जाति-सेवा का उपहार है।

पर यहाँ के नौकरों को जरा भी चिन्ता नहीं है। बाबूजी ने इनके दो-चार मिलनेवालों से बीमारी का जिक्र किया पर उन्होंने भी परवाह न की। यह मित्रों की सहानुभूति का हाल है! सभी अपनी-अपनी धुन में मस्त हैं, किसी को खबर नहीं कि दूसरों पर क्या गुजरती है। हाँ, इतना मुझे भी मालूम होता है कि इन्हें क्षय का केवल भ्रम है। उसके कोई लक्षण नहीं देखती। परमात्मा करे, मेरा अनुमान ठीक हो। मुझे तो कोई और ही रोग मालूम होता है। मैंने कई बार टेम्परेचर लिया। उष्णता साधारण थी। उसमें कोई आकस्मिक परिवर्तन

भी न हुआ। अगर यही बीमारी है तो अभी आरम्भिक अवस्था है, कोई कारण नहीं कि उचित प्रयत्न से उसकी जड़ न उखड़ जाय। मैं कल से ही इन्हें नित्य सैर कराने ले जाऊँगी। मोटर की जरूरत नहीं, फिटन पर बैठने से ज्यादा लाभ होगा। मुझे वह स्वयं कुछ लापरवाह से जान पड़ते हैं। इस मर्ज के बीमारों को बड़ी एहतियात करते देखा है। दिन में बीसों बार तो थरमामेटर देखते हैं, पथ्यापथ्य का बड़ा विचार रखते हैं। वे फल, दूध और अन्य पुष्टिकारक पदार्थों का सेवन किया करते हैं। यह नहीं कि जो कुछ रसोइये ने अपने मन से बनाकर सामने रख दिया वही दो-चार ग्रास खाकर उठ आये। मुझे तो विश्वास होता जाता है कि इन्हें कोई दूसरी ही शिकायत है। जरा अवकाश मिले तो इसका पता लगाऊँ। कोई चिन्ता तो नहीं है? रियासत पर कर्ज का बोझ तो नहीं है? थोड़ा बहुत कर्ज तो अवश्य ही होगा। यह तो रईसों की शान है। अगर कर्ज ही इसका मूल कारण है तो अवश्य कोई भारी रकम होगी।

( ६ )

चित्त विविध चिन्ताओं से इतना दबा हुआ है कि कुछ लिखने को जी नहीं चाहता। मेरे समस्त जीवन की अभिलाषाएँ मिट्टी में मिल गयीं। हा हतभाग्य! मैं अपने को कितनी खुशनसीब समझती थी। अब संसार में मुझसे ज्यादा बदनसीब और कोई न होगा। वह अमूल्य रत्न, जो मुझे चिरकाल की तपस्या और उपासना से न मिला, वह इस मृगनयनी सुन्दरी को अनायास मिला जाता है। शारदा ने अभी उसे हाल में ही देखा है। कदाचित् अभी तक उससे परस्पर बातचीत करने की नौबत नहीं आयी। लेकिन उससे कितने अनुरक्त हो रहे हैं। उसके प्रेम में कैसे उन्मत्त हो गये हैं। पुरुषों को परमात्मा ने हृदय नहीं दिये, केवल आँखें दी हैं। वह हृदय की कद्र करना नहीं जानते, केवल रूप-रङ्ग पर बिक जाते हैं। अगर मुझे किसी तरह विश्वास हो जाय कि सुशीला उन्हें मुझसे ज्यादा प्रसन्न रख सकेगी, उनके जीवन को अधिक सार्थक बना देगी, तो मुझे उसके लिए जगह खाली करने में जरा भी आपत्ति न होगी। वह इतनी गर्ववती, इतनी निठुर है, कि मुझे भय है कहीं शारदा को पछताना न पड़े।

लेकिन यह मेरी स्वार्थ-कल्पना है। सुशीला गर्ववती सही, निठुर सही, विलासिनी सही, शारदा ने अपना प्रेम उस पर अर्पण कर दिया है। वह बुद्धिमान

हैं, चतुर हैं, दूरदर्शी हैं। अपना हानि-लाभ सोच सकते हैं। उन्होंने सब कुछ सोचकर ही यह निश्चय किया होगा। जब उन्होंने मन में यह बात ठान ली तो मुझे कोई अधिकार नहीं है कि उनके सुखमार्ग का काँटा बनूँ। मुझे सब्र करके, अपने मन को समझाकर यहाँ से निराश, हताश, भग्नहृदय, बिदा हो जाना चाहिए। परमात्मा से यही प्रार्थना है कि उन्हें प्रसन्न रखे। मुझे जरा भी ईर्ष्या, जरा भी दम्भ नहीं है। मैं तो उनकी इच्छाओं की चेरी हूँ, अगर उन्हें मुझको विष दे देने से खुशी होती तो मैं शौक से विष का प्याला पी लेती। प्रेम ही जीवन का प्राण है। हम इसी के लिए जीना चाहते हैं। अगर इसके लिए मरने का भी अवसर मिले तो धन्य भाग! यदि केवल मेरे हट जाने से सब काम सँवर सकते हैं तो मुझे कोई इन्कार नहीं। हरि इच्छा। लेकिन मानव-शरीर पाकर कौन माया-मोह से रहित होता है? जिस प्रेमलता को मुद्दतों से पाला था, आँसुओं से सींचा था, उसका पैरों-तले रौंदा जाना नहीं देखा जाता। हृदय विदीर्ण हो जाता है। अब कागज तैरता हुआ जान पड़ता है, आँसू उमड़े चले आते हैं, कैसे मन को खींचूँ। हा! जिसे अपना समझती थी, जिसके चरणों पर अपने को भेंट कर चुकी थी, जिसके सहारे जीवन-लता पल्लवित हुई थी, जिसे हृदय-मन्दिर में पूजती थी, जिसके ध्यान में मग्न हो जाना जीवन का सबसे प्यारा काम था, उससे अब अनन्त काल के लिए वियोग हो रहा है। आह! किससे अब फरियाद करूँ? किसके सामने जाकर रोऊँ? किससे अपनी दुःख-कथा कहूँ? मेरा निर्बल हृदय यह वज्राघात नहीं सह सकता। यह चोट मेरी जान लेकर छोड़ेगी। अच्छा ही होगा। प्रेम-विहीन हृदय के लिए संसार कालकोठरी है, नैराश्य और अन्धकार से भरी हुई। मैं जानती हूँ अगर आज बाबूजी उनसे विवाह के लिए जोर दें तो वह तैयार हो जायँगे, वह मुरौवत के पुतले हैं। केवल मेरा मन रखने के लिए अपनी जान पर खेल जायँगे। वह उन शीलवान पुरुषों में हैं जिन्होंने 'नहीं' करना ही नहीं सीखा। अभी तक उन्होंने दीवान साहब से सुशीला के विषय में कोई बातचीत भी नहीं की। शायद मेरा रुख देख रहे हैं। इसी असमंजस ने उन्हें इस दशा को पहुँचा दिया है। वह मुझे हमेशा प्रसन्न रखने की चेष्टा करेंगे। मेरा दिल कभी न दुखावेंगे, सुशीला की चर्चा भूलकर भी न करेंगे। मैं उनके स्वभाव को जानती हूँ। वह

नर-रत्न हैं। लेकिन मैं उनके पैरों की बेड़ी नहीं बनना चाहती। जो कुछ बीते अपने ही ऊपर बीते। उन्हें क्यों समेटूँ ? डूबना ही है तो आप ही क्यों न डूबूँ, उन्हें अपने साथ क्यों डुबाऊँ ?

यह भी जानती हूँ कि यदि इस शोक ने घुला-घलाकर मेरी जान ले ली तो यह अपने को कभी क्षमा न करेंगे। उनका समस्त जीवन क्षोभ और ग्लानि की भेंट हो जायगा, उन्हें कभी शान्ति न मिलेगी। कितनी विकट समस्या है। मुझे मरने की भी स्वाधीनता नहीं ! मुझे उनको प्रसन्न रखने के लिए अपने को प्रसन्न रखना होगा। उनसे निष्ठुरता करनी पड़ेगी। त्रिया-चरित्र खेलना पड़ेगा। दिखाना पड़ेगा कि इस बीमारी के कारण अब विवाह की बातचीत अनर्गल है। वचन को तोड़ने का अपराध अपने सिर लेना पड़ेगा। इसके सिवाय उद्धार की और कोई व्यवस्था नहीं। परमात्मा मुझे बल दो कि इस परीक्षा में सफल हो जाऊँ।

## ( ७ )

## शारदाचरण

एक ही निगाह ने निश्चय कर दिया। लज्जा ने मुझे जीत लिया। एक ही निगाह से सुशीला ने भी मुझे जीता था। उस निगाह में प्रबल आकर्षण था, एक मनोहर सारल्य, एक आनन्दोद्गार, जो किसी भाँति छिपाये नहीं छिपता था; एक बालोचित उल्लास, मानो उसे कोई खिलौना मिल गया हो। लज्जा की चितवन में क्षमा थी और थी करुणा, नैराश्य तथा वेदना। वह अपने को मेरी इच्छा पर बलिदान कर रही थी। आत्म-परिचय में उसे सिद्धि है। उसने अपनी बुद्धिमानी से सारी स्थिति ताड़ ली और तुरन्त फैसला कर लिया। वह मेरे सुख में बाधक नहीं बनना चाहती थी। उसके साथ ही यह भी प्रकट करना चाहती थी कि मुझे तुम्हारी परवाह नहीं है। और तुम मुझसे जौ-भर खिंचोगे तो मैं तुम से गज-भर खिंच जाऊँगी। लेकिन मनोवृत्तियाँ सुगन्ध के समान हैं जो छिपाने से नहीं छिपतीं। उसकी निठुरता में नैराश्यमय वेदना थी; उसकी मुसकान में आँसुओं की झलक। वह मेरी निगाह बचाकर क्यों रसोई में चली जाती थी और कोई-न-कोई पाक, जिसे वह जानती है कि मुझे रुचिकर है, बना लाती थी ? वह मेरे नौकरों को क्यों आराम से रखने

की गुप्तरीति से ताकीद किया करती थी ? समाचारपत्रों को क्यों मेरी निगाह से छिपा दिया करती थी ? क्यों संध्या-समय मुझे सैर करने को मजबूर किया करती थी ? उसकी एक-एक बात, उसके हृदय का परदा खोल देती थी। उसे कदाचित् मालूम नहीं है कि आत्म-परिचय रमणियों का विशेष गुण नहीं। उस दिन जब प्रोफेसर भाटिया ने बातों ही बातो में मुझ पर व्यंग किये, मुझे विभव और सम्पत्ति का दास कहा और मेरे साम्यवाद की हँसी उड़ानी चाही तो उसने कितनी चतुरता से बात टाल दी। पीछे से मालूम नहीं उसने उनसे क्या कहा, पर मैं बरामदे में बैठा सुन रहा था कि बाप और बेटी बगीचे में बैठे हुए किसी विषय पर बहस कर रहे हैं। कौन ऐसा हृदयशून्य प्राणी है जो निष्काम सेवा के वशीभूत न हो जाय। लज्जावती को मैं बहुत दिनों से जानता हूँ। पर मुझे ज्ञात हुआ कि इसी मुलाकात में मैंने उसका यथार्थ रूप देखा। पहले मैं उसकी रूपराशि का, उसके उदार विचारों का, उसकी मृदुवाणी का भक्त था। उसकी उज्ज्वल, दिव्य आत्मज्योति मेरी आँखों से छिपी हुई थी। मैंने अबकी ही जाना कि उसका प्रेम कितना गहरा, कितना पवित्र, कितना अगाध है। इस अवस्था में कोई दूसरी स्त्री ईर्ष्या से बावली हो जाती, मुझसे नहीं तो सुशीला से तो अवश्य ही जलने लगती, आप कुढ़ती, उसे व्यंगों से छेदती। आप मुझे धूर्त्त, कपटी, पाषाण, न जाने क्या-क्या कहती। पर लज्जा ने जितने विशुद्ध प्रेम-भाव से सुशीला का स्वागत किया, वह मुझे कभी न भूलेगा—मालिन्य, संकीर्णता, कटुता का लेश तक न था। इस तरह उसे हाथों-हाथ लिये फिरती थी, मानो छोटी बहिन उसके यहाँ मेहमान है। सुशीला इस व्यवहार पर मनोमुग्ध हो गयी। आह ! वह दृश्य भी चिरस्मरणीय है, जब लज्जावती मुझसे विदा होने लगी। प्रोफेसर भाटिया मोटर पर बैठे हुए थे। वह मुझसे कुछ खिन्न हो गये और जल्दी-जल्दी भाग जाना चाहते थे। लज्जा एक उज्ज्वल साड़ी पहने हुए मेरे सम्मुख आकर खड़ी हो गयी। वह एक तपस्विनी थी जिसने प्रेम पर अपना जीवन अर्पण कर दिया हो। श्वेत पुष्पों की माला थी जो किसी देवमूर्त्ति के चरणों पर पड़ी हुई हो। उसने मुसकराकर मुझसे कहा—कभी-कभी पत्र लिखते रहना, इतनी कृपा की मैं अपने को अधिकारिणी समझती हूँ।

मैंने जोश से कहा—हाँ अवश्य।

लज्जावती ने फिर कहा—शायद यह हमारी अंतिम भेंट हो। न जाने मैं कहाँ रहूँगी, कहाँ जाऊँगी, फिर कभी आ सकूँगी या नहीं। मुझे बिलकुल भूल न जाना। अगर मेरे मुँह से कोई ऐसी बात निकल आयी हो जिससे तुम्हें दुःख हुआ हो तो क्षमा करना और....अपने स्वास्थ्य का बहुत ध्यान रखना।

यह कहते हुए उसने मेरी तरफ हाथ बढ़ाये। हाथ काँप रहे थे। कदाचित् आँखों में आँसुओं का आवेग हो रहा था। वह जल्दी से कमरे के बाहर निकल जाना चाहती थी। अपने जब्त पर अब उसे भरोसा न था; उसने मेरी ओर दबी हुई आँखों से देखा। मगर इस अर्द्ध चितवन में दबे हुए पानी का वेग और प्रवाह था। इस प्रवाह में मैं स्थिर न रह सका। इस निगाह ने हारी हुई बाजी जीत ली; मैंने उसके दोनों हाथ पकड़ लिये और गद्‌गद स्वर से बोला—नहीं लज्जा, अब हममें और तुममें भी वियोग न होगा।

* * *

सहसा चपरासी ने सुशीला का पत्र लाकर सामने रख दिया। लिखा था—

प्रिय श्री शारदाचरणजी,

हम लोग कल यहाँ से चले जायँगे। मुझे आज बहुत काम करना है, इसलिए मिल न सकूँगी। मैंने आज रात को अपना कर्त्तव्य स्थिर कर लिया। मैं लज्जावती के बने-बनाये घर को उजाड़ना नहीं चाहती; मुझे पहले यह बात न मालूम थी, नहीं तो हममें इतनी घनिष्टता न होती। मेरा आपसे यही अनुरोध है कि लज्जा को हाथ से जाने न दीजिए। वह नारी-रत्न है। मैं जानती हूँ कि मेरा रूप-रङ्ग उससे कुछ अच्छा है और कदाचित् आप उसी प्रलोभन में पड़ गये, लेकिन मुझ में वह त्याग, वह सेवा-भाव, वह आत्मोत्सर्ग नहीं है। मैं आपको प्रसन्न रख सकती हूँ, पर आपके जीवन को उन्नत नहीं कर सकती, उसे पवित्र और यशस्वी नहीं बना सकती। लज्जा देवी है, वह आपको देवता बना देगी। मैं अपने को इस योग्य नहीं समझती। कल मुझसे भेंट करने का विचार न कीजिए। रोने-रुलाने से क्या लाभ। क्षमा कीजिएगा।

आपकी—सुशीला।

मैंने यह पत्र लज्जा के हाथ में रख दिया। वह पढ़कर बोली—मैं उससे आज ही मिलने जाऊँगी।

मैंने उसका आशय समझकर कहा—क्षमा करो। तुम्हारी उदारता की दूसरी बार परीक्षा नहीं लेना चाहता।

यह कहकर मैं प्रोफेसर भाटिया के पास गया। वह मोटर पर मुँह फुलाये बैठे थे। मेरे बदले लज्जावती आयी होती तो उस पर जरूर ही बरस पड़ते।

मैंने उनके पद स्पर्श किये और सिर झुकाये बोला—आपने मुझे सदैव अपना पुत्र समझा है। अब उस नाते को और भी सुदृढ़ कर दीजिए।

प्रोफेसर भाटिया ने पहले तो मेरी ओर अविश्वासपूर्ण नेत्रों से देखा। तब मुसकराकर बोले—यह तो मेरे जीवन की सबसे बड़ी अभिलाषा थी।

---

# लोकमत का सम्मान

बेचू धोबी को अपने गाँव और घर से उतना ही प्रेम था जितना प्रत्येक मनुष्य को होता है। उसे रूखी-सूखी और आधे पेट खाकर भी अपना गाँव समग्र संसार से प्यारा था। यदि उसे वृद्धा किसान स्त्रियों की गालियाँ खानी पड़ती थीं तो बहुओं से 'बेचू दादा' कहकर पुकारे जाने का गौरव भी प्राप्त होता था। आनन्द और शोक के प्रत्येक अवसर पर उसका बुलावा होता था, विशेषतः विवाहों में तो उसकी उपस्थिति वर और वधू से कम आवश्यक न थी। उसकी स्त्री घर में पूजी जाती थी, द्वार पर बेचू का स्वागत होता था। वह पेशवाज पहने, कमर में घण्टियाँ बाँधे साजिन्दों को साथ लिये एक हाथ मृदङ्ग और दूसरा अपने कान पर रखकर जब तत्कालरचित बिरहे और बोल कहने लगता तो आत्मसम्मान से उसकी आँखें उन्मत्त हो जाती थीं! हाँ, जमींदार के नौकरों की क्रूरता और अत्याचार कभी-कभी इतने असह्य हो जाते थे कि उसका जी गाँव छोड़कर भाग जाने को चाहने लगता। गाँव में कारिन्दा साहब के अतिरिक्त पाँच-छः चपरासी थे। उनके सहवासियों की

संख्या भी कम न थी। बेचू को इन सब सज्जनों के कपड़े मुफ्त धोने पड़ते थे। उसके पास इस्तरी न थी। उनके कपड़ों पर इस्तरी करने के लिए उसे दूसरे-दूसरे गाँव के धोबियों की चिरौरी करनी पड़ती थी। अगर कभी बिना इस्तरी किये ही कपड़े ले जाता तो उसकी शामत आ जाती थी। मार पड़ती, घण्टों चौपाल के सामने खड़ा रहना पड़ता, गालियों की वह बौछार पड़ती कि सुननेवाले कानों पर हाथ रख लेते। उधर से गुजरनेवाली स्त्रियाँ लज्जा से सिर झुका लेतीं।

जेठ का महीना था। आस-पास के ताल-तलैया सब सूख गये थे। बेचू को पहर रात रहते दूर के एक ताल पर जाना पड़ता था। यहाँ भी धोबियों की ओसरी बँधी हुई थी। बेचू की ओसरी पाँचवें दिन पड़ती थी। पहर रात रहे लादी लादकर ले जाता। मगर जेठ की धूप में ६-१० बजे के बाद खड़ा न हो सकता। आधी लादी भी न धुल पाती, बिना धुले कपड़े समेटकर घर चला आता। गाँव के सरल जजमान उसकी विपत्ति-कथा सुनकर शान्त हो जाते थे; न कोई गालियाँ देता, न मारने दौड़ता। जेठ की धूप में उन्हें भी पुर चलाना और खेत गोड़ना पड़ता था। अपने पैरों में बिवाय फटी थी, उसकी पीर जानते थे। परन्तु कारिन्दा महाशय को प्रसन्न करना इतना सहज न था। उनके आदमी नित्य बेचू के सिर पर सवार रहते थे। वह बड़ी गम्भीरता से कहते—'तू एक-एक अठवारे तक कपड़े नहीं लाता, क्या यह भी कोई जाड़े के दिन हैं, आजकल पसीने से दूसरे दिन कपड़े मैले हो जाते है, कपड़ों से बू आने लगती है और तुझे कुछ भी परवाह नहीं रहती।' बेचू हाथ-पैर जोड़कर किसी तरह उन्हें मनाता रहता था, यहाँ तक कि एक बार उसे बातें करते ६ दिन हो गये और कपड़े तैयार न हो सके। धुल तो गये थे पर इस्तरी न हुई थी। अन्त में विवश होकर बेचू दसवें दिन कपड़े लेकर चौपाल पहुँचा। मारे डर के पैर आगे न उठते थे। कारिन्दा साहब उसे देखते ही क्रोध से लाल हो गये। बोले—क्यों बे पाजी, तुझे गाँव में रहना है कि नहीं?

बेचू ने कपड़ों की गठरी तख्त पर रख दी और बोला—क्या करूँ सरकार, कहीं भी पानी नहीं है और न मेरे पास इस्तरी ही है।

कारिन्दा—पानी तेरे पास नहीं है और सारी दुनिया में है? अब तेरा इलाज

इसके सिवाय और कुछ नहीं है कि गाँव से निकाल दूँ। शैतान, दाई से पेट छिपाने चला है, कपड़े दूसरों को बरात करने के लिए दे देता है और उस पर बहाने बताता है, पानी नहीं, इस्तरी नहीं !

बेचू—मालिक, गाँव अपना है चाहे रहने दें चाहे निकाल दें, लेकिन यह कलङ्क न लगायें। इतनी उमिर आप ही लोगों की खिदमत करते हो गयी, पर चाहे कितनी ही भूल-चूक हुई हो कभी नीयत बद नहीं हुई। अगर गाँव में कोई कह दे कि मैंने कभी गाहकों के साथ ऐसी चाल चली है तो उसकी टाँग की राह निकल जाऊँ। यह दस्तूर शहर के धोबियों का है।

निरंकुशता का तर्क से विरोध है। कारिन्दा साहब ने कुछ और अपशब्द कहे। बेचू ने भी न्याय और दया की दुहाई दी। फल यह हुआ कि उसे आठ दिन हल्दी और गुड़ पीना पड़ा। नवें दिन उसने सब गाहकों के कपड़े जैसे-तैसे करके धो दिये, अपना बोरिया-बधना सँभाला और बिना किसी से कुछ कहे-सुने रात को पटने की राह ली। अपने पुराने गाहकों से विदा होने के लिए जितने धैर्य की जरूरत थी उससे वह वञ्चित था।

( २ )

बेचू शहर में आया तो उसे ऐसा जान पड़ा कि मेरे लिए पहले से ही जगह खाली थी। उसे केवल एक कोठरी किराये पर लेनी पड़ी और काम चल निकला। पहले तो वह किराया सुनकर चकराया। देहात में तो उसे महीने-भर में इतनी धुलाई भी न मिलती थी, पर जब धुलाई की दर मालूम हुई तो किराये की अखर मिट गयी। एक ही महीने में ग्राहकों की संख्या उसकी गणना-शक्ति से अधिक हो गयी। यहाँ पानी की कमी न थी। वह वादों का पक्का था। अभी नागरिक जीवन के कुसंस्कारों से मुक्त था। कभी-कभी उसकी एक दिन की मजूरी देहात की वार्षिक आय से बढ़ जाती थी।

लेकिन तीन ही चार महीने में उसे शहर की हवा लगने लगी। पहले नारियल पीता था; अब एक गुड़गुड़ी लाया। नंगे पाँव जूते से वेष्टित हो गये और मोटे अनाज से पाचन-क्रिया में विघ्न पड़ने लगा। पहले कभी-कभी तीज-त्योहार के दिन शराब पी लिया करता था, अब थकान मिटाने के लिए नित्य उसका सेवन होने लगा। स्त्री को आभूषणों की चाट पड़ी, और धोबिनें बन-ठनकर निकलती

हैं, मैं किससे कम हूँ। लड़के खोंचे पर लट्टू हुए, हलवे और मूँगफली की आवाज सुनकर अधीर हो जाते। उधर मकान के मालिक ने किराया बढ़ा दिया; भूसा और खली भी मोतियों के मोल बिकती थी, लादी के दोनों बैलों का पेट भरने में कुछ एक खासी रकम निकल जाती थी। अतएव पहले कई महीनों में जो बचत हो जाती थी वह अब गायब हो गयी। कभी-कभी खर्च का पलड़ा भारी हो जाता। लेकिन किफायत करने की कोई विधि समझ में न आती थी। निदान स्त्री ने बेचू की नजर बचाकर ग्राहकों के कपड़े पछाई देने शुरू किये। बेचू को यह बात मालूम हुई तो बिगड़कर बोला—अगर मैंने फिर यह शिकायत सुनी तो मुझसे बुरा कोई न होगा। इसी इलजाम पर तो मैंने बाप-दादे का गाँव छोड़ दिया। यहाँ से भी निकालना चाहती है क्या?

स्त्री ने उत्तर दिया—तुम्हीं से तो एक दिन भी दारू के बिना नहीं रहा जाता। मैं क्या पैसे लाकर लुटाती हूँ। जो खर्च लगे वह देते जाओ। मुझे इससे कुछ मिठाई थोड़े ही मिलती है? पर शनैः-शनैः नैतिक ज्ञान ने आवश्यकता के सामने सिर झुकाना शुरू किया। एक बार उसे कई दिन तक ज्वर आया। स्त्री उसे डोली पर बिठाकर वैद्य के यहाँ ले गयी। वैद्यजी ने नुसखा लिख दिया। घर में पैसे न थे। बेचू स्त्री को कातर नेत्रों से देखकर बोला—तो क्या होगा? दवा तो मँगानी ही है।

स्त्री—जो कहो वह करूँ।

बेचू—किसी से उधार न मिलेगा?

स्त्री—सबसे तो उधार ले चुकी। मुहल्ले में राह चलना मुश्किल है। अब किससे लूँ? अकेले जितना काम हो सकता है करती हूँ। अब छाती फाड़के मर थोड़े ही जाऊँगी? कुछ पैसे ऊपर से मिल जाते थे लेकिन तुमने उसकी मनाही कर दी है। तो अब मेरा क्या बस है? दो दिन से बैल भूखे खड़े हैं। दो रुपये हों तो इनका पेट भरे।

बेचू—अच्छा जो तेरे जी में आये कर, किसी तरह काम तो चले। मुझे मालूम हो गया कि शहर में अच्छी नीयतवाले आदमी का निर्वाह नहीं हो सकता।

उस दिन से यहाँ भी अन्य धोबियों की नीति का व्यवहार होने लगा।

( ३ )

बेचू के पड़ोस में एक वकील के मुहर्रिर मुंशी दाताराम रहा करते थे। बेचू कभी-कभी अवकाश के समय उनके पास जा बैठता। पड़ोस की बात थी, धुलाई का कोई हिसाब-किताब न था। मुंशीजी बेचू की खातिर करते, अपनी चिलम उतारकर उसकी तरफ बढ़ा देते, कभी घर में कोई अच्छी चीज पकती तो बेचू के लड़कों के लिए भेजवा देते। हाँ, इसका विचार रखते थे कि इन सत्कारों का मूल्य धुलाई के पैसों से बढ़ने न पाये।

गर्मियों के दिन थे, बारातों की धूम थी। मुंशीजी को एक बारात में शरीक होना था। गुड़गुड़ी के लिए पेचवान बनवाया, रोगनी चिलम लाये, सलेमशाही जूते खरीदे, अपने वकील साहब के घर से एक कालीन मँगनी लाये, एक मित्र से सोने की अँगूठी और बटन लिये। इन सामग्रियों के एकत्रित करने में ज्यादा कठिनाई न पड़ी, किन्तु कपड़े मँगनी लेते हुए शर्म आती थी। बारात के योग्य कपड़े बनवाने की गुञ्जाइश न थी। तनजेब के कुरते, रेशमी अचकन, नैनसुख का चुन्नटदार पायजामा, बनारसी साफा बनवाना आसान न था। खासी रकम लगती थी। रेशमी किनारे की धोतियाँ और काशी सिल्क की चादर खरीदनी भी कठिन समस्या थी। कई दिनों तक बेचारे इसी चिन्ता में पड़े रहे। अन्त में बेचू के सिवाय और कोई इस चिन्ता का निवारण करनेवाला न दिखायी दिया। संध्या समय जब बेचू उनके पास आकर बैठा तो बड़ी नम्रता से बोले—'बेचू, एक बारात में जाना था। और सब सामान तो मैंने जमा कर लिये हैं, मगर कपड़े बनवाने में झंझट है। रुपयों की तो कोई चिन्ता नहीं, तुम्हारी दया से हाथ कभी खाली नहीं रहता। पेशा भी ऐसा है कि जो कुछ मिल जाय वह थोड़ा है। एक-न-एक आँख का अन्धा गाँठ का पूरा नित्य फँसा ही रहता है पर जानते हो आजकल लग्न की तेजी है, दरजियों को सिर उठाने की फुरसत नहीं है, दूनी सिलाई लेते हैं तिस पर भी महीनों दौड़ाते हैं। अगर तुम्हारे यहाँ मेरे लायक कपड़े हों तो दो-तीन दिन के लिए दे दो, किसी तरह सिर से यह बला टले। नेवता दे देने में किसी का क्या खर्च होता है, बहुत किया तो पत्र छपवा लिये, लेकिन लोग यह नहीं सोचते कि बरातियों को कितनी तैयारियाँ करनी पड़ती हैं, क्या-क्या कठिनाइयाँ पड़ती हैं। अगर बिरादरी में यह रिवाज हो

जाता कि जो महाशय निमन्त्रण भेजें वही उसके लिए सब सामान भी जुटायें तो लोग इतनी बेपरवाही से नेवते न दिया करते। तो बोलो—इतनी मदद करोगे न ?

बेचू ने मुरौवत में पड़कर कहा—मुंशीजी, आपके लिए किसी बात से इन्कार थोड़े ही है। लेकिन बात यह है कि आजकल लगन की तेजी से सभी गाहक अपने-अपने कपड़ों की जल्दी मचा रहे हैं, दिन में तीन-तीन बेर आदमी भेजते हैं। ऐसा न हो, इधर आपको कपड़े दे दूँ उधर कोई जल्दी मचाने लगे।

मुंशीजी—अजी, दो-तीन दिन के लिए टालना कौन बड़ा काम है। तुम चाहो तो हफ्तों टाल सकते हो, अभी भट्टी नहीं दी, अभी इस्तरी नहीं हुई, घाट बन्द है। तुम्हारे पास बहानों की क्या कमी है ? पड़ोस में रहकर मेरी खातिर से इतना भी न करोगे ?

बेचू—नहीं मुंशीजी, आपके लिए जान हाजिर है। चलिए कपड़े पसन्द कर लीजिए तो मैं उन पर और एक बेर इस्तरी करके ठीक कर दूँ। यही न होगा गाहकों की घुड़कियाँ खानी पड़ेंगी। दो-चार गाहक टूट भी जायँगे तो कौन गम है।

( ४ )

मुंशी दाताराम ठाट से बरात में पहुँचे। वहाँ उनके बनारसी साफे, रेशमी अचकन और रेशमी चादर ने ऐसा रंग जमाया कि लोग समझने लगे यह कोई बड़े रईस हैं। बेचू भी उनके साथ हो लिया था। मुंशीजी उसकी बड़ी खातिर कर रहे थे। उसे एक बोतल शराब दिला दी, भोजन करने गये तो एक पत्तल उसके वास्ते भी लेते आये। बेचू के बदले उसे चौधरी कहकर पुकारते थे। यह सारा ठाटबाट उसी की बदौलत तो था।

आधी रात गुजर चुकी थी। महफिल उठ गयी थी। लोग सोने की तैयारियाँ कर रहे थे। बेचू मुंशीजी की चारपाई के पास एक चादरा ओढ़े पड़ा था। मुंशीजी ने कपड़े उतारे और बड़ी सावधानी से अलगनी पर लटका दिये। हुक्का तैयार था। लेटकर पीने लगे कि अकस्मात् साजिन्दों में से एक अताई आकर सामने खड़ा हो गया और बोला—कहिए हजरत, यह अचकन और साफा

आपने कहाँ पाया ?

मुंशीजी ने उसकी ओर सशंक नेत्रों से देखकर कहा—इसका क्या मत-लब ?

अताई—इसका मतलब यह है कि दोनों चीजें मेरी हैं।

मुंशीजी ने दुस्साहसपूर्ण भाव से कहा—क्या तुम्हारे ख्याल में रेशमी अच-कन और साफा तुम्हारे सिवाय और किसी के पास हो ही नहीं सकता ?

अताई—हो क्यों नहीं सकता। अल्लाह ने जिसे दिया है वह पहनता है। एक-से-एक पड़े हुए हैं। मैं किस गिनती में हूँ। लेकिन यह दोनों चीजें मेरी हैं। अगर ऐसी अचकन शहर में किसी के पास निकल आये तो जो जरीबाना कहिए दूँ। मैंने इसके सिलाई के दस रुपये दिये हैं। ऐसा कोई कारीगर ही शहर में नहीं। ऐसी तराश करता है कि हाथ चूम ले। साफे पर भी मेरा निशाना बना हुआ है। लाइए दिखा दूँ। मैं आपसे महज इतना पूछना चाहता हूँ कि आपने यह चीजें कहाँ पायीं ?

मुंशीजी समझ गये कि अब अधिक तर्क-वितर्क का स्थान नहीं है। कहीं बात बढ़ जाय तो बेइज्जती हो। कूटनीति से काम न चलेगा। नम्रता से बोले —भाई, यह न पूछो, यहाँ इन बातों के कहने का मौका नहीं है। हमारी और तुम्हारी इज्जत एक है। बस इतना ही समझ लो कि इसी तरह दुनिया का काम चलता है। अगर ऐसे कपड़े बनवाने बैठता तो इस वक्त सैकड़ों के माथे जाता। यहाँ तो किसी तरह नवेद में शरीक होना था। तुम्हारे कपड़े खराब न होंगे इसका जिम्मा मेरा। मैं इनकी एहतियात अपने कपड़ों से भी ज्यादा करता हूँ।

अताई—कपड़े की मुझे फिकर नहीं, आपकी दुआ से अल्लाह ने बहुत दिया है। रईसों को खुदा सलामत रखे, उनकी बदौलत पाँचों अँगुलियाँ घी में हैं। न मैं आपको बदनाम करना चाहता हूँ। आपकी जूतियों का गुलाम हूँ। मैं सिर्फ इतना जानना चाहता था कि यह कपड़े आपने किससे पाये ? मैंने बेचू धोबी को धोने के लिए दिये थे। ऐसा तो नहीं हुआ कि कोई चोर बेचू के घर से उड़ा लाया हो, या किसी धोबी ही ने बेचू के घर से चुराकर आपको दे दिये हों, क्योंकि बेचू ने अपने हाथ से आपको हरगिज कपड़े न दिये

ेंगे। वह ऐसा छिछोरापन नहीं करता। मैं खुद उससे इस तरह का मुआमला करना चाहता था, हाथों पर रुपये रखे देता था पर उसने कभी परवाह नहीं की। साहब, रुपये उठाकर फेंक दिये और ऐसी डाँट बतायी कि मेरे हाश उड़ ाये। इधर का हाल मैं नहीं जानता, क्योंकि अब मैं उससे कभी ऐसी बात-चीत हो नहीं करता। पर मुझे यकीन नहीं आता कि वह बददियानत हो गया होगा। इसीलिए आपसे बार-बार पूछता हूँ कि आपने यह कपड़े कहाँ पाये?

मुंशीजी—बेचू की निस्बत तुम्हारा जो ख्याल है वह बिल्कुल ठीक है। वह ऐसा ही बेगरज आदमी है, लेकिन भाई, पड़ोस का भी तो कुछ हक होता है। मेरे पड़ोस में रहता है, आठों पहर का साथ है। इधर से भी कुछ-न-कुछ सलूक होता ही रहता है। मेरी जरूरत देखी, पसीज गया। बस और कोई बात नहीं।

अताई ने बेचू की निःस्पृहता के विषय में बड़ी अतिशयोक्ति से काम लिया था। न उसने बेचू के हाथ पर रुपये रखे थे और न बेचू ने कभी उसे डाँट बतायी थी। पर इस अतिशयोक्ति का प्रभाव बेचू पर उससे कहीं ज्यादा पड़ा जितना केवल बात को यथार्थ कह देने से पड़ सकता था। बेचू नींद में न सोया था। अताई की एक-एक बात उसने सुनी थी। उसे ऐसा जान पड़ता था कि मेरी आत्मा किसी गहरी नींद से जाग रही है। दुनिया मुझे कितना ईमानदार, कितना सच्चा, कितना निष्कपट समझती है और मैं कितना बेईमान, कितना दगाबाज हूँ! इसी झूठे इलजाम पर मैंने वह गाँव छोड़ा जहाँ बाप-दादों से रहता आया था। लेकिन यहाँ आकर दारू, शराब, घी, चीना के पीछे तबाह हो गया।

बेचू यहाँ से लौटा तो दूसरा ही मनुष्य हो गया था या यों कहिए कि वह फिर अपनी खोई हुई आत्मा को पा गया था।

( ५ )

छः महीने बीत गये। सन्ध्या का समय था। बेचू के बड़े लड़के मलखान के ब्याह की बातचीत करने के लिए मेहमान लोग आये हुए थे। बेचू स्त्री से कुछ सलाह करने के लिए घर में आया तो वह बोली—दारू कहाँ से आयगी? तुम्हारे पास कुछ है?

बेचू—मेरे पास जो कुछ था वह तुम्हें पहले ही नहीं दे दिया था ?

स्त्री—उससे तो मैं चावल, दाल, घी, यह सब सामान लायी। सात आदमियों का खाना बनाना है। सब उठ गये।

बेचू—तो फिर मैं क्या करूँ ?

स्त्री—बिना दारू लिये वह लोग भला खाने उठेंगे ? कितनी नामूसी होगी !

बेचू—नामूसी हो चाहे बदनामी हो, दारू लाना मेरे बस की बात नहीं। यही न होगा ब्याह न ठीक होगा, न सही।

स्त्री—वह दुशाला धुलने के लिए आया है ? न हो किसी बनिये के यहाँ गिरवीं रखकर चार-पाँच रुपये ले आओ। दो-तीन दिन में छुड़ा लेना। किसी तरह मरजाद तो निभानी चाहिए ! सब कहेंगे, नाम बड़े दरसन थोड़े। दारू तक न दे सका।

बेचू—कैसी बात करती है ? वह दुसाला मेरा है ?

स्त्री—किसी का हो, इस वक्त काम निकाल लो। कौन किसी से कहने जाता है।

बेचू—न, यह मुझसे न होगा; चाहे दारू मिले या न मिले।

बेचू यह कहकर बाहर चला आया। दोबारा भीतर गया तो देखा, स्त्री जमीन से खोदकर कुछ निकाल रही है। उसे देखते ही गड्ढे को आँचल से छिपा लिया।

बेचू मुसकराता हुआ बाहर चला आया।

---

# दफ्तरी

रफाकत हुसेन मेरे दफ्तर का दफ़्तरी था। १०) मासिक वेतन पाता था। दो-तीन रुपये बाहर के फुटकर काम से मिल जाते थे। यही उसकी जीविका थी, पर वह अपनी दशा पर सन्तुष्ट था। उसकी आन्तरिक अवस्था तो ज्ञात नहीं, पर वह सदैव साफ-सुथरे कपड़े पहनता और प्रसन्नचित्त रहता। कर्ज इस

श्रेणी के मनुष्यों का आभूषण है। रफ़ाकत पर इसका जादू न चलता था। उसकी बातों में कृत्रिम शिष्टाचार की झलक भी न होती थी। बेलाग और खरी कहता था। अमलों में जो बुराइयाँ देखता साफ़ कह देता। इसी साफ़गोई के कारण लोग उसका सम्मान हैसियत से ज्यादा करते थे। उसे पशुओं से विशेष प्रेम था। एक घोड़ी, एक गाय, कई बकरियाँ, एक बिल्ली, एक कुत्ता और कुछ मुर्गियाँ पाल रखी थीं। इन पशुओं पर जान देता था। बकरियों के लिए पत्तियाँ तोड़ लाता, घोड़ी के लिए घास छील लाता। यद्यपि उसे आये दिन मवेशीखाने के दर्शन करने पड़ते थे और बहुधा लोग उसके पशु-प्रेम की हँसी उड़ाते थे, पर वह किसी की न सुनता था और उसका यह निःस्वार्थ प्रेम था। किसी ने उसे मुर्गियों के अण्डे बेचते नहीं देखा, उसकी बकरियों के बच्चे कभी बूचड़ की छुरी के नीचे नहीं गये और उसकी घोड़ी ने कभी लगाम का मुँह नहीं देखा। गाय का दूध कुत्ता पीता था। बकरी का दूध बिल्ली के हिस्से में जाता था। जो कुछ बचा रहता वह आप पीता था।

सौभाग्य से उसकी पत्नी भी साध्वी थी। यद्यपि उसका घर बहुत छोटा था, पर किसी ने द्वार पर उसकी आवाज नहीं सुनी। किसी ने उसे द्वार पर झाँकते नहीं देखा। वह गहने-कपड़ों के तकाजों से पति की नींद हराम न करती थी। दफ़्तरी उसकी पूजा करता था। वह गाय का गोबर उठाती, घोड़ी को घास डालती, बिल्ली को अपने साथ बिठाकर खिलाती, यहाँ तक कि कुत्ते को नहलाने से भी उसे घृणा न होती थी।

( २ )

बरसात थी, नदियों में बाढ़ आयी हुई थी। दफ़्तर के कर्मचारी मछलियों का शिकार खेलने चले। शामत का मारा रफ़ाकत भी उनके साथ हो लिया। दिन-भर लोग शिकार खेला किये, शाम को मूसलाधार पानी बरसने लगा। कर्मचारियों ने तो एक गाँव में रात काटी, दफ़्तरी घर चला। पर अन्धेरी रात, राह भूल गया और सारी रात भटकता फिरा। प्रातःकाल घर पहुँचा तो अभी अन्धेरा ही था, लेकिन दोनो द्वार-पट खुले हुए थे। उसका कुत्ता पूँछ दबाये करुण स्वर से कराहता हुआ आकर, उसके पैरों पर लोट गया। द्वार खुले देखकर दफ़्तरी का कलेजा सन्न से हो गया। घर में कदम रखे तो

बिलकुल सन्नाटा था। दो-तीन बार स्त्री को पुकारा किन्तु कोई उतर न मिला। घर भाँय-भाँय कर रहा था। उसने दोनो कोठरियों में जाकर देखा। जब वहाँ भी उसका पता न मिला तो पशुशाला में गया। भीतर जाते हुए उसे वही अज्ञात भय हो रहा था जो किसी अन्धेरी खोह में जाते हुए होता है। उसकी स्त्री वहीं भूमि पर चित पड़ी हुई थी। मुँह पर मक्खियाँ बैठी हुई थीं, होंठ नीले पड़ गये थे, आँखें पथरा गयी थीं, लक्षणों से अनुमान होता था कि साँप ने डस लिया है।

दूसरे दिन रफाकत आया तो उसे पहचानना मुश्किल था। मालूम होता था बरसों का रोगी है, बिलकुल खोया हुआ, सुम-गुम बैठा रहा मानो किसी दूसरी ही दुनिया में है। सन्ध्या होते ही वह उठा और स्त्री की कब्र पर जाकर बैठ गया। अन्धेरा हो गया। तीन-चार घड़ी रात बीत गयी पर वह दीपक के टिम-टिमाते हुए प्रकाश में उसी कब्र पर नैराश्य और दुःख की मूर्ति बना बैठा रहा, मानो मृत्यु की राह देख रहा हो। मालूम नहीं, कब घर आया। अब यही उसका नित्य का नियम हो गया। प्रातःकाल उठकर मजार पर जाता, झाड़ू लगाता, फूलों के हार चढ़ाता, लोबान जलाता और नौ बजे तक कुरान का पाठ करता। सन्ध्या समय फिर यही क्रम शुरू होता। अब यही उसके जीवन का नियमित कर्म था। अब वह अन्तर्जगत से बसता था। बाह्य जगत् से उसने मुँह मोड़ लिया था। शोक ने जीवन से विरक्त कर दिया था।

( ३ )

कई महीनों तक यही हाल रहा। कर्मचारियों को दफ्तरी से सहानुभूति हो गयी थी। उसके काम कर लेते, उसे कष्ट न देते। उसकी पत्नी-भक्ति पर लोगों को विस्मय होता था।

लेकिन मनुष्य सर्वदा प्राणलोक में नहीं रह सकता। वहाँ का जलवायु उसके अनुकूल नहीं। वहाँ वह रूपमय, रसमय भावनाएँ कहाँ? विराग में वह चिन्तामय उल्लास कहाँ? वह आशामय आनन्द कहाँ? दफ्तरी को आधी रात तक ध्यान में डूबे रहने के बाद चूल्हा जलाना पड़ता, प्रातःकाल पशुओं की देख-भाल करनी पड़ती। यह बोझ उसके लिए असह्य था। अवस्था ने भावुकता पर विजय पायी। मरुभूमि के प्यासे पथिक की भाँति दफ्तरी फिर

दाम्पत्य सुख के जलस्रोत की ओर दौड़ा। वह फिर जीवन का वही सुखद अभिनय देखना चाहता था। पत्नी की स्मृति दाम्पत्य-सुख के रूप में विलीन होने लगी। यहाँ तक कि छः महीनों में उस स्मृति का चिह्न भी शेष न रहा।

इस मुहल्ले के दूसरे सिरे पर बड़े साहब का एक अरदली रहता था। उसके यहाँ से विवाह की बातचीत होने लगी। मियाँ रफ़ाक़त फूले न समाये। अरदली साहब का सम्मान मुहल्ले में किसी वकील से कम न था। उनकी आमदनी पर अनेक कल्पनाएँ की जाती थीं। साधारण बोलचाल में कहा जाता था—'जो कुछ मिल जाय वह थोड़ा है।' वह स्वयं कहा करते थे कि तक़ावी के दिनों में मुझे जेब की जगह थैली रखनी पड़ती थी। दफ्तरी ने समझा भाग्य उदय हुआ। इस तरह टूटे जैसे बच्चे खिलौने पर टूटते हैं। एक ही सप्ताह में सारा विधान पूरा हो गया और नववधू घर में आ गयी। जो मनुष्य अभी एक सप्ताह पहले संसार से विरक्त, जीवन से निराश बैठा हो उसे मुँह पर सेहरा डाले घोड़े पर सवार नवकुसुम की भाँति विकसित देखना मानव-प्रकृति की एक विलक्षण विवेचना थी।

( ४ )

किन्तु एक ही अठवारे में नववधू के जौहर खुलने लगे। विधाता ने उसे रूपेन्द्रिय से वञ्चित रखा था, पर उसकी कसर पूरी करने के लिए अति तीक्ष्ण वाक्येन्द्रिय प्रदान की थी। इसका सबूत उसकी वह वाक्पटुता थी जो अब बहुधा पड़ोसियों को विनोदित और दफतरी को अपमानित किया करती थी। उसने आठ दिन तक दफतरी के चरित्र का तात्विक दृष्टि से अध्ययन किया और तब एक दिन उससे बोली—तुम तो विचित्र जीव हो। आदमी पशु पालता है अपने आराम के लिए न कि जंजाल के लिए। यह क्या कि गाय का दूध कुत्ते पियें, बकरियों का दूध बिल्ली चट कर जाय और घर के प्राणियों के कंठ के नीचे एक बूँद भी न जाय। आज से सब दूध घर में लाया करो।

दफ़्तरी निरुत्तर हो गया। दूसरे दिन से घोड़ी का रातिब बन्द हो गया। वह चने अब भाड़ में भुनने और नमक-मिर्च से खाये जाने लगे। प्रातःकाल ताजे दूध का नाश्ता होता, आये दिन तस्मई बनती। बड़े घर की बेटी, पान

बिना क्योंकर रहती ? घी, मसाले का खर्च भी बढ़ा। पहले ही महीने में दफ़तरी को विदित हो गया कि मेरी आमदनी गुजर के लिए काफी नहीं है। उसकी दशा उस मनुष्य की-सी थी जो शक्कर के धोखे में कुनैन फाँक गया हो।

दफ्तरी बड़ा धैर्यपरायण मनुष्य था। दो-तीन महीने तक यह विषम वेदना सहता रहा। पर उसकी सूरत उसकी अवस्था को शब्दों से भी अधिक व्यक्त कर देती थी। वह दफ्तरी जो अभाव में भी सन्तोष का आनन्द उठाता था, अब चिन्ता की सजीव मूर्ति था, कपड़े मैले, सिर के बाल बिखरे हुए, चेहरे पर उदासी छायी हुई, अहर्निश हाय-हाय किया करता था। उसकी गाय अब हड्डियों का ढाँचा थी, घोड़ी को जगह से हिलना कठिन था, बिल्ली पड़ोसियों के छीकों पर उचकती और कुत्ता घूरों पर हड्डियाँ नोचता फिरता था। पर अब भी वह हिम्मत का धनी इन पुराने मित्रों को अलग न करता था। सबसे बड़ी विपत्ति पत्नी की वह वाक्प्रचुरता थी जिसके सामने कभी उसका धैर्य, उसकी कर्मनिष्ठा, उसकी उत्साहशीलता प्रस्थान कर जाती और अपनी अन्धेरी कोठरी के एक कोने में बैठकर खूब फूट-फूटकर रोता। सन्तोष के आनन्द को दुर्लभ पाकर रफाकत का पीड़ित हृदय उच्छृङ्खलता की ओर प्रवृत्त हुआ। आत्माभिमान, जो सन्तोष का प्रसाद है उसके चित्त से लुप्त हो गया। उसने फाकेमस्ती का पथ ग्रहण किया। अब उसके पास पानी रखने के लिए कोई बरतन न था, वह उसे कुएँ से खींचकर उसी दम पी जाना चाहता था जिसमें वह जमीन पर बह न जाय। वेतन पाकर अब वह महीने भर का सामान न जुटाता, ठण्डे पानी और रूखी रोटियों से अब उसे तस्कीन न होती, बाजार से बिस्कुट लाता, मलाई के दोनो और कलमी आमों की ओर लपकता। दस रुपये की भुगुत ही क्या ! एक सप्ताह में सब रुपये उड़ जाते, तब जिल्दबन्दियों की पेशगी पर हाथ बढ़ाता, फिर दो-एक उपवास होता, अन्त में उधार माँगने लगता। शनैः-शनैः यह दशा हो गयी कि वेतन देनदारों ही के हाथों में चला जाता और महीने के पहले ही दिन से वह कर्ज लेना शुरू करता। वह पहले दूसरों को मितव्ययिता का उपदेश दिया करता था, अब लोग उसे समझाते, पर वह लापरवाही से कहता था, साहब, आज मिलता है खाते हैं, कल का खुदा मालिक है; मिलेगा खायेंगे,

नहीं पड़कर सो रहेंगे। उसकी अवस्था अब उस रोगी की-सी हो गयी जो आरोग्य-लाभ से निराश होकर पथ्यापथ्य का विचार त्याग दे, जिसमें मृत्यु के आने तक वह भोज्य-पदार्थों से भली-भाँति तृप्त हो जाय।

लेकिन अभी तक उसने घोड़ी और गाय न बेची, यहाँ तक कि एक दिन दोनों मवेशीखाने में दाखिल हो गयीं। बकरियाँ भी तृष्णा-व्याघ्र के पंजे में फँस गयीं। पोलाव और सरदे के चस्के ने नानबाई का ऋणी बना दिया था। जब उसे मालूम हो गया कि नगद रुपये वसूल न होंगे तो एक दिन सभी बकरियाँ हाँक ले गया। दफ्तरी मुँह ताकता रह गया। बिल्ली ने भी स्वामिभक्ति से मुँह मोड़ा। गाय और बकरियों के जाने के बाद अब उसे दूध के बर्तनों को चाटने की भी आशा न रही जो उसके स्नेह-बन्धन का अन्तिम सूत्र था। हाँ, कुत्ता पुराने सद्व्यवहारों की याद करके अभी तक आत्मीयता का पालन करना जाता था, किन्तु उसकी सजीवता विदा हो गयी थी। यह वह कुत्ता न था जिसके सामने द्वार पर से किसी अपरिचित मनुष्य या कुत्ते का निकल जाना असम्भव था। वह अब भी भूँकता था लेकिन लेटे-लेटे और प्रायः छाती में सिर छिपाये हुए, मानो अपनी वर्तमान स्थिति पर रो रहा हो। या तो अब उठने की शक्ति ही न थी, या वह चिरकालीन कृपाओं के लिए इतना कीर्तिगान पर्याप्त समझता था।

( ५ )

सन्ध्या का समय था। मैं द्वार पर बैठा हुआ पढ़ रहा था कि अकस्मात् दफ्तरी को आते देखा। कदाचित् कोई किसान सम्मन लानेवाले चपरासी से भी इतना भयभीत न होगा, बालवृन्द टीका लगानेवाले से भी इतना न डरते होंगे। मैं अव्यवस्थित होकर उठा और चाहा कि अन्दर जाकर द्वार बन्द कर लूँ कि इतने में दफ्तरी लपककर सामने आ पहुँचा। अब कैसे भागता? कुर्सी पर बैठ गया, पर नाक-भौं चढ़ाये हुए। दफ्तरी किस लिए आ रहा था इसमें मुझे लेशमात्र भी शंका न थी। ऋणेच्छुओं की हृदय-चेष्टा उनकी मुखाकृति पर, उनके आचार-व्यवहार पर उज्ज्वल रंगों से अंकित होती है। वह एक विशेष नम्रता, सङ्कोचमय परवशता होती है जिसे एक बार देखकर फिर नहीं भुलाया जा सकता।

दफ्तरी ने आते ही बिना किसी प्रस्तावना के अभिप्राय कह सुनाया जो मुझे पहले ही ज्ञात हो चुका था।

मैंने रुखाई से उत्तर दिया—मेरे पास रुपये नहीं हैं।

दफ्तरी ने सलाम किया और उल्टे पाँव लौटा। उसके चेहरे पर ऐसी दीनता और बेकसी छायी हुई थी कि मुझे उस पर दया आ गयी। उसका इस भाँति बिना कुछ कहे-सुने लौटना कितना सारपूर्ण था। इसमें लज्जा थी, सन्तोष था, पछतावा था। उसके मुँह से एक शब्द भी न निकला, लेकिन उसका चेहरा कह रहा था, मुझे विश्वास था कि आप यही उत्तर देंगे। इसमें मुझे जरा भी सन्देह न था। लेकिन यह जानते हुए भी मैं यहाँ तक आया, मालूम नहीं क्यों? मेरी समझ में स्वयं नहीं आता। कदाचित् आपकी दयाशीलता, आपकी वात्सल्यता मुझे यहाँ तक लायी। अब जाता हूँ, वह मुँह ही नहीं रहा कि अपनी कुछ कथा सुनाऊँ।

मैंने दफ्तरी को आवाज दी—जरा सुनो तो, क्या काम है?

दफ्तरी को कुछ उम्मीद हुई। बोला—आपसे क्या अर्ज करूँ, दो दिन से उपवास हो रहा है।

मैंने बड़ी नम्रता से समझाया—इस तरह कर्ज लेकर कै दिन तुम्हारा काम चलेगा। तुम समझदार आदमी हो, जानते हो कि आजकल सभी को अपनी फिक्र सवार रहती है, किसी के पास फालतू रुपये नहीं रहते और यदि हों भी तो वह ऋण देकर राड़ क्यों लेने लगा। तुम अपनी दशा सुधारते क्यों नहीं?

दफ्तरी ने विरक्त भाव से कहा—यह सब दिनों का फेर है और क्या कहूँ। जो चीज महीने-भर के लिए लाता हूँ, वह एक दिन में उड़ जाती है। मैं घरवाली के चटोरेपन से लाचार हूँ। अगर एक दिन दूध न मिले तो महनामथ मचा दे, बाजार से नाश्ते के लिए मिठाइयाँ न लाऊँ तो घर में रहना मुश्किल हो जाय, एक दिन गोश्त न पके तो मेरी बोटियाँ नोच खाय। खानदान का शरीफ हूँ। यह बेइज्जती नहीं सही जाती कि खाने के पीछे स्त्री से झगड़ा-तकरार करूँ। जो कुछ कहती है सिर के बल पूरा करता हूँ। अब खुदा से यही दुआ है कि मुझे दुनिया से उठा ले। इसके सिवाय मुझे दूसरी कोई सूरत

नहीं नजर आती, सब कुछ करके हार गया।

मैंने सन्दूक से ५) निकाले और उसे देकर बोला—यह लो, यह तुम्हारे पुरुषार्थ का इनाम है। मैं नहीं जानता था कि तुम्हारा हृदय इतना उदार, इतना वीररसपूर्ण है।

गृहदाह में जलनेवाले वीर, रणक्षेत्र के वीरों से कम महत्वशाली नहीं होते।

---

# विध्वंस

जिला बनारस में बीरा नाम का एक गाँव है। वहाँ एक विधवा वृद्धा, सन्तानहीन गोंडिन रहती थी जिसका भुनगी नाम था। उसके पास एक धुर भी जमीन न थी और न रहने को घर ही था। उसके जीवन का सहारा केवल एक भाड़ था। गाँव के लोग प्रायः एक बेला चबैना या सत्तू पर निर्वाह करते ही हैं इसलिए भुनगी के भाड़ पर नित्य भीड़ लगी रहती थी। वह जो कुछ भुनाई पाती वही भून या पीसकर खा लेती और भाड़ ही की झोंपड़ी के एक कोने में पड़ रहती। वह प्रातःकाल उठती और चारों ओर से भाड़ झोंकने के लिए सूखी पत्तियाँ बटोर लाती। भाड़ के पास ही पत्तियों का एक बड़ा ढेर लगा रहता था। दोपहर के बाद उसका भाड़ जलता था। लेकिन जब एकादशी या पूर्णमासी के दिन प्रथानुसार भाड़ न जलता, या गाँव के जमींदार पण्डित उदयभानु पाण्डे के दाने भूनने पड़ते उस दिन उसे भूखे ही सो रहना पड़ता था। पंडितजी उससे बेगार में दाने ही न भुनवाते थे, उसे उनके घर का पानी भी भरना पड़ता था और कभी-कभी इस हेतु से भी भाड़ बन्द रहता था। वह पण्डितजी के गाँव में रहती थी; इसलिए उन्हें उससे सभी प्रकार की बेगार लेने का पूरा अधिकार था। इसे अन्याय नहीं कहा जा सकता। अन्याय केवल इतना था कि वह सूखी बेगार लेते थे। उनकी धारणा थी कि जब खाने ही को दिया गया तो बेगार कैसा। किसान को पूरा अधिकार है कि बैलों को दिन-भर जोतने

के बाद शाम को खूँटे से भूखा बाँध दे। यदि वह ऐसा नहीं करता तो यह उसकी दयालुता नहीं है, केवल अपनी हितचिन्ता है। पण्डितजी को इसकी बहुत चिन्ता न थी क्योंकि एक तो भुनगी दो-एक दिन भूखी रहने से मर नहीं सकती थी और यदि दैवयोग से मर भी जाती तो उसकी जगह दूसरा गोंड़ बड़ी आसानी से बसाया जा सकता था। पण्डितजी की यही क्या कम कृपा थी कि वह भुनगी को अपने गाँव में बसाये हुए थे।

( २ )

चैत का महीना था और संक्रान्ति का पर्व। आज के दिन नये अन्न का सत्तू खाया और दान दिया जाता है। घरों में आग नहीं जलती। भुनगी का भाड़ आज बड़े जोरों पर था। उसके सामने एक मेला-सा लगा हुआ था। साँस लेने का भी अवकाश न था। गाहकों की जल्दबाजी पर कभी-कभी झुँझला पड़ती थी कि इतने में जमींदार साहब के यहाँ से दो बड़े-बड़े टोकरे अनाज से भरे हुए आ पहुँचे और हुक्म हुआ कि अभी भून दे। भुनगी दोनो टोकरे देख-कर सहम उठी। अभी दोपहर था पर सूर्यास्त से पहले इतना अनाज भूनना असंभव था। घड़ी-दो घड़ी और मिल जाते तो एक अठवारे के खाने-भर को अनाज हाथ आता। दैव से इतना भी न देखा गया, इन यमदूतों को भेज दिया। अब पहर रात तक सेंत-मेत में भाड़ में ज़लना पड़ेगा; एक नैराश्य भाव से दोनो टोकरे ले लिये।

चपरासी ने डाँटकर कहा—देर न लगे, नहीं तो तुम जानोगी।

भुनगी—यहीं बैठे रहो, जब भुन जाय तो लेकर जाना। किसी दूसरे के दाने छुऊँ तो हाथ काट लेना।

चपरासी—बैठने की हमें छुट्टी नहीं है, लेकिन तीसरे पहर तक दाना भून जाय।

चपरासी तो यह ताकीद करके चलते बने और भुनगी अनाज भूनने लगी। लेकिन मन-भर अनाज भूनना कोई हँसी तो थी नहीं, उस पर बीच-बीच में भुनाई बन्द करके भाड़ भी झोंकना पड़ता था। अतएव तीसरा पहर हो गया और आधा काम भी न हुआ। उसे भय हुआ कि जमींदार के आदमी आते होंगे। आते ही आते गालियाँ देंगे, मारेंगे। उसने और वेग से हाथ चलाना शुरू

किया। रास्ते की ओर ताकती और बालू नाँद में छोड़ती जाती थी। यहाँ तक कि बालू ठंडी हो गयी, सेवड़े निकलने लगे। उसकी समझ में न आता था क्या करे। न भूनते बनता था न छोड़ते बनता था। सोचने लगी कैसी विपत्ति है! पण्डितजी कौन मेरी रोटियाँ चला देते हैं, कौन मेरे आँसू पोंछ देते हैं। अपना रक्त जलाती हूँ तब कहीं दाना मिलता है। लेकिन जब देखो खोपड़ी पर सवार रहते हैं इसी लिए न कि उनकी चार अंगुल धरती से मेरा निस्तार हो रहा है। क्या इतनी-सी जमीन का इतना मोल है? ऐसे कितने ही टुकड़े गाँव में बेकाम पड़े है, कितनी ही बखरियाँ उजाड़ पड़ी हुई हैं। वहाँ तो केसर नहीं उपजती फिर मुझी पर क्यों यह आठों पहर धौंस रहती है? कोई बात हुई और यही धमकी मिली कि भाड़ खोदकर फेंक दूँगा, उजाड़ दूँगा, मेरे सिर पर भी कोई होता तो क्यों बौछारें सहनी पड़तीं!

वह इन्हीं कुत्सित विचारों में पड़ी हुई थी कि दोनो चपरासियों ने आकर कर्कश स्वर में कहा—क्यों री, दाने भुन गये?

भुनगी ने निडर होकर कहा—भून तो रही हूँ। देखते नहीं हो?

चपरासी—सारा दिन बीत गया और तुमसे इतना अनाज न भुना गया? यह तू दाना भून रही है कि उसे चौपट कर रही है? यह तो बिलकुल सेवड़े हैं, इनका सत्तू कैसे बनेगा? हमारा सत्यानाश कर दिया! देख तो आज महाराज तेरी क्या गति करते हैं!

परिणाम यह हुआ कि उसी रात को भाड़ खोद डाला गया और वह अभागिनी विधवा निरवलम्ब हो गयी।

( ३ )

भुनगी को अब रोटियों का कोई सहारा न रहा। गाँववालों को भी भाड़ के विध्वंस हो जाने से बहुत कष्ट होने लगा। कितने ही घरों में तो दोपहर को दाना ही न मयस्सर होता। लोगों ने जाकर पण्डितजी से कहा कि बुढ़िया को भाड़ जलाने को आज्ञा दे दीजिए, लेकिन पण्डितजी ने कुछ ध्यान न दिया। वह अपना रोब न घटा सकते थे। बुढ़िया से उसके कुछ शुभचिन्तकों ने अनुरोध किया कि जाकर किसी दूसरे गाँव में क्यों नहीं बस जाती? लेकिन उसका हृदय इस प्रस्ताव को स्वीकार न करता। इस गाँव में उसने अपने अदिन के

पचास वर्ष काटे थे। यहाँ के एक-एक पेड़-पत्ते से उसे प्रेम हो गया था। जीवन के सुख-दुःख इसी गाँव में भोगे थे। अब अन्तिम समय वह इसे कैसे त्याग दे! यह कल्पना ही उसे संकटमय जान पड़ती थी। दूसरे गाँव के सुख से यहाँ का दुःख भी प्यारा था।

इस प्रकार एक पूरा महीना गुजर गया। प्रातःकाल था। पण्डित उदयभान अपने दो-तीन चपरासियों को लिये लगान वसूल करने जा रहे थे। कारिन्दों पर उन्हें विश्वास न था। नजराने में, डाँड़-बाँध में, रसूम में वह किसी अन्य व्यक्ति को शरीक न करते थे। बुढ़िया के भाड़ की ओर ताका तो बदन में आग-सी लग गयी। उसका पुनरुद्धार हो रहा था। बुढ़िया बड़े वेग से उस पर मिट्टी के लोंदे रख रही थी। कदाचित् उसने कुछ रात रहते ही काम में हाथ लगा दिया था और सूर्योदय से पहले ही उसे समाप्त कर देना चाहती थी। उसे लेशमात्र भी शंका न थी कि मैं जमींदार के विरुद्ध कोई काम कर रही हूँ। क्रोध इतना चिरजीवी हो सकता है इसकी सम्भावना भी उसके मन में न थी। एक प्रतिभाशाली पुरुष किसी दीन अबला से इतना कीना रख सकता है, उसे इसका ध्यान भी न था। वह स्वभावतः मानव-चरित्र को इससे कहीं ऊँचा समझती थी। लेकिन हा! हतभागिनी! तूने धूप में ही बाल सफेद किये।

सहसा उदयभान ने गरजकर कहा—किसके हुक्म से?

भुनगी ने हकबकाकर देखा तो सामने जमींदार महोदय खड़े हैं।

उदयभान ने फिर पूछा—किसके हुक्म से बना रही है?

भुनगी डरते हुए बोली—सब लोग कहने लगे बना लो, तो बना रही हूँ।

उदयभान—मैं अभी इसे फिर खुदवा डालूँगा। यह कह उन्होंने भाड़ में एक ठोकर मारी। गीली मिट्टी सब कुछ लिये-दिये बैठ गयी। दूसरी ठोकर नाँद पर चलायी लेकिन बुढ़िया सामने आ गयी और ठोकर उसकी कमर पर पड़ी। अब उसे क्रोध आया। कमर सुहलाते हुए बोली—महाराज, तुम्हें आदमी का डर नहीं है तो भगवान का डर तो होना चाहिए? मुझे इस तरह उजाड़कर क्या पाओगे? क्या इस चार अंगुल धरती में सोना निकल आयेगा? मैं तुम्हारे ही भले को कहती हूँ, दीन की हाय मत लो। मेरा रोआँ दुखी मत करो।

उदयभान—अब तो यहाँ फिर भाड़ न बनायेगी।

भुनगी—भाड़ न बनाऊँगी तो खाऊँगी क्या ?

उदयभान—तेरे पेट का हमने ठेका नहीं लिया है।

भुनगी—टहल तो तुम्हारी करती हूँ, खाने कहाँ जाऊँ ?

उदयभान—गाँव में रहेगी तो टहल करनी पड़ेगी।

भुनगी—टहल तभी करूँगी जब भाड़ बनाऊँगी। गाँव में रहने के नाते टहल नहीं कर सकती।

उदयभान—तो छोड़कर निकल जा।

भुनगी—क्यों छोड़कर निकल जाऊँ ? १२ साल खेत जोतने से आसामी काश्तकार हो जाता है। मैं तो इस झोंपड़े में बूढ़ी हो गयी। मेरे सास-ससुर और उनके बाप-दादे इसी झोंपड़े में रहे। अब इसे यमराज को छोड़कर और कोई मुझसे नहीं ले सकता।

उदयभान—अच्छा तो अब कानून भी बघारने लगी ? हाथ-पैर पड़ती तो चाहे मैं रहने भी देता, लेकिन अब तुझे निकालकर तभी दम लूँगा। (चपरासियों से) अभी जाकर इसके पत्तियों के ढेर में आग लगा दो, देखें अब कैसे भाड़ बनता है !

( ४ )

एक क्षण में हाहाकार मच गया। ज्वालाशिखर आकाश से बातें करने लगा। उसकी लपटें किसी उन्मत्त की भाँति इधर-उधर दौड़ने लगीं। सारे गाँव के लोग उस अग्नि-पर्वत के चारों ओर जमा हो गये। भुनगी अपने भाड़ के पास उदासीन भाव से खड़ी यह लङ्का-दहन देखती रही। अकस्मात् वह वेग से आकर उसी अग्निकुण्ड में कूद पड़ी। लोग चारों तरफ से दौड़े, लेकिन किसी की हिम्मत न पड़ी कि आग के मुँह में जाय। क्षणमात्र में उसका सूखा हुआ शरीर अग्नि में समाविष्ट हो गया।

उसी दम पवन भी वेग से चलने लगा। ऊर्ध्वगामी लपटें पूर्व दिशा की ओर दौड़ने लगीं। भाड़ के समीप ही किसानों की कई झोंपड़ियाँ थीं, वह सब उन्मत्त ज्वालाओं की ग्रास बन गयीं। इस भाँति प्रोत्साहित होकर लपटें और आगे बढ़ीं। सामने पण्डित उदयभान की बखार थी, उस पर झपटीं। अब गाँव में हलचल मची। आग बुझाने की तैयारियाँ होने लगीं। लेकिन पानी के छींटों

ने आग पर तेल का काम किया। ज्वालाएँ और भी भड़कीं और पण्डितजी के विशाल भवन को दबोच बैठीं। देखते-ही-देखते वह भवन उस नौका की भाँति जो उन्मत्त तरंगों के बीच झकोले खा रही हो अग्नि-सागर में विलीन हो गया और वह क्रन्दन-ध्वनि जो उसके भस्मावशेष से प्रस्फुटित होने लगी भुनगी के शोकमय विलाप से भी अधिक करुणाकारी थी।

---

# प्रारब्ध

लाला जीवनदास को मृत्युशय्या पर पड़े ६ मास हो गये हैं। अवस्था दिनों-दिन शोचनीय होती जाती है। चिकित्सा पर उन्हें अब जरा भी विश्वास नहीं रहा। केवल प्रारब्ध का ही भरोसा है। कोई हितैषी वैद्य या डाक्टर का नाम लेता है तो ये मुँह फेर लेते हैं। उन्हें जीवन की अब कोई आशा नहीं है। यहाँ तक कि अब उन्हें अपनी बीमारी के जिक्र से भी घृणा होती है। एक क्षण के लिए भूल जाना चाहते हैं कि मैं काल के मुख में हूँ। एक क्षण के लिए इस दुस्साध्य चिन्ता-भार को सिर से फेंककर स्वाधीनता से साँस लेने के लिए उनका चित्त लालायित हो जाता है। उन्हें राजनीति से कभी रुचि नहीं रही। अपनी व्यक्तिगत चिन्ताओं में ही लीन रहते थे। लेकिन अब उन्हें राजनीतिक विषयों से विशेष प्रेम हो गया है। अपनी बीमारी की चर्चा के अतिरिक्त वह प्रत्येक विषय को शौक से सुनते किन्तु ज्योंही किसी ने सहानुभूति भाव से किसी औषधि का नाम लिया कि उनकी त्योरी बदल जाती है। अन्धकार में विलाप-ध्वनि इतनी आशाजनक नहीं होती जितनी प्रकाश की एक झलक।

वह यथार्थवादी पुरुष थे। धर्म-अधर्म, स्वर्ग-नरक की व्यवस्थाएँ उनकी विचार-परिधि से बाहर थीं। यहाँ तक कि अज्ञात-भय से भी वे शंकित न होते थे। लेकिन उसका कारण उनकी मानसिक शिथिलता न थी बल्कि लोक-चिन्ता ने परलोक-चिन्ता का स्थान ही शेष न रखा था। उनका परिवार बहुत छोटा था। पत्नी थी और एक बालक। लेकिन स्वभाव उदार था, ऋण धन से बढ़ा

रहता था। उस पर इस असाध्य और चिरकालीन रोग ने ऋण पर कई दर्जे की वृद्धि कर दी थी। मेरे पीछे निःसहायों का क्या हाल होगा यह ध्यान आते ही उनका चित्त विह्वल हो जाता था। इनका निर्वाह कैसे होगा ? ये किसके सामने हाथ फैलायेंगे ! कौन इनकी खबर लेगा ? हाय ! मैंने विवाह क्यों किया ? पारिवारिक बन्धन में क्यों फँसा ? क्या इसलिए कि ये संसार के हिम-तुल्य दया के पात्र बनें। क्या अपने कुल की प्रतिष्ठा और सम्मान को यों विनष्ट होने दूँ ? जिस जीवनदास ने सारे नगर को अपनी अनुग्रह-वृत्ति से प्लावित कर दिया था उसी के पोते और बहू द्वार-द्वार ठोकरें खाती फिरें ? हाय, क्या होगा ? कोई अपना नहीं, चारों ओर भयावह बन है ! कहीं मार्ग का पता नहीं ! यह सरला रमणी, यह अबोध बालक, इन्हें किस पर छोड़ूँ ?

हम अपनी आन पर जान देते थे। हमने किसी के सामने सिर नहीं झुकाया। किसी के ऋणी नहीं हुए। सदैव गर्दन उठाकर चले और अब यह नौबत है कि कफन का भी ठिकाना नहीं !

## ( २ )

आधी रात गुजर चुकी थी। जीवनदास की हालत आज बहुत नाजुक थी। बार-बार मूर्च्छा आ जाती। बार-बार हृदय की गति रुक जाती। उन्हें ज्ञात होता था कि अब अन्त निकट है। कमरे में एक लैम्प जल रहा था। उनकी चारपाई के समीप ही प्रभावती और उसका बालक साथ सोये हुए थे। जीवनदास ने कमरे की दीवारों को निराशापूर्ण नेत्रों से देखा जैसे कोई भटका हुआ पथिक निवासस्थान की खोज में हो। चारों ओर से घूमकर उनकी आँखें प्रभावती के चेहरे पर जम गयीं। हा ! यह सुन्दरी एक क्षण में विधवा हो जायगी। यह बालक पितृहीन हो जायगा ! यही दोनो व्यक्ति मेरी जीवन-आशाओं के केन्द्र थे। मैंने जो-कुछ किया इन्हीं के लिए किया। मैंने अपना जीवन इन्हीं पर समर्पण कर दिया था और अब इन्हें मँझधार में छोड़ जाता हूँ। इसी लिए कि वे विपत्ति-भँवर के कौर बन जायँ। इन विचारों ने उनके हृदय को मसोस दिया। आँखों से आँसू बहने लगे।

अचानक उनके विचार-प्रवाह में एक परिवर्तन हुआ। निराशा की जगह मुख पर एक दृढ़-संकल्प की आभा दिखाई दी जैसे किसी गृहस्वामिनी की झिड़-

कियाँ सुनकर एक दीन भिक्षुक के तेवर बदल जाते हैं। 'नहीं कदापि नहीं! मैं अपने प्रिय पुत्र, अपनी प्राण-प्रिया पत्नी पर प्रारब्ध का अत्याचार न होने दूँगा। अपने कुल की मर्यादा को यों भ्रष्ट न होने दूँगा। एक अबला को जीवन की कठिन परीक्षा में न डालूँगा! मैं मर रहा हूँ लेकिन प्रारब्ध के सामने सिर न झुकाऊँगा। उसका दास नहीं, स्वामी बनूँगा। अपनी नौका निर्दय तरङ्गों की आश्रित न बनने दूँगा। निसन्देह संसार मुँह बनायेगा। मुझे दुरात्मा, घातक, नराधम कहेगा। इसलिए कि उसके पाशविक आमोद में, उसकी पैशाचिक क्रीड़ाओं में एक व्यवस्था कम हो जायगी। कोई चिन्ता नहीं, मुझे सन्तोष तो रहेगा कि उसका अत्याचार मेरा बाल भी बाँका नहीं कर सकता, उसकी अनर्थ लीला से मैं सुरक्षित हूँ।'

जीवनदास के मुख पर वर्णहीन संकल्प अंकित था। वह संकल्प जो आत्महत्या का सूचक है। वह बिछौने ने उठे मगर हाथ-पाँव थरथर काँप रहे थे। कमरे की प्रत्येक वस्तु उन्हें आँखें फाड़-फाड़कर देखती हुई जान पड़ती थी। आलमारी के शीशे में अपनी परछाईं दिखायी दी। चौंक पड़े, वह कौन? ख्याल आ गया यह तो अपनी छाया है। उन्होंने आलमारी से एक चमचा और एक प्याला निकाला। प्याले में वह जहरीली दवा थी जो डाक्टर ने उनकी छाती पर मलने के लिए दी थी। प्याले को हाथ में लिये चारों ओर सहमी हुई दृष्टि से ताकते हुए वह प्रभावती के सिरहाने आकर खड़े हो गये। हृदय पर करुणा का आवेग हुआ। इन प्यारों को क्या मेरे ही हाथों मरना लिखा था? मैं ही इनका यमदूत बनूँगा। यह अपने ही कर्मों का फल है। मैं आँखें बन्द करके वैवाहिक बन्धन में फँसा। इन भावी आपदाओं की ओर क्यों मेरा ध्यान न गया? मैं उस समय ऐसा हर्षित और प्रफुल्लित था मानो जीवन एक अनादि सुख-स्वर है, एक सुधामय आनन्द-सरोवर। यह इस अदूरदर्शिता का परिणाम है कि आज मैं यह दुर्दिन देख रहा हूँ।

हठात् उनके पैरों में कम्पन हुआ। आँखों में अन्धेरा छा गया, नाड़ी की गति बन्द होने लगी। वे करुणामयी भावनाएँ मिट गयीं। शंका हुई, कौन जाने यही दौरा जीवन का अन्त हो। वह सँभलकर उठे और प्याले से दवा

का एक चम्मच निकालकर प्रभावती के मुँह में डाल दिया। उसने नींद में दो-एक बार मुँह डुलाकर करवट बदल ली। तब उन्होंने लखनदास का मुँह खोलकर उसमें भी एक चम्मच-भर दवा डाल दी और प्याले को जमीन पर पटक दिया। पर हा! मानव-परवशता! हा प्रबल भावी! भाग्य की विषम क्रीड़ा अब भी उनसे चाल चल रही थी। प्याले में विष न था। वह टानिक था जो डाक्टर ने उनका बल बढ़ाने के लिए दिया था।

प्याले को रखते ही उनके काँपते हुए पैर स्थिर हो गये, मूर्च्छा के सब लक्षण जाते रहे। चित्त पर भय का प्रकोप हुआ। वह कमरे में एक क्षण भी न ठहर सके। हत्याप्रकाश का भय हत्याकर्म से भी कहीं दारुण था। उन्हें दण्ड की चिन्ता न थी; पर निन्दा और तिरस्कार से बचना चाहते थे। वह घर से इस तरह बाहर निकले, जैसे किसी ने उन्हें ढकेल दिया हो। उनके अंगों में कभी इतनी स्फूर्ति न थी। घर सड़क पर था, द्वार पर एक ताँगा मिला। उस पर जा बैठे। नाड़ियों में विद्युत् शक्ति दौड़ रही थी।

ताँगेवाले ने पूछा—कहाँ चलूँ?

जीवनदास—जहाँ चाहो।

ताँगेवाला—स्टेशन चलूँ।

जीवनदास—वहीं सही।

ताँगेवाला—छोटी लैन चलूँ या बड़ी लैन?

जीवनदास—जहाँ गाड़ी जल्दी मिल जाय।

ताँगेवाले ने उन्हें कौतूहल से देखा। परिचित था, बोला—आपकी तबीयत अच्छी नहीं है, क्या और कोई साथ न जायगा?

जीवनदास ने जवाब दिया—नहीं मैं अकेला ही जाऊँगा।

ताँगेवाला—आप कहाँ जाना चाहते हैं?

जीवनदास—बहुत बातें न करो। यहाँ से जल्दी चलो।

ताँगेवाले ने घोड़े को चाबुक लगाया और स्टेशन की ओर चला। जीवनदास वहाँ पहुँचते ही ताँगे से कूद पड़े और स्टेशन के अन्दर चले। ताँगेवाले ने कहा—पैसे?

जीवनदास को अब ज्ञात हुआ कि मैं घर से कुछ नहीं लेकर चला, यहाँ

तक कि शरीर पर वस्त्र भी न थे। बोले—पैसे फिर मिलेंगे।

ताँगेवाला—आप न जाने कब लौटेंगे।

जीवनदास—मेरा जूता नया है, ले लो।

ताँगेवाले का आश्चर्य और भी बढ़ा; समझा इन्होंने शराब पी है, अपने आपे में नहीं हैं। चुपके से जूते लिये और चलता हुआ।

गाड़ी के आने में अभी घण्टों की देर थी। जीवनदास प्लेटफार्म पर जाकर टहलने लगे। धीरे-धीरे उनकी गति तीव्र होने लगी, मानो कोई उनका पीछा कर रहा है। उन्हें इसकी बिलकुल चिन्ता न थी कि मैं खाली हाथ हूँ। जाड़े के दिन थे। लोग सरदी के मारे अकड़े जाते थे, किन्तु उन्हें ओढ़ने-बिछौने की भी सुधि न थी। उनकी चैतन्य-शक्ति नष्ट हो गयी थी; केवल अपने दुष्कर्म का ज्ञान जीवित था। ऐसी शंका होती था कि प्रभावती मेरे पीछे दौड़ी चली आती है, कभी भ्रम होता कि लखनदास भागता हुआ आ रहा है कभी पड़ोसियों के धर-पकड़ की आवाज कानों में आती थी, उनकी कल्पना प्रतिक्षण उत्तेजित होती जाती थी, यहाँ तक कि वह प्राणभय से माल के बोरों के बीच में जा छिपे। एक-एक मिनट पर चौंक पड़ते थे और सशंक नेत्रों से इधर-उधर देखकर फिर छिप जाते थे। उन्हें अब यह भी स्मरण न रहा कि मैं यहाँ क्या करने आया हूँ, केवल अपनी प्राण-रक्षा का ज्ञान शेष था। घण्टियाँ बजीं, मुसाफिरों के झुण्ड-के-झुण्ड आने लगे, कुलियों की बकझक, मुसाफिरों की चीख और पुकार, आने-जानेवाले एञ्जिनों की धकधक से हाहाकार मचा हुआ था; किन्तु जीवनदास उन जड़ बोरों के बीच में इस तरह पैतरे बदल रहे थे मानो वे चैतन्य होकर उन्हें घेरना चाहते हैं।

निदान गाड़ी स्टेशन पर आकर खड़ी हो गयी। जीवनदास सँभल गये। स्मृति जाग्रत हो गयी। लपककर बोरों में से निकले और एक कमरे में जा बैठे।

इतने में गाड़ी के द्वार पर 'खट-खट' की ध्वनि सुनायी दी। जीवनदास ने चौंककर देखा, टिकट का निरीक्षक खड़ा था। उनकी अचेतावस्था भंग हो गयी। वह कौन-सा नशा है जो मार के आगे भाग न जाय। व्याधि की शंका संज्ञा को जाग्रत कर देती है। उन्होंने शीघ्रता से जलगृह खोला और

उसमें घुस गये। निरीक्षक ने पूछा—'और कोई नहीं?' मुसाफिरों ने एक स्वर से कहा—'अब कोई नहीं है।' जनता को अधिकारी-वर्ग से एक नैसर्गिक द्वेष होता है। गाड़ी चली तो जीवनदास बाहर निकले। यात्रियों ने एक प्रचण्ड हास्यध्वनि से उनका स्वागत किया। यह देहरादून मेल था।

( ३ )

रास्ते-भर जीवनदास कल्पनाओं में मग्न रहे। हरिद्वार पहुँचे तो उनकी मानसिक अशान्ति बहुत कुछ कम हो गयी थी। एक क्षेत्र से कम्बल लाये, भोजन किया और वहीं पड़े रहे। अनुग्रह के कच्चे धागे को वह लोहे की बेड़ी समझते थे; पर दुरवस्था ने आत्मगौरव का नाश कर दिया था।

इस भाँति कई दिन बीत गये, किन्तु मौत का तो कहना ही क्या वह व्याधि भी शान्त होने लगी जिसने जीवन से निराश कर दिया था। उनकी शक्ति दिनोंदिन बढ़ने लगी। मुख की कान्ति प्रदीप्त होने लगी। वायु का प्रकोप शान्त हो गया, मानो दो प्रिय प्राणियों के बलिदान ने मृत्यु को तृप्त कर दिया था।

जीवनदास की यह रोग-निवृत्ति उस दारुण रोग से अधिक दुःखदायी प्रतीत होती थी। वे अब मृत्यु का आह्वान करते, ईश्वर से प्रार्थना करते कि फिर उसी जीर्णावस्था का दुरागमन हो, नाना प्रकार के कुपथ्य करते, किन्तु कोई प्रयत्न सफल न होता था। उन बलिदानों ने वास्तव में यमराज को सन्तुष्ट कर दिया था।

अब उन्हें चिन्ता होने लगी, क्या मैं वास्तव में जिन्दा रहूँगा। लक्षण ऐसे ही दीख पड़ते थे। नित्यप्रति यह शंका प्रबल होती जाती थी। उन्होंने प्रारब्ध को अपने पैरों पर झुकाना चाहा था, पर अब स्वयं उसके पैरों की रज चाट रहे थे। उन्हें बारम्बार अपने ऊपर क्रोध आता, कभी व्यग्र होकर उठते कि जीवन का अन्त कर दूँ, तकदीर को दिखा दूँ कि मैं अब भी उसे कुचल सकता हूँ किन्तु उसके हाथों विकट यन्त्रणा भोगने के बाद उन्हें भय होता था कि कहीं इसमें भी जटिल समस्या न उपस्थित हो जाय; क्योंकि उन्हें उनकी शक्ति का कुछ कुछ अनुमान हो गया था। इन विचारों ने उनके मन में नास्तिकता के भाव उत्पन्न किये। वर्तमान भौतिक शिक्षा ने उन्हें पहले ही अनात्मवादी बना

दिया था। अब उन्हें समस्त प्रकृति अनर्थ और अधर्म के रङ्ग में डूबी हुई मालूम होने लगी। यहाँ न्याय नहीं, दया नहीं, सत्य नहीं, असम्भव है कि यह सृष्टि किसी कृपालु शक्ति के अधीन हो और उसके ज्ञान में नित्य ऐसे वीभत्स, ऐसे भीषण अभिनय होते रहें। वह न दयालु है न वत्सल है। वह सर्वज्ञानी और अन्तर्यामी भी नहीं; निस्सन्देह वह एक विनाशिनी, वक्र और विकारमयी शक्ति है। सांसारिक प्राणियों ने उसकी अनिष्ट क्रीड़ा से भयभीत होकर उसे सत्य का सागर, दया और धर्म का भण्डार, प्रकाश और ज्ञान का स्रोत बना दिया है। यह हमारा दीन विलाप है। अपनी दुर्बलता का करुण अश्रुपात। इसी शक्तिहीनता को, इसी निःसहायता को हम उपासना और आराधना कहते हैं और उस पर गर्व करते हैं। दार्शनिकों का कथन है कि यह प्रकृति अटल नियमों के अधीन है, यह भी उसकी श्रद्धालुता है। नियम जड़, अचैतन्य होते हैं, उनमें कपट के भाव कहाँ ? इन नियमों का संचालक, इस इन्द्रजाल का मदारी अवश्य है; यह स्पष्ट है किन्तु वह प्राणी देवता नहीं पिशाच है।

इन भावों ने शनैः-शनैः क्रियात्मक रूप धारण किया। सद्भक्ति हमें ऊपर ले जाती है, असद्भक्ति हमें नीचे गिराती है। जीवनदास की नौका का लङ्गर उखड़ गया। अब उसका न कोई लक्ष्य था और न कोई आधार, तरङ्गों में डाँवाडोल होती रहती थी।

( ४ )

पन्द्रह वर्ष बीत गये। जीवनदास का जीवन आनन्द और विलास में कटता था। रमणीक निवास-स्थान था, सवारियाँ थीं, नौकर-चाकर थे। नित्य राग-रङ्ग होता रहता था ! अब इन्द्रिय-लिप्सा उनका धर्म था, वासना-तृप्ति उनका जीवन-तत्व। वे विचार और विवेक के बन्धनों से मुक्त हो गये थे। नीति और अनीति का ज्ञान लुप्त हो गया था। साधनों की भी कमी नहीं थी। बँधे बैल और छूटे साँड़ में बड़ा अन्तर है। एक रातिब पाकर भी दुर्बल है, दूसरा घास-पात ही खाकर मस्त हो रहा है। स्वाधीनता बड़ी पोषक वस्तु है।

जीवनदास को अब अपनी स्त्री और बालक की याद न सताती थी। भूत और भविष्य का उनके हृदय पर कोई चिन्ह न था। उनकी निगाह केवल वर्तमान पर रहती थी। वह धर्म को अधर्म समझते थे और अधर्म को धर्म। उन्हें सृष्टि

का यह मूलतत्व प्रतीत होता था। उनका जीवन स्वयं इसी दुर्नीति का उज्ज्वल प्रमाण था। आत्मबन्धन को तोड़कर वे जितने उत्थित हुए, वहाँ तक उन बन्धनों में पड़े हुए उनकी दृष्टि भी न पहुँच सकती थी। जिधर आँख उठती अधर्म का साम्राज्य दीख पड़ता था। यही सफल जीवन का मन्त्र था। स्वेच्छाचारी हवा में उड़ते हैं, धर्म के सेवक एड़ियाँ रगड़ते हैं। वे व्यापार और राजनीति के भवन, ज्ञान और भक्ति के मन्दिर, साहित्य और काव्य की रंगशाला, प्रेम और अनुराग की मण्डलियाँ सब इसी दीपक से आलोकित हो रही हैं। ऐसी विराट ज्योति की आराधना क्यों न की जाय ?

गरमी के दिन थे, सन्ध्या का समय; हरिद्वार के रेलवे स्टेशन पर यात्रियों की भीड़ थी। जीवनदास एक गेरुए रङ्ग की रेशमी चादर गले में डाले, सुनहरा चश्मा लगाये, दिव्य ज्ञान की मूर्ति बने हुए अपने सहचरों के साथ प्लेटफार्म पर टहल रहे थे। उनकी भेदक दृष्टि यात्रियों पर लगी हुई थी। अचानक उन्हें दूसरे दर्जे के कमरे में एक शिकार दिखायी दिया। यह एक रूपवान युवक था। चेहरे से प्रतिभा झलक रही थी। उसकी घड़ी की जंजीर सुनहरी थी, तनजेब की अचकन के बटन भी सोने के थे। जिस प्रकार बधिक की दृष्टि पशु के मांस और चर्म पर रहती है उसी प्रकार जीवनदास की दृष्टि में मनुष्य एक भोग पदार्थ था। उनके अनुमान ने आश्चर्यजनक कुशलता प्राप्त कर ली थी और उनसे कभी भूल न होती थी। यह युवक अवश्य कोई रईस है। सरल और गौरवशील भी है; अतएव सुगमता से जाल में फँस जायगा। उस पर अपनी विद्वता का सिक्का बिठाना चाहिए। उसकी सरल हृदयता पर निशाना मारना चाहिए। मैं गुरु बनूँ, यह दोनो मेरे शिष्य बन जायँ, छल की घातें चलें, मेरी अपार विद्वत्ता, अलौकिक कीर्ति और अगाध वैराग्य का मधुर गान हो, शब्दा-डम्बरों के दाने बिखेर दिये जायँ और मृग पर फन्दा डाल दिया जाय।

यह निश्चय करके जीवनदास कमरे में दाखिल हुए। युवक ने उनकी ओर गौर से देखा जैसे अपने भूले हुए मित्र को पहचानने की चेष्टा कर रहा हो। तब अधीर होकर बोला—महात्माजी आपका स्थान कहाँ है ?

जीवनदास प्रसन्न होकर बोले—बच्चा, संतों का स्थान कहाँ ? समस्त संसार हमारा स्थान है।

युवक ने फिर पूछा—आपका शुभ नाम लाला जीवनदास तो नहीं है?

जीवनदास चौंक पड़े। छाती बल्लियों उछलने लगी। चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। कहीं यह खुफिया पुलिस का कर्मचारी तो नहीं है। निश्चय न कर सके, क्या उत्तर दूँ। गुम-सुम हो गये।

युवक ने असमंजस में पड़े देखकर कहा—मेरी यह धृष्टता क्षमा कीजिएगा। मैंने यह बात इसलिए पूछी कि आपका श्रीमुख मेरे पिताजी से बहुत मिलता है। वे बहुत दिनों से गायब हैं। लोग कहते हैं संन्यासी हो गये। बरसों से उन्हीं की तलाश में मारा-मारा फिर रहा हूँ।

जिस प्रकार क्षितिज पर मेघराशि चढ़ती है और क्षणमात्र में सम्पूर्ण वायुमण्डल को घेर लेती है उसी प्रकार जीवनदास को अपने हृदय में पूर्व-स्मृतियों की एक लहर-सी उठती हुई मालूम हुई। गला फँस गया और आँखों के सामने प्रत्येक वस्तु तैरती हुई जान पड़ने लगी। और सचेष्ट नेत्रों से देखा, स्मृति सजग हो गयी। उसके गले से लिपटकर बोले—लक्खू!

लखनदास उनके पैरों पर गिर पड़ा।

'मैंने बिलकुल नहीं पहचाना।'

'एक युग हो गया।'

( ५ )

आधी रात गुजर चुकी थी। लखनदास सो रहा था और जीवनदास खिड़की से सिर निकाले विचारों में मग्न थे। प्रारब्ध का एक नया अभिनय उनके नेत्रों के सामने था। वह धारणा जो अतीतकाल से उनकी पथ-प्रदर्शक बुनी हुई थी, हिल गयी। मुझे अहङ्कार ने कितना विवेकहीन बना दिया था! समझता था, मैं ही सृष्टि का संचालक हूँ, मेरे मरने पर परिवार का अधःपतन हो जायगा; पर मेरी यह दुश्चिन्ता कितनी मिथ्या निकली! जिन्हें मैंने विष दिया वे आज जीवित हैं, सुखी हैं और सम्पत्तिशाली हैं। असम्भव था कि लक्खू को ऐसी उच्च शिक्षा दे सकता। माता के प्रेम और अध्यवसाय ने कठिन मार्ग कितना सुगम कर दिया। मैं उसे इतना सच्चरित्र, इतना दृढ़-संकल्प, इतना कर्त्तव्यशील कभी न बना सकता। यह स्वावलम्बन का फल है। मेरा विष उसके लिए अमृत हो गया। कितना विनयशील, हँसमुख,

नि:स्पृह, और चतुर युवक है! मुझे तो अब उसके साथ बैठते भी संकोच होता है। मेरा सौभाग्य कैसा उदय हुआ है! मैं विराट् जगत् को किसी पैशाचिक शक्ति के अधीन समझता था जो दीन प्राणियों के साथ बिल्ली और चूहे का खेल खेलती है। हा मूर्खता, हा अज्ञान! आज मुझ-जैसा पापी मनुष्य इतना सुखी है। इसमें सन्देह नहीं, इस जगत् का स्वामी दया और कृपा का महासागर है। प्रातःकाल मुझे उस देवी से साक्षात् होगा जिसके साथ जीवन के क्या क्या सुख नहीं भोगे! मेरे पोते और पोतियाँ मेरी गोद में खेलेंगी। मित्रगण मेरा स्वागत करेंगे। ऐसे दयामय भगवान् को मैं अमङ्गल का मूल समझता था।

इन विचारों में पड़े हुए जीवनदास को नींद आ गयी। जब आँखें खुलीं तो 'लखनऊ' की प्रिय और चिरपरिचित ध्वनि कानों में आयी। वे चौंककर उठ बैठे। लखनदास असबाब उतरवा रहे थे। स्टेशन के बाहर उनकी फिटन खड़ी थी। दोनों आदमी उस पर बैठे। जीवनदास का हृदय आह्लाद से भर रहा था। मौन रूप बैठे हुए थे, मानो समाधि में हों।

फिटन चली। जीवनदास को प्रायः सभी चीजें नयी मालूम होती थीं। न वे बाजार, न वे गली-कूचे, न वे प्राणी थे। युगान्तर-सा हो गया था। निदान उन्हें एक रमणीक बङ्गला-सा दिखायी पड़ा, जिसके द्वार पर मोटे अक्षरों में अङ्कित था— 'जीवनदास पाठशाला।'

जीवनदास ने विस्मित होकर पूछा—यह क्या?

लखनदास ने कहा—माताजी ने आपकी स्मृतिरूप यह पाठशाला खोली है। कई लड़के छात्रवृत्ति पाते हैं।

जीवनदास का दिल और भी बैठ गया। मुँह से एक ठण्डी साँस निकल आयी।

थोड़ी देर के बाद फिटन रुकी, लखनदास उतर पड़े। नौकरों ने असबाब उतारना शुरू किया। जीवनदास ने देखा एक पक्का दोमंजिला मकान था, उनके पुराने खपरैलवाले घर का कोई चिह्न न था। केवल एक नीम का वृक्ष बाकी था। दो कोमल बालक 'बाबूजी' कहते हुए दौड़े और लखनदास के पैरों से लिपट गये। घर में एक हलचल-सी मच गयी। दीवानखाना खुल गया जो

खूब सजा हुआ था। दीवानखाने के पीछे एक सुन्दर पुष्पवाटिका थी। जीवनदास ऐसे चकित हो रहे थे मानो कोई तिलिस्म देख रहे हों !

( ६ )

रात्रि का समय था। बारह बज चुके थे। जीवनदास को किसी करवट नींद न आती थी। अपने जीवन का चित्र उनके सामने था। इन पन्द्रह वर्षों में उन्होंने जो काँटे बोये थे वे इस समय उनके हृदय में चुभ रहे थे। जो गढ़े खोदे थे वे उन्हें निगलने के लिए मुँह खोले हुए थे। उनकी दशा में एक ही दिन में घोर परिवर्तन हो गया था। अभक्ति और अविश्वास की जगह विश्वास का अभ्युदय हो गया था, और यह विश्वास केवल मानसिक न था, वरन् प्रत्यक्ष था। ईश्वरीय न्याय का भय एक भयङ्कर मूर्ति के सदृश उनके सामने खड़ा था। उससे बचने की अब उन्हें कोई युक्ति नजर न आती थी। अब तक उनकी स्थिति उस आग की चिनगारी के समान थी, जो किसी मरुभूमि पर पड़ी हुई हो। उससे हानि की कोई शङ्का न थी लेकिन आज वह चिनगारी एक खलिहान के पास पड़ी हुई थी। मालूम नहीं कब वह प्रज्वलित होकर खलिहान को भस्मीभूत कर दे।

ज्यों-ज्यों रात गुजरती थी, यह भय ग्लानि का रूप धारण करता जाता था। 'हा शोक ! मैं इस योग्य भी नहीं कि इस साक्षात् क्षमा और दया को अपना कलुषित मुँह दिखाऊँ। उसने मुझ पर सदैव करुणा और वात्सल्य की दृष्टि रखी और यह शुभ दिन दिखाया। मेरी कालिमा उसकी उज्ज्वल कीर्ति पर एक काला दाग है। मेरी कलुषता क्या इस मंगल चित्र को कलुषित न कर देगी ? पापाग्नि के स्पर्श से क्या यह हरा-भरा उद्यान मटियामेट न हो जायगा ? मेरी अपकीर्ति कभी-न-कभी प्रगट होकर इस कुल की मर्यादा और सम्मान को नष्ट कर देगी। मेरे जीवन से अब किसको सुख है ? कदाचित् भगवान् ने मुझे लज्जित करने के लिए, मुझे अपनी तुच्छता को अवगत कराने के लिए, मेरे गले में अनुताप की फाँसी डालने के लिए यह अद्भुत लीला दिखायी है। हा ! इसी कुल की मर्यादा रक्षा के लिऐ मैंने भीषण हत्याएँ की थीं ? क्या अब जीवित रहकर इसकी वह दुर्दशा कर दूँ जो मरकर भी न कर सका ? मेरे हाथ खून से लाल हो रहे हैं। परमात्मन् ! वह खून रंग न लाये। यह हृदय पापों के कीटाणु से जर्जर

हो रहा है। भगवन्, यह कुल उस छूत से बचा रहे।'

इन विचारों ने जीवनदास में ग्लानि और भय के भावों को इतना उत्तेजित किया कि वह विकल हो गये। जैसे परती भूमि में बीज का असाधारण विकास और प्रचार होता है, उसी तरह विश्वासहीन हृदय में जब विश्वास का बीज पड़ता है तो उसमें सजीवता और विकास का प्रादुर्भाव होता है। उसमें विचार के बदले व्यवहार का प्राधान्य होता है। आत्म-समर्पण उसका विशेष लक्ष्य होता है। जीवनदास को अपने चारों तरफ एक सर्वव्यापी शक्ति, एक विराट् आत्मा का अनुभव हो रहा था। प्रतिक्षण उनकी कल्पना सजग और प्रदीप्त होती जाती थी। अपने जीवन की घटनाएँ ज्वाला-शिखा बनकर उस घर की ओर, उस मंगल और आनन्द के निवास-भवन की ओर दौड़ती हुई जान पड़ती थीं मानो उसे निगल जायँगी।

पूर्व की ओर आकाश अरुण वर्ण हो रहा था। जीवनदास की आँखें भी अरुण थीं। वे घर से निकले। हाथ में केवल एक धोती थी। उन्होंने अपने अनिष्टमय अस्तित्व को मिटा देने का निश्चय कर लिया था। अपनी पापाग्नि की आँच से अपने परिवार को बचाने का संकल्प कर चुके थे। प्राणपण से अपने आत्म-शोक और हृदयदाह को शान्त करने पर उद्यत हो गये थे।

सूर्योदय हो रहा था। उसी समय जीवनदास गोमती की लहर में समा गये।

---

# बैर का अन्त

रामेश्वर राय अपने बड़े भाई केशव को खाट से नीचे उतारते हुए छोटे भाई से बोला—तुम्हारे पास कुछ रुपये हों तो लाओ, दाह-क्रिया की फिक्र करें, मैं तो बिलकुल खाली हाथ हूँ।

छोटे भाई का नाम विश्वेश्वर राय था। वह एक जमींदार का कारिन्दा था। आमदनी अच्छी थी। बोला—आधे रुपये मुझसे ले लो। आधे तुम

निकालो।

रामे०—मेरे पास रुपये नहीं हैं।

विश्वे०—तो फिर इनके हिस्से के खेत रेहन रख दो।

रामे०—तो जाओ; कोई महाजन ठीक करो। देर न लगे।

विश्वेश्वर राय ने अपने एक मित्र से कुछ रुपये लिये, खेत की लिखा-पढ़ी कर दी। कुल पाँच बीघे जमीन थी। ३००) मिले। गाँव के लोगों का तो अनुमान है कि क्रिया-कर्म में मुश्किल से १००) उठे होंगे पर विश्वेश्वर राय ने षोडशी के दिन ३०१) का लेखा भाई के सामने रख दिया। रामेश्वर राय ने चकित होकर पूछा—सब रुपये उठ गये?

विश्वे०—क्या मैं इतना नीच हूँ कि मरनी के रुपयों में भी कुछ उठा रखूँगा। किसको यह धन पचेगा?

रामे०—नहीं, मैं तुम्हें बेईमान नहीं बनाता, खाली पूछता था।

विश्वे०—कुछ शक हो तो जिस बनिये से चीजें ली गयी हैं उससे पूछ लो।

साल-भर के बाद एक दिन बिश्वेश्वर राय ने भाई से कहा—रुपये हों तो लाओ, खेत छुड़ा लें।

रामे०—मेरे पास रुपये कहाँ से आये। घर का हाल तुमसे छिपा थोड़े ही है।

विश्वे०—तो मैं सब रुपये देकर जमीन छुड़ाये लेता हूँ। जब तुम्हारे पास रुपये हों, आधा देकर अपनी आधी जमीन मुझसे ले लेना।

रामे०—अच्छी बात है, छुड़ा लो।

( २ )

३० साल गुजर गये। विश्वेश्वर राय जमीन को जोतता रहा, उसे खाद-गोबर से खूब सजाया। उसने निश्चय कर लिया था कि अब यह जमीन नहीं छोड़ूँगा। मेरा तो इस पर मौरूसी हक हो गया। अदालत से भी काई नहीं ले सकता। रामेश्वर राय ने कई बार यत्न किया कि रुपये देकर अपना हिस्सा ले लें, पर ३० साल में वे कभी १५० जमा न कर सके।

मगर अब रामेश्वर राय का बड़ा लड़का जागेश्वर कुछ सँभल गया था।

वह गाड़ी लादने का काम करने लगा था और इस काम में उसे अच्छा नफा भी होता था। उसे अपने हिस्से की रात-दिन चिन्ता लगी रहती थी। अन्त में उसने रात-दिन श्रम करके यथेष्ट धन बटोर लिया और एक दिन चचा से बोला—काका, अपने रुपये ले लीजिए, मैं अपना नाम चढ़वा लूँ।

विश्वे०—अपने बाप के तुम्हीं चतुर बेटे नहीं हो। इतने दिनों तक कान न हिलाये, जब मैंने जमीन को सोना बना लिया तब हिस्सा बटाने चले हो।

रामे०—तुमने जमीन को सोना बना दिया तो उसका नफा भी तो उठाया। मैं तुमसे माँगने तो नहीं गया।

विश्वे०—तो अब जमीन न मिलेगी।

रामे०—भाई का हक मारकर कोई सुखी नहीं रहता।

विश्वे०—जमीन मेरी है। भाई की नहीं है।

जागे०—तो आप सीधे न दीजिएगा ?

विश्वे०—न सीधे दूँगा, न टेढ़े से दूँगा। अदालत करो।

जागे०—अदालत करने की मुझमें सामर्थ्य नहीं है, पर इतना कहे देता हूँ कि जमीन चाहे मुझे न मिले, पर आपके पास भी न रहेगी।

विश्वे०—यह धमकी जाकर किसी और को दो।

जागे०—फिर यह न कहिएगा कि भाई होकर बैरी हो गया।

विश्वे०—एक हजार गाँठ में रखकर तब जो कुछ जी में आये करना।

जागे०—मैं गरीब आदमी हजार रुपये कहाँ से लाऊँगा, पर कभी-कभी भगवान दीनों पर दयालु हो जाते हैं।

विश्वे०—मैं इस डर से बिल नहीं खोद रहा हूँ।

रामेश्वर राय तो चुप रहे, पर जागेश्वर इतना क्षमाशील न था। वकीलों से बातचीत की। वह अब आधी नहीं, सब जमीन पर दाँत लगाये हुए था।

( ३ )

मृत सिद्धेश्वर राय के एक लड़की तपेश्वरी थी। अपने जीवन-काल में वे उसका विवाह कर चुके थे। उसे कुछ मालूम ही न था कि बाप ने क्या छोड़ा

और किसने लिया। क्रिया-कर्म अच्छी तरह हो गया, वह इसी में खुश थी। षोडशी में आयी थी। फिर ससुराल चली गयी। ३० वर्ष हो गये। न किसी ने बुलाया, न वह मैके आयी। ससुराल की दशा भी अच्छी न थी। पति का देहान्त हो चुका था। लड़के भी अल्प वेतन पर नौकर थे। जागेश्वर ने अपनी फूफी को उभाड़ना शुरू किया। वह उसी को मुद्दई बनाना चाहता था।

तपेश्वरी ने कहा—बेटा, मुझे भगवान् ने जो दिया है उसी में मगन हूँ। मुझे जगह-जमीन न चाहिए, मेरे पास अदालत करने को धन नहीं है।

जागे०—रुपये मैं लगाऊँगा, तुम खाली दावा कर दो।

तपे०—भैया तुम्हें लड़ाकर किसी काम का न रखेंगे।

जागे०—यह नहीं देखा जाता कि वे जायदाद लेकर मजे उड़ावें और हम मुँह ताकें। मैं अदालत का खर्च दे दूँगा। इस जमीन के पीछे बिक जाऊँगा, पर उनका गला न छोड़ूँगा।

तपे०—अगर जमीन मिल भी गयी तो तुम अपने रुपयों के एवज में ले लोगे, मेरे हाथ क्या लगेगा। मैं भाई से क्यों बुरी बनूँ?

जागे०—जमीन आप ले लीजिएगा। मैं केवल चचा साहब का घमण्ड तोड़ना चाहता हूँ।

तपे०—अच्छा जाओ, मेरी तरफ से दावा कर दो।

जागेश्वर ने सोचा, जब चचा साहब की मुट्ठी से जमीन निकल जायेगी तब मैं दस-पाँच रुपये साल पर इनसे ले लूँगा। इन्हें अभी कौड़ी नहीं मिलती। जो कुछ मिलेगा उसको बहुत समझेंगी। दूसरे दिन दावा कर दिया। मुन्सिफ के इजलास में मुकदमा पेश हुआ। विश्वेश्वर राय ने सिद्ध किया कि तपेश्वरी सिद्धेश्वर राय की कन्या ही नहीं है। गाँव के आदमियों पर विश्वेश्वर का दबाव था। सब लोग उनसे रुपये-पैसे उधार ले जाते थे। मामले-मुकद्दमे में उनसे सलाह लेते थे। सबने अदालत में बयान किया कि हम लोगों ने कभी तपेश्वरी को नहीं देखा। सिद्धेश्वर के कोई लड़की ही न थी। जागेश्वर ने बड़े-बड़े वकीलों से पैरवी करायी, बहुत धन खर्च किया लेकिन मुन्सिफ ने उसके विरुद्ध फैसला सुनाया, बेचारा हताश हो गया। विश्वेश्वर की अदालत में सब से जान-पहचान थी। जागेश्वर को जिस काम के लिए मुट्ठियों रुपये खर्च

करने पड़ते थे उसे विश्वेश्वर मुरौवत में करा लेता था।

जागेश्वर ने अपील करने का निश्चय किया। रुपये न थे। गाड़ी-बैल बेच डाले। अपील हुई। महीनों मुकदमा चला। बेचारा सुबह से शाम तक कचहरी के अमलों और वकीलों की खुशामद किया करता। रुपये भी उठ गये, महाजनों से ऋण लिया। अबकी उसकी डिग्री हो गयी। पाँच सौ का बोझ सिर पर हो गया था, पर जीत ने आँसू पोंछ दिये।

विश्वेश्वर राय ने हाईकोर्ट में अपील की। जागेश्वर को अब कहीं से रुपये न मिले। विवश होकर अपने हिस्से की जमीन रेहन रखी। फिर घर के बेचने की नौबत आयी। यहाँ तक की स्त्रियों के गहने भी बिक गये। अन्त में हाईकोर्ट से भी उसकी जीत हो गयी। आनन्दोत्सव में बची-खुची पूँजी भी निकल गयी। एक हजार पर पानी फिर गया। हाँ, सन्तोष यही था कि ये पाँचों बीघे मिल गये। तपेश्वरी क्या इतनी निर्दयी हो जायगी कि थाली मेरे सामने से खींच ले?

लेकिन खेतों पर अपना नाम चढ़ते ही तपेश्वरी की नीयत बदली। उसने एक दिन गाँव में आकर पूछ-ताछ की तो मालूम हुआ कि पाँचों बीघे १००) में उठ सकते हैं। लगान केवल २५) था। ७५) साल का नफा था। इस रकम ने उसे विचलित कर दिया। उसने असामियों को बुलाकर उनके साथ जमीन का बन्दोबस्त कर दिया, जागेश्वर राय हाथ मलता रह गया। आखिर उससे न रहा गया। बोला—फूफीजी, आपने जमीन तो दूसरों को दे दी, अब मैं कहाँ जाऊँ?

तपे०—बेटा, पहले अपने घर में दिया जलाकर तब मसजिद में जलाते हैं। इतनी जगह मिल गयी तो मैके से नाता हो गया, नहीं तो कौन पूछता?

जागे०—मैं तो उजड़ गया!

तपे०—जिस लगान पर और लोग ले रहे हैं उसमें दो-चार रुपये कम करके तुम्हीं क्यों नहीं ले लेते!

जागे०—मैं ऐसा समझता तो इस झगड़े में ही न पड़ता।

तपेश्वरी तो दो-चार दिन में बिदा हो गयी। रामेश्वर राय पर वज्रपात-सा हो गया। बुढ़ापे में मजदूरी करनी पड़ी। मान-मर्यादा से हाथ धोया।

रोटियों के लाले पड़ गये। बाप-बेटे दोनो प्रातःकाल से सन्ध्या तक मजदूरी करते तब कहीं आग जलती। दोनो में बहुधा तकरार हो जाती। रामेश्वर राय सारा अपराध बेटे के सिर रखते। बेटा कहता, आपने मुझे रोका होता तो मैं क्यों इस विपत्ति में फँसता। उधर विश्वेश्वर राय ने महाजनों को उकसा दिया। साल भी न गुजरने पाया था कि बेचारे निराधार हो गये। जमीन निकल गयी, घर नीलाम हो गया, दस-बीस पेड़ थे वे भी नीलाम हो गये। दुबेजी चौबे न बने, दरिद्र हो गये। इस पर विश्वेश्वर राय के ताने और भी गजब ढाते। यह विपत्ति का सबसे नोकदार काँटा था, आतङ्क का सबसे निर्दय आघात था।

( ५ )

दो साल तक इस दुखी परिवार ने जितनी मुसीबतें झेलीं, यह उन्हीं का दिल जानता है। कभी पेट-भर भोजन न मिला। हाँ, इतनी आन थी कि नीयत नहीं बदली। दरिद्रता ने सब-कुछ किया, पर आत्मा का पतन न कर सकी। कुल-मर्यादा में आत्मरक्षा की बड़ी शक्ति होती है।

एक दिन सन्ध्या समय दोनो आदमी बैठे आग ताप रहे थे कि सहसा एक आदमी ने आकर कहा—ठाकुर चलो, विश्वेश्वर राय तुम्हें बुलाते हैं।

रामेश्वर राय ने उदासीन भाव से कहा—मुझे क्यों बुलावेगा? मैं उसका कौन होता हूँ? क्या कोई और उपद्रव खड़ा करना चाहता है?

इतने में दूसरा आदमी दौड़ा हुआ आकर बोला—ठाकुर, जल्दी चलो, विश्वेश्वर राय की दशा अच्छी नहीं है।

विश्वेश्वर राय को इधर कई दिनों से खाँसी-बुखार की शिकायत थी, लेकिन शत्रुओं के विषय में हमें किसी अनिष्ट की शंका नहीं होती। रामेश्वर और जागेश्वर कभी कुशल-समाचार पूछने भी न गये। कहते, उसे हुआ क्या है, अमीरों को धन का रोग होता है, जब आराम करने का जी चाहा, पलङ्ग पर लेट रहे, दूध में साबूदाना उबालकर मिश्री मिलाकर खाया और फिर उठ बैठे। विश्वेश्वर राय की दशा अच्छी नहीं है, यह सुनकर भी दोनो जगह से न हिले। रामेश्वर राय ने कहा—दशा को क्या हुआ है? आराम से पड़ा बातें तो कर रहा है।

जागे०—किसी वैद्य-हकीम को बुलाने भेजना चाहते होंगे। शायद बुखार

तेज हो गया हो।

रामे०—यहाँ किसे इतनी फुरसत है? सारा गाँव तो उसका हितू है, जिसे चाहे भेज दे।

जागे०—हर्ज ही क्या है। जरा जाकर सुन आऊँ।

रामे०—जाकर थोड़े उपले बटोर लाओ, चूल्हा जले, फिर जाना। ठकुर-सुहाती करनी आती तो आज यह दशा न होती।

जागेश्वर ने टोकरी उठाई और हाट की तरफ चला कि इतने में विश्वेश्वर राय के घर से रोने की आवाज आने लगी। उसने टोकरी फेंक दी और दौड़ा हुआ चाचा के घर जा पहुँचा। देखा तो उन्हें लोग चारपाई से नीचे उतार रहे थे। जागेश्वर को ऐसा जान पड़ा कि मेरे मुख में कालिख लगी हुई है। वह आँगन से दालान में चला आया और दीवार से मुँह छिपाकर रोने लगा। युवावस्था आवेशमय होती है, क्रोध से आग हो जाती है तो करुणा से पानी भी हो जाती है।

( ६ )

विश्वेश्वर राय के तीन बेटियाँ थीं। उनके विवाह हो चुके थे। तीन पुत्र थे, वे अभी छोटे थे। सबसे बड़े की उम्र १० वर्ष से अधिक न थी। माता भी जीवित थी। खानेवाले तो चार थे, कमानेवाला कोई न था। देहात में जिसके घर में दोनो जून चूल्हा जले वही धनी समझा जाता है। उसके धन का अनुमान करने में भी अत्युक्ति से काम लिया जाता है। लोगों का विचार था कि विश्वेश्वर राय ने हजारों रुपये जमा कर लिये हैं। पर वास्तव में वहाँ कुछ न था। आमदनी पर सबकी निगाह रहती है, खर्च को कोई नहीं देखता। उन्होंने लड़कियों के विवाह खूब दिल खोल कर किये थे। भोजन-वस्त्र में, मेहमानों और नातेदारों के आदर-सत्कार में उनकी सारी आमदनी गायब हो जाती थी। अगर गाँव में अपना रोब जमाने के लिए दो-चार सौ रुपयों का लेन-देन कर लिया था तो कई महाजनों का कर्ज भी था। यहाँ तक कि छोटी लड़की के विवाह में अपनी जमीन भी गिरवी रख दी थी।

साल-भर तक तो विधवा ने ज्यों-त्यों करके बच्चों का भरण-पोषण किया। गहने बेचकर काम चलाती रही, पर जब यह आधार भी न रहा तब कष्ट होने

लगा। निश्चय किया कि तीनों लड़कों को तीनों कन्याओं के पास भेज दूँ। रही अपनी जान, उसकी क्या चिन्ता! तीसरे जून भी पाव-भर आटा मिल जायगा तो दिन कट जायँगे। लड़कियों ने पहले तो भाइयों को प्रेम से रखा किन्तु तीन महीने से ज्यादा कोई न रख सकी। उनके घरवाले चिढ़ते थे और अनाथों को मारते थे। लाचार होकर माता ने लड़कों को बुला लिया।

छोटे-छोटे लड़के दिन-दिन भर भूखे रह जाते। किसी को कुछ खाते देखते तो घर में जाकर माँ से माँगते। फिर माँ से माँगना छोड़ दिया। खानेवालों ही के सामने जाकर खड़े हो जाते और क्षुधित नेत्रों से देखते रहते। कोई तो मुट्ठी-भर चबेना निकालकर दे देता पर प्रायः लोग दुत्कार देते थे।

( ७ )

जाड़ों के दिन थे। खेतों में मटर की फलियाँ लगी हुई थीं। एक दिन तीनों लड़के एक खेत में घुसकर मटर उखाड़ने लगे। किसान ने देख लिया, दयावान आदमी था। खुद एक बोझ मटर उखाड़कर विश्वेश्वर राय के घर लाया और ठकुराइन से बोला—काकी, लड़कों को डाँट दो, किसी के खेत में न जाया करें।

जागेश्वर राय उसी समय अपने द्वार पर बैठा चिलम पी रहा था, किसान को मटर लाते देखा। तीनों बालक पिल्लों की भाँति पीछे-पीछे दौड़े चले आते थे। उसकी आँखें सजल हो गयीं। घर में जाकर पिता से बोला—चाची के पास अब कुछ नहीं रहा, लड़के भूखों मर रहे हैं।

रामे०—तुम त्रिया-चरित्र नहीं जानते। यह सब दिखावा है। जन्म-भर की कमाई कहाँ उड़ गयी?

जागे०—अपना काबू चलते हुए कोई लड़कों को भूखों नहीं मार सकता।

रामे०—तुम क्या जानो। बड़ी चतुर औरत है।

जागे०—लोग हमीं लोगों को हँसते होंगे।

रामे०—हँसी की लाज है तो जाकर छाँह कर लो, खिलाओ-पिलाओ। है दम?

जागे०—न भर-पेट खायँगे, आधे ही पेट सही। बदनामी तो न होगी। चचा से लड़ाई थी। लड़कों ने हमारा क्या बिगाड़ा है?

रामे०—वह चुड़ैल तो अभी जीती है न !

जागेश्वर चला आया। उसके मन में कई बार यह बात आयी थी कि चाची की कुछ सहायता किया करूँ। पर उनकी जली-कटी बातों से डरता था। आज से उसने एक नया ढंग निकाला है। लड़कों को खेलते देखता तो बुला लेता, कुछ खाने को दे देता। मजदूरों को दोपहर की छुट्टी मिलती है। अब वह इस अवकाश के समय काम करके मजदूरी के पैसे कुछ ज्यादा पा जाता। घर चलते समय खाने की कोई-न-कोई चीज लेता आता और अपने घरवालों की आँख बचाकर उन अनाथों को दे देता। धीरे-धीरे लड़के उससे इतने हिलमिल गये कि उसे देखते ही 'भैया' 'भैया' कहकर दौड़ते, दिन-भर उसकी राह देखा करते। पहले माता डरती थी कि कहीं मेरे लड़कों को बहकाकर ये महाशय पुरानी अदावत तो नहीं निकालना चाहते। वह लड़कों को जागेश्वर के पास जाने और उससे कुछ लेकर खाने को रोकती, पर लड़के शत्रु और मित्र को बूढ़ों से ज्यादा पहचानते हैं। लड़के माँ के मना करने की परवाह नहीं करते, यहाँ तक कि शनैः-शनैः माता को भी जागेश्वर की सहृदयता पर विश्वास आ गया।

एक दिन रामेश्वर राय ने बेटे से कहा—तुम्हारे पास रुपये बढ़ गये हैं तो चार पैसे जमा क्यों नहीं करते ? लुटाते क्यों हो ?

जागे०—मैं तो एक-एक कौड़ी की किफायत करता हूँ।

रामे०—जिन्हें अपना समझ रहे हो वे एक दिन तुम्हारे शत्रु होंगे।

जागे०—आदमी का धर्म भी कोई चीज है। पुराने बैर पर एक परिवार को भेंट नहीं कर सकता। मेरा बिगड़ता ही क्या है, यही न, रोज एक घंटे और मेहनत करनी पड़ती है।

रामेश्वर ने मुँह फेर लिया। जागेश्वर घर में गया तो उसकी स्त्री ने कहा —अपने मन की ही करते हो चाहे कोई कितना ही समझाये ! पहले घर में आदमी दिया जलाता है।

जागे०—लेकिन यह तो उचित नहीं कि अपने घर में दिया की जगह मोम-बत्तियाँ जलाये और मसजिद को अन्धेरा ही छोड़ दे।

स्त्री—मैं तुम्हारे साथ क्या पड़ी, मानो कुएँ में गिर पड़ी। कान सुख देते

हो ? गहने उतार लिये, अब साँस भी नहीं लेते।

जागे०—मुझे तुम्हारे गहनों से भाइयों की जान ज्यादा प्यारी है।

स्त्री ने मुँह फेर लिया और बोली—बैरी की सन्तान कभी अपनी नहीं होती है।

जागेश्वर ने बाहर जाते हुए उत्तर दिया—बैर का अन्त बैरी के जीवन के साथ ही जाता है।

---

# नाग-पूजा

प्रातःकाल था। आषाढ़ का पहला दौंगड़ा निकल गया था। कीट-पतंग चारों तरफ रेंगते दिखायी देते थे। तिलोत्तमा ने वाटिका की ओर देखा तो वृक्ष और पौधे ऐसे निखर गये थे जैसे साबुन से मैले कपड़े निखर जाते हैं। उन पर एक विचित्र आध्यात्मिक शोभा छायी हुई थी, मानो योगीवर आनन्द में मग्न पड़े हों। चिड़ियों में असाधारण चंचलता थी। डाल-डाल, पात-पात चहकती फिरती थीं। तिलोत्तमा बाग में निकल आयी। वह भी इन्हीं पक्षियों की भाँति चञ्चल हो गयी थी। कभी किसी पौधे को देखती, कभी किसी फूल पर पड़ी हुई जल की बूँदों को हिलाकर अपने मुँह पर उनके शीतल छींटे डालती। लाल बीरबहूटियाँ रेंग रही थीं। वह उन्हें चुनकर हथेली पर रखने लगी। सहसा उसे एक काला वृहत्काय साँप रेंगता दिखायी दिया। उसने चिल्लाकर कहा—अम्मा, अम्मा, नागजी जा रहे हैं। लाओ थोड़ा-सा दूध उनके लिए कटोरे में रख दूँ।

अम्मा ने कहा—जाने दो बेटी, हवा खाने निकले होंगे।

तिलोत्तमा—गर्मियों में कहाँ चले जाते हैं ? दिखायी नहीं देते।

माँ—कहीं जाते नहीं बेटी, अपनी बाँबी में पड़े रहते हैं।

तिलोत्तमा—और कहीं नहीं जाते ?

माँ—बेटी, हमारे देवता हैं। और कहीं क्यों जायँगे ? तुम्हारे जन्म के

साल से ये बराबर यहीं दिखायी देते हैं। किसी से नहीं बोलते। बच्चा पास से निकल जाय, पर जरा भी नहीं ताकते। आज तक कोई चुहिया भी नहीं पकड़ी।

तिलोत्तमा—तो खाते क्या होंगे ?

माँ—बेटी, यह लोग हवा पर रहते हैं। इसी से इनकी आत्मा दिव्य हो जाती है। अपने पूर्वजन्म की बातें इन्हें याद रहती हैं। आनेवाली बातों को भी जानते हैं। कोई बड़ा योगी जब अहंकार करने लगता है तो उसे दण्डस्वरूप इस योनि में जन्म लेना पड़ता है। जब तक प्रायश्चित पूरा नहीं होता, तब तक वह इस योनि में रहता है। कोई-कोई तो सौ-सौ दो दो सौ वर्ष तक जीते रहते हैं।

तिलोत्तमा—इनकी पूजा न करो तो क्या करें ?

माँ— बेटी, कैसी बच्चों की-सी बातें करती हो। नाराज हो जायँ तो सिर पर न जाने क्या विपत्ति आ पड़े। तेरे जन्म के साल पहले-पहल दिखायी दिये थे। तब से साल में दस-पाँच बार अवश्य दर्शन दे जाते हैं। इनका ऐसा प्रभाव है कि आज तक किसी के सिर में दर्द तक नहीं हुआ।

( २ )

कई वर्ष हो गये। तिलोत्तमा बालिका से युवती हुई, विवाह का शुभ अवसर आ पहुँचा। बारात आयी, विवाह हुआ, तिलोत्तमा के पति-गृह जाने का मुहूर्त्त आ पहुँचा।

नयी वधू का शृंगार हो रहा था। भीतर-बाहर हलचल मची हुई थी। ऐसा जान पड़ता था कि भगदड़ पड़ी हुई है। तिलोत्तमा के हृदय में वियोग-दुःख की तरंगें उठ रही हैं। वह एकान्त में बैठकर रोना चाहती है। आज माता-पिता, भाई-बन्द, सखियाँ-सहेलियाँ सब छूट जायँगी। फिर मालूम नहीं, कब मिलने का संयोग हो। न-जाने अब कैसे आदमियों से पाला पड़ेगा। न-जाने उनका स्वभाव कैसा होगा। न-जाने कैसी बार्ता करेंगे। अम्माँ की आँखें एक क्षण भी न थमेंगी। मैं एक दिन के लिए कहीं चली जाती थी तो वे रो-रोकर व्यथित हो जाती थीं। अब यह जीवन-पर्यन्त का वियोग कैसे सहेंगी ? उनके सिर में दर्द होता था तो जब तक मैं धीरे-धीरे न मलूँ, उन्हें किसी तरह कल-चैन ही न पड़ती थी। बाबूजी को पान बनाकर कौन देगा ? मैं जब तक उनका

भोजन न बनाऊँ उन्हें कोई चीज रुचती ही न थी। अब उनका भोजन कौन बनायेगा ? मुझसे इनको देखे बिना कैसे रहा जायगा ? जहाँ जरा सिर में दर्द भी होता था तो अम्मा और बाबूजी घबरा जाते थे। तुरन्त वैद-हकीम आ जाते थे। वहाँ न-जाने क्या हाल होगा ? भगवन्, बन्द घर में कैसे रहा जायगा ! न-जाने वहाँ खुली छत है या नहीं। होगी भी तो मुझे कौन सोने देगा ? भीतर घुट-घुटकर मरूँगी। जागने में जरा देर हो जायगी तो ताने मिलेंगे। यहाँ सुबह को कोई जगाता था तो अम्मा कहती थीं सोने दो, कच्ची नींद जग जायगी तो सिर में पीड़ा होने लगेगी। वहाँ व्यंग सुनने पड़ेंगे—बहू आलसी है। दिन-भर खाट पर पड़ी रहती है। वे (पति) तो बहुत सुशील मालूम होते हैं। हाँ कुछ अभिमानी अवश्य हैं। कहीं उनका स्वभाव निठुर हुआ तो....

सहसा उसकी माता ने आकर कहा—बेटी, तुमसे एक बात कहने की याद न रही। वहाँ नाग-पूजा अवश्य करती रहना। घर के और लोग चाहे मना करें, पर तुम इसे अपना कर्त्तव्य समझना। अभी मेरी आँखें जरा-जरा झपक गयी थीं। नाग बाबा ने स्वप्न में दर्शन दिये।

तिलोत्तमा—अम्मा, मुझे भी उनके दर्शन हुए हैं, पर मुझे तो उन्होंने बड़ा विकराल रूप दिखाया। बड़ा भयङ्कर स्वप्न था।

माँ—देखना, तुम्हारे घर में कोई साँप न मारने पाये। यह मन्त्र नित्य अपने पास रखना।

तिलोत्तमा अभी कुछ जवाब न देने पायी थी कि अचानक बरात की ओर से रोने के शब्द सुनाई दिये, एक क्षण में हाहाकार मच गया। भयङ्कर शोक-घटना हो गयी। वर को साँप ने काट लिया। वह बहू को विदा कराने आ रहा था। पालकी में मसनद के नीचे एक काला साँप छिपा हुआ था। वर ज्योंही पालकी में बैठा, साँप ने काट लिया।

चारों ओर कुहराम मच गया। तिलोत्तमा पर तो मानो वज्रपात हो गया। उसकी माँ सिर पीट-पीट रोने लगी। उसके पिता बाबू जगदीशचन्द्र मूर्च्छित होकर गिर पड़े। हृद्रोग से पहले ही से ग्रस्त थे। झाड़-फूँक करनेवाले आये, डाक्टर बुलाये गये, पर विष घातक था। जरा देर में वर के होंठ नीले पड़ गये, मूर्च्छा आने लगी। देखते-देखते शरीर ठण्डा पड़ गया। इधर ऊषा की लालिमा

ने प्रकृति को आलोकित किया, उधर टिमटिमाता हुआ दीपक बुझ गया।

जैसे कोई मनुष्य चोरों से लदी हुई नाव पर बैठा हुआ मन में झुँझलाता है कि यह और तेज क्यों नहीं चलती, कहीं आराम से बैठने की जगह नहीं, यह इतनी हिल क्यों रही है, मैं व्यर्थ ही इसमें बैठा, पर अकस्मात नाव को भँवर में पड़ते देखकर उसके मस्तूल से चिपट जाता है, वही दशा तिलोत्तमा की हुई। अभी तक वह वियोग-दुःख में ही मग्न थी, ससुराल के कष्टों और दुर्व्यवस्थाओं की चिन्ताओं में पड़ी हुई थी। पर, अब उसे होश आया कि इस नाव के साथ मैं भी डूब रही हूँ। एक क्षण पहले वह कदाचित् जिस पुरुष पर झुँझला रही थी, जिसे लुटेरा और डाकू समझ रही थी, वह अब कितना प्यारा था! उसके बिना अब जीवन एक दीपक था; बुझा हुआ। एक वृक्ष था; फल-फूल-विहीन। अभी एक क्षण पहले वह दूसरों की ईर्ष्या का कारण थी, अब दया और करुणा का।

थोड़े ही दिनों में उसे ज्ञात हो गया कि मैं पति-विहीन होकर सब सुखों से वंचित हो गयी!

( ३ )

एक वर्ष बीत गया। जगदीशचन्द्र पक्के धर्मावलम्बी आदमी थे, पर तिलोत्तमा का वैधव्य उनसे न सहा गया। उन्होंने तिलोत्तमा के पुनर्विवाह का निश्चय कर लिया। हँसनेवालों ने तालियाँ बजायीं; पर जगदीश बाबू ने हृदय से काम लिया। तिलोत्तमा पर सारा घर जान देता था। उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई बात न होने पातीं, यहाँ तक कि वह घर की मालकिन बना दी गयी थी। सभी ध्यान रखते कि उसका रंज ताजा न होने पाये। लेकिन उसके चेहरे पर उदासी छायी रहती थी जिसे देखकर लोगों को दुःख होता था। पहले तो माँ भी इस सामाजिक अत्याचार पर सहमत न हुई; लेकिन बिरादरी-वालों का विरोध ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, उसका विरोध ढीला पड़ गया। सिद्धान्त रूप से तो प्रायः किसी को आपत्ति न थी, किन्तु उसे व्यवहार में लाने का साहस किसी में न था। कई महीनों के लगातार प्रयास के बाद एक कुलीन सिद्धान्तवादी, सुशिक्षित वर मिला, उसके घरवाले भी राजी हो गये, तिलोत्तमा को समाज में अपना नाम बिकते देखकर दुःख होता था। वह मन में

कुढ़ती थी कि पिताजी नाहक मेरे लिए समाज में नक्कू बन रहे हैं। अगर मेरे भाग्य में सुहाग लिखा होता तो यह वज्र ही क्यों गिरता? उसे कभी-कभी ऐसी शङ्का होती थी कि मैं फिर विधवा हो जाऊँगी। जब विवाह निश्चित हो गया और वर की तस्वीर उसके सामने आयी तो उसकी आँखों में आँसू भर आये। चेहरे से कितनी सज्जनता, कितनी दृढ़ता, कितनी विचारशीलता टपकती थी। वह चित्र को लिये हुए माता के पास गयी और शर्म से सिर झुकाकर बोली—अम्मा, मुझे मुँह तो न खोलना चाहिए पर अवस्था ऐसी आ पड़ी है कि बिना मुँह खोले रहा नहीं जाता। आप बाबूजी को मना कर दें। मैं जिस दशा में हूँ सन्तुष्ट हूँ। मुझे ऐसा भय हो रहा है कि अबकी फिर वही शोक-घटना....

माँ ने सहमी हुई आँखों से देखकर कहा—बेटी, कैसे अशगुन की बात मुँह से निकाल रही हो। तुम्हारे मन में भय समा गया है, इसी से यह भ्रम होता है। जो होनी थी वह हो चुकी। अब क्या ईश्वर तुम्हारे पीछे पड़े ही रहेंगे?

तिलोत्तमा—हाँ, मुझे तो ऐसा ही मालूम होता है।

माँ—क्यों, तुम्हें ऐसी शङ्का क्यों होती है?

तिलोत्तमा—क्या जाने क्यों? कोई मेरे मन में बैठा हुआ कह रहा है कि फिर अनिष्ट होगा। मैं प्रायः नित्य डरावने स्वप्न देखा करती हूँ। रात को मुझे ऐसा जान पड़ता है कि कोई प्राणी जिसकी सूरत साँप से बहुत मिलती-जुलती है, मेरी चारपाई के चारों ओर घूमता है। मैं भय के मारे चुप्पी साध लेती हूँ। किसी से कुछ कहती नहीं।

माँ ने समझा यह सब भ्रम है। विवाह की तिथि नियत हो गयी। यह केवल तिलोत्तमा का पुनर्संस्कार न था बल्कि समाज-सुधार का एक क्रियात्मक उदाहरण था। समाज-सुधारकों के दल दूर से विवाह में सम्मिलित होने के लिए आने लगे, विवाह वैदिक रीति से हुआ। मेहमानों ने खूब व्याख्यान दिये। पत्रों ने खूब आलोचनाएँ कीं। बाबू जगदीशचन्द्र के नैतिक साहस की सराहना होने लगी। तीसरे दिन वधू के बिदा होने का मुहूर्त्त था।

जनवासे में यथासाध्य रक्षा के सभी साधनों से काम लिया गया था।

बजली की रोशनी से सारा जनवासा दिन-सा हो गया था। भूमि पर रेंगती हुई ज्रींटी भी दिखायी देती थी। अकाशी में न कहीं शिकन थी न सिलवट और झोल। शामियाने के चारों तरफ कनातें खड़ी कर दी गयी थीं। किसी तरफ े कीड़ों-मकोड़ों के आने की सम्भावना न थी। पर भावी प्रबल होती है। प्रातः-काल के चार बजे थे। तारागणों की बरात बिदा हो रही थी। बहू की बिदाई की तैयारियाँ हो रही थीं। एक तरफ शहनाइयाँ बज रही थीं, दूसरी तरफ से विलाप की आर्त्तध्वनि उठ रही थी। पर तिलोत्तमा की आँखों में आँसू न थे। समय नाजुक था। वह किसी तरह घर से बाहर निकल जाना चाहती थी। उसके सिर पर तलवार लटक रही थी। रोने और सहेलियों से गले मिलने में कोई आनन्द न था। जिस प्राणी का फोड़ा चिलक रहा हो उसे जर्राह का घर बाग में सैर करने से ज्यादा अच्छा लगे तो क्या आश्चर्य है।

वर को लोगों ने जगाया। बाजा बजने लगा। वह पालकी में बैठने को चला कि वधू को बिदा करा लाये। पर जूते में पैर डाला ही था कि चीख मारकर पैर खींच लिया। मालूम हुआ पाँव चिनगारियों पर पड़ गया। देखा तो एक काला साँप जूते में से निकलकर रेंगता चला जाता था। देखते-देखते गायब हो गया। वर ने एक सर्द आह भरी और बैठ गया। आँखों में अँधेरा छा गया।

एक क्षण में सारे जनवासे में खबर फैल गयी। लोग दौड़ पड़े. औषधियाँ पहले से ही रख ली गयी थीं। साँप का मन्त्र जाननेवाले कई आदमी बुला लिये गये थे। सभी ने दवाइयाँ दीं। झाड़-फूँक शुरू हुई। औषधियाँ भी दी गयी थीं। पर काल के सामने किसी का वश न चला। शायद मौत साँप का भेष धरकर आयी थी। तिलोत्तमा ने सुना तो सिर पीट लिया। वह विकल होकर जनवासे की तरफ दौड़ी। चादर ओढ़ने की भी सुधि न रही। वह अपने पति के चरणों को माथे से लगाकर अपना जन्म सफल करना चाहती थी। घर की स्त्रियों ने रोका। माता भी रो-रोकर समझाने लगी। लेकिन बाबू जगदीशचन्द्र ने कहा—कोई हरज नहीं, जाने दो, पति का दर्शन तो कर ले। यह अभिलाषा क्यों रह जाय। उस शोकान्वित दशा में तिलोत्तमा जनवासे में पहुँची. पर वहाँ उसकी तस्कीन के लिए केवल मरनेवाले की उल्टी साँसें थीं। उन अधखुले नेत्रों

में असह्य आत्मवेदना थी और दारुण नैराश्य।

( ४ )

इस अद्भुत घटना का समाचार दूर-दूर तक फैल गया। जड़वादी-गण चकित थे, यह क्या माजरा है! आत्मवाद के भक्त ज्ञातभाव से सिर हिलाते थे मानो वे त्रिकालदर्शी हैं। जगदीशचन्द्र ने नसीब ठोंक लिया। नाग की पूजा साल में दो बार होने लगी। तिलोत्तमा के चरित्र में भी एक विशेष अन्तर दीखने लगा। भोग और विहार के दिन भक्ति और देवाराधना में कटने लगे निराश प्राणियों का यही अवलम्ब है।

तीन साल बीते थे कि ढाका विश्वविद्यालय के अध्यापक दयाराम ने इस किस्से को फिर ताजा किया। वे पशु-शास्त्र के ज्ञाता थे। उन्होंने साँपों के आचार व्यवहार का विशेष रीति से अध्ययन किया था, वे इस रहस्य को खोलना चाहते थे। जगदीशचन्द्र को विवाह का सन्देश भेजा। उन्होंने टाल-मटोल किया दयाराम ने और भी आग्रह किया। लिखा, 'मैंने वैज्ञानिक अन्वेषण के लिए य निश्चय किया है। मैं इस विषधर नाग से लड़ना चाहता हूँ। वह अगर स दाँत लेकर आये तो भी मुझे कोई हानि नहीं पहुँचा सकता। वह मुझे काटक आप ही मर जायगा। अगर वह मुझे काट भी ले तो मेरे पास ऐसे यन्त्र औ औषधियाँ हैं कि मैं एक क्षण में उसके विष को उतार सकता हूँ। आप इ विषय में कुछ चिन्ता न कीजिए। मैं विष के लिए अजेय हूँ।' जगदीशचन् को अब कोई उज्र न सूझा। हाँ, उन्होंने एक विशेष प्रयत्न यह किया कि ढा में ही विवाह हो। अतएव वे अपने कुटुम्बियों को साथ लेकर विवाह के एक सप्ता पहले ढाका पहुँच गये। चलते समय अपने सन्दूक-बिस्तर आदि खूब देख-भा कर रखे कि साँप कहीं उनमें छिपकर न बैठ जाय। शुभ लग्न में विवाह-संस्का हो गया। तिलोत्तमा विकल हो रही थी। मुख पर एक रंग आता था, एक रं जाता था, पर संस्कार में कोई विघ्न-बाधा न पड़ी। तिलोत्तमा रो-धोकर ससुरा गयी। जगदीशचन्द्र घर लौट आये पर ऐसे चिन्तित थे जैसे कोई आदमी सरा में खुला हुआ सन्दूक छोड़कर बाजार चला जाय।

तिलोत्तमा के स्वभाव में अब एक विचित्र रूपान्तर हुआ। वह औरों से हँसत बोलती, आराम से खाती-पीती। सैर करने जाती, थियेटरों और अन्य सामाजि

म्मेलनों में शरीक होती। इन अवसरों पर प्रोफेसर दयाराम से भी बड़े प्रेम ा व्यवहार करती, उनके आराम का बहुत ध्यान रखती। कोई काम उनकी च्छा के विरुद्ध न करती। कोई अजनबी आदमी उसे देखकर कह सकता था, हिणी हो तो ऐसी हो। दूसरों की दृष्टि में इन दम्पत्ति का जीवन आदर्श था, किन्तु आन्तरिक दशा कुछ और ही थी। उनके साथ शयनागार में जाते ही उसका मुख विकृत हो जाता, भौंहें तन जातीं, माथे पर बल पड़ जाते, शरीर अग्नि की भाँति जलने लगता, पलकें खुली रह जातीं, नेत्रों से ज्वाला-सी निकलने लगती और उसमें से झुलसती हुई लपटें निकलतीं, मुख पर कालिमा छा जाती और यद्यपि स्वरूप में कोई विशेष अन्तर न दिखाई देता, पर न-जाने क्यों भ्रम होने लगता, यह कोई नागिन है। कभी-कभी वह फुँकारने भी लगती। इस स्थिति में दयाराम को उसके समीप जाने या उससे कुछ बोलने की हिम्मत न पड़ती। वे उसके रूप-लावण्य पर मुग्ध थे, किन्तु इस अवस्था में उन्हें उससे घृणा होती। उसे इसी उन्माद के आवेश में छोड़कर बाहर निकल आते। डाक्टरों से सलाह ली, स्वयं इस विषय की कितनी ही किताबों का अध्ययन किया; पर रहस्य कुछ समझ में न आया, उन्हें भौतिक विज्ञान में अपनी अल्पज्ञता स्वीकार करनी पड़ी।

उन्हें अब अपना जीवन असह्य जान पड़ता। अपने दुस्साहस पर पछताते, नाहक इस विपत्ति में अपनी जान फँसायी। उन्हें शंका होने लगी कि अवश्य कोई प्रेत-लीला है। मिथ्यावादी न थे, पर जहाँ बुद्धि और तर्क का कुछ वश नहीं चलता, वहाँ मनुष्य विवश होकर मिथ्यावादी हो जाता है।

शनैः-शनैः उनकी यह हालत हो गयी कि सदैव तिलोत्तमा से सशङ्क रहते। उसका उन्माद, विकृत मुखाकृति उनके ध्यान से न उतरते। डर लगता कि कहीं यह मुझे मार न डाले। न जाने कब उन्माद का आवेग हो। यह चिन्ता हृदय को व्यथित किया करती। हिप्नाटिज़्म, विद्युत्शक्ति और कई नये आरोग्य-विधानों की परीक्षा की गयी। उन्हें हिप्नाटिज़्म पर बहुत भरोसा था; लेकिन जब यह योग भी निष्फल हो गया तो वे निराश हो गये।

( ५ )

एक दिन प्रोफेसर दयाराम किसी वैज्ञानिक सम्मेलन में गये हुए थे। लौटे

तो बारह बज गये थे। वर्षा के दिन थे। नौकर-चाकर सो रहे थे। वे तिलोत्तमा के शयनगृह में यह पूछने गये कि मेरा भोजन कहाँ रखा है। अन्दर कदम रखा ही था कि तिलोत्तमा के सिरहाने की ओर उन्हें एक अति भीमकाय काला साँप बैठा हुआ दिखाई दिया। प्रा० साहब चुपके से लौट आये। अपने कमरे में जाकर किसी औषधि की एक खूराक पी और पिस्तौल तथा साँगा लेकर फिर तिलोत्तमा के कमरे में पहुँचे। विश्वास हो गया कि यह वही मेरा पुराना शत्रु है। इतने दिनों में टोह लगाता हुआ यहाँ आ पहुँचा है। पर इसे तिलोत्तमा से क्यों इतना स्नेह है? उसके सिरहाने यों बैठा हुआ है मानो रस्सी का टुकड़ा है। यह क्या रहस्य है? उन्होंने साँपों के विषय में बड़ी अद्‌भुत कथाएँ पढ़ी और सुनी थीं, पर ऐसी कुतूहलजनक घटना का उल्लेख कहीं न देखा था। वे इस भाँति सशस्त्र होकर फिर कमरे में पहुँचे तो साँप का पता न था। हाँ तिलोत्तमा के सिर पर भूत सवार हो गया था। वह बैठी हुई आग्नेय नेत्रों से द्वार की ओर ताक रही थी। उनके नयनों से ज्वाला निकल रही थी, जिसकी आँच दो गज तक लगती थी। इस समय उन्माद अतिशय प्रचण्ड था। दयाराम को देखते ही बिजली की तरह उन पर टूट पड़ी और हाथों से आघात करने के बदले उन्हें दाँतों से काटने की चेष्टा करने लगी। इसके साथ ही अपने दोनो हाथ उनकी गरदन में डाल दिये। दयाराम ने बहुतेरा चाहा एड़ी-चोटी तक का जोर लगाया कि अपना गला छुड़ा लें, लेकिन तिलोत्तमा का बाहुपाश प्रतिक्षण साँप की गेंडुली की भाँति कठोर एवं संकुचित होता जाता था। उधर यह भय था कि इसने मुझे काटा तो कदाचित् इसे जान से हाथ धोना पड़े। उन्होंने अभी जो औषधि पी थी वह सर्पविष से अधिक घातक थी। इस दशा में उन्हें यह शोकमय विचार उत्पन्न हुआ। यह भी कोई जीवन है कि दम्पत्ति का उत्तरदायित्व तो सब सिर पर सवार, पर उसका सुख नाम को नहीं, उलटे रात-दिन जान का खटका। यह क्या माया है? वह साँप कोई प्रेत तो नहीं है जो इसके सिर आकर यह दशा कर दिया करता है। कहते हैं ऐसी अवस्था में रोगी पर जो चोट की जाती है वह प्रेत पर ही पड़ती है। नीच जातियों में इसके उदाहरण भी देखे हैं। वे इसी हैस-बैस में पड़े हुए थे कि उनका दम घुटने लगा। तिलोत्तमा के हाथ रस्सी के फन्दों की भाँति उनकी

गरदन को कस रहे थे। वे दीन असहाय भाव से इधर-उधर ताकने लगे। क्योंकर जान बचे? कोई उपाय न सूझ पड़ता था। साँस लेना दुस्तर हो गया। देह शिथिल पड़ गयी, पैर थरथराने लगे। सहसा तिलोत्तमा ने उनकी बाँहों की ओर मुँह बढ़ाया। दयाराम काँप उठे। मृत्यु आँखों के सामने नाचने लगी। मन में कहा, यह इस समय मेरी स्त्री नहीं; विषैली, भयङ्कर नागिन है। इसके विष से जान बचना मुश्किल है। अपनी औषधि पर जो भरोसा था वह जाता रहा। चूहा उन्मत्त दशा में काट लेता है तो जान के लाले पड़ जाते हैं। भगवान्! कितना विकराल स्वरूप है! प्रत्यक्ष नागिन मालूम हो रही है। अब उल्टी पड़े या सीधी इस दशा का अन्त करना ही पड़ेगा। उन्हें ऐसा जान पड़ा कि अब गिरा ही चाहता हूँ। तिलोत्तमा बार-बार साँपों की भाँति फुँकार मारकर, जीभ निकाले हुए उनकी ओर झपटती थी। एकाएक वह बड़े कर्कश स्वर से बोली—'मूर्ख! तेरा इतना साहस कि तू इस सुन्दरी से प्रेमालिङ्गन करे।' यह कहकर वह बड़े वेग से काटने को दौड़ी। दयाराम का धैर्य जाता रहा। उन्होंने दाहिना हाथ सीधा किया और तिलोत्तमा की छाती पर पिस्तौल चला दिया। तिलोत्तमा पर कुछ असर न हुआ। उसकी बाँहें और भी कड़ी हो गयीं, आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगीं। दयाराम ने दूसरी गोली दाग दी। यह चोट पूरी पड़ी। तिलोत्तमा का बाहु-बन्धन ढीला पड़ गया। एक क्षण में उसके हाथ नीचे को लटक गये, सिर झुक गया और वह भूमि पर गिर पड़ी।

तब वह दृश्य देखने में आया जिसका उदाहरण कदाचित् अलिफलैला और चन्द्रकान्ता में भी न मिले। वहीं पलँग के पास, जमीन पर एक काला, दीर्घकाय सर्प पड़ा तड़प रहा था। उसकी छाती और मुँह से खून की धारा बह रही थी।

दयाराम को अपनी आँखों पर विश्वास न आता था। यह कैसी अद्भुत प्रेत-लीला थी। समस्या क्या है? किससे पूछूँ? इस तिलिस्म को तोड़ने का प्रयत्न करना मेरे जीवन का एक कर्त्तव्य हो गया। उन्होंने साँगे से साँप की देह में एक कोंचा मारा और फिर वे उसे लटकाये हुए आँगन में लाये। बिलकुल बेदम हो गया था। उन्होंने उसे अपने कमरे में ले जाकर एक खाली सन्दूक

में बन्द कर दिया। उसमें भूसा भरवाकर बरामदे में लटकाना चाहते थे। इतना बड़ा गेहुँअन साँप किसी ने न देखा होगा।

तब वे तिलोत्तमा के पास गये। डर के मारे कमरे में कदम रखने की हिम्मत न पड़ती थी। हाँ, इस विचार से कुछ तस्कीन होती थी कि सर्परूपी प्रेत मर गया है तो उसकी जान बच गयी होगी। इस आशा और भय की दशा में वे अन्दर गये तो तिलोत्तमा आईने के सामने खड़ी केश सँवार रही थी।

दयाराम को मानो चारों पदार्थ मिल गये। तिलोत्तमा का मुख-कमल खिला हुआ था। उन्होंने कभी उसे इतना प्रफुल्लित न देखा था। उन्हें देखते ही वह उनकी ओर प्रेम से चली और बोली—आज इतनी रात तक कहाँ रहे?

दयाराम प्रेमोन्मत्त होकर बोले—एक जलसे में चला गया था। तुम्हारी तबीयत कैसी है? कहीं दर्द तो नहीं है?

तिलोत्तमा ने उनको आश्चर्य से देखकर पूछा—तुम्हें कैसे मालूम हुआ? मेरी छाती में ऐसा दर्द हो रहा है, जैसे चिलक पड़ गयी हो।

---

# स्वत्व-रक्षा

मीर दिलावर अली के पास एक बड़ी रास का कुम्मैत घोड़ा था। कहते तो वह यही थे कि मैंने अपनी जिन्दगी की आधी कमाई इस पर खर्च की है, पर वास्तव में उन्होंने इसे पलटन में सस्ते दामों मोल लिया था। यों कहिए कि यह पलटन का निकाला हुआ घोड़ा था। शायद पलटन के अधिकारियों ने इसे अपने यहाँ रखना उचित न समझकर नीलाम कर दिया था। मीर साहब कचहरी में मुहर्रिर थे। शहर के बाहर मकान था। कचहरी तक आने में तीन मील की मञ्जिल तय करनी पड़ती थी, एक जानवर की फिक्र थी। यह घोड़ा सुभीते से मिल गया, ले लिया। पिछले तीन वर्षों से वह मीर साहब की ही सवारी में था। देखने में तो उसमें कोई ऐब न था, पर कदाचित् आत्मसम्मान की मात्रा अधिक थी। उसे उसकी इच्छा के विरुद्ध या अपमान-सूचक काम में लगाना

दुस्तर था। खैर, मीर साहब ने सस्ते दामों में कलाँ रास का घोड़ा पाया, तो फूले न समाये। लाकर द्वार पर बाँध दिया। साईस का इन्तजाम करना कठिन था। बेचारे खुद ही शाम-सबेरे उस पर दो-चार हाथ फेर लेते थे। शायद घोड़ा इस सम्मान से प्रसन्न होता था और इसी कारण रातिब की मात्रा बहुत कम होने पर भी वह असंतुष्ट नहीं जान पड़ता था। उसे मीर साहब से कुछ सहानुभूति हो गयी थी। इस स्वामि-भक्ति में उसका शरीर बहुत क्षीण हो चुका था; पर वह मीर साहब को नियत समय पर प्रसन्नतापूर्वक कचहरी पहुँचा दिया करता था। उसकी चाल उसके आत्मिक सन्तोष की द्योतक थी। दौड़ना वह अपनी स्वाभाविक गम्भीरता के प्रतिकूल समझता था। वह उसकी दृष्टि में उच्छृङ्खलता थी। स्वामि-भक्ति में उसने अपने कितने ही चिर-सञ्चित स्वत्वों का बलिदान कर दिया था। अब अगर किसी स्वत्व से प्रेम था, तो वह रविवार का शान्ति-निवास था। मीर साहब इतवार को कचहरी न जाते थे। घोड़े को मलते, नहलाते, तैराते थे। इसमें उसे हार्दिक आनन्द प्राप्त होता था। कहाँ कचहरी में पेड़ के नीचे बँधे हुए सूखी घास पर मुँह मारना पड़ता था, लूह से सारा शरीर झुलस जाता था; कहाँ इस दिन छप्परों की शीतल छाँह में हरी-हरी दूब खाने को मिलती थी। अतएव इतवार को आराम करना वह अपना हक समझता था और मुमकिन न था कि कोई उसका यह हक छीन सके। मीर साहब ने कभी-कभी बाजार जाने के लिए इस दिन उस पर सवार होने की चेष्टा की, पर इस उद्योग में बुरी तरह मुँह की खायी। घोड़े ने मुँह में लगाम तक न ली। अन्त को मीर साहब ने अपनी हार स्वीकार कर ली। वह उसके आत्म-सम्मान को आघात पहुँचाकर अपने अवयवों को परीक्षा में न डालना चाहते थे।

( २ )

मीर साहब के पड़ोस में एक मुन्शी सौदागर लाल रहते थे। उनका भी कचहरी से ही कुछ सम्बन्ध था। वह मुहर्रिर न थे, कर्मचारी भी न थे। उन्हें किसी ने कभी कुछ लिखते-पढ़ते न देखा था। पर उनका वकीलों और मुख्तारों के समाज में बड़ा मान था। मीर साहब से उनकी दाँत-काटी रोटी थी।

जेठ का महीना था। बारातों की धूम थी। बाजेवाले सीधे मुँह बात न

करते थे। आतशबाज के द्वार पर गरज के बावले लोग चर्खी की भाँति चक्कर लगाते थे। भाँड़ और कथक लोगों को उँगलियों पर नचाते थे। पालकी के कहार पत्थर के देवता बने हुए थे; भेंट लेकर भी न पसीजते थे। इसी सहालगों की धूम में मुन्शीजी ने भी लड़के का विवाह ठान दिया। दबाववाले आदमी थे। धीरे-धीरे बारात का और सब सामान तो जुटा लिया, पर पालकी का प्रबन्ध न कर सके। कहारों ने ऐन वक्त पर बयाना लौटा दिया। मुन्शीजी बहुत गरम पड़े, हरजाने की धमकी दी, पर कुछ फल न हुआ। विवश होकर यही निश्चय किया कि वर को घोड़े पर बिठाकर वरयात्रा की रस्में पूरी कर ली जायँ। छः बजे शाम को बारात चलने का मुहूर्त्त था। चार बजे मुन्शीजी ने आकर मीर साहब से कहा—यार अपना घोड़ा दे दो, वर को स्टेशन तक पहुँचा दें। पालकी तो कहीं मिलती ही नहीं।

मीर साहब—आपको मालूम नहीं, आज इतवार का दिन है।

मुन्शीजी—मालूम क्यों नहीं है, पर आखिर घोड़ा ही तो ठहरा। किसी-न-किसी तरह स्टेशन तक पहुँचा ही देगा। कौन दूर जाना है?

मीर साहब—यों आप का जानवर है ले जाइए! पर मुझे उम्मीद नहीं कि आज वह पुट्ठे पर हाथ तक रखने दे।

मुन्शीजी—अजी मार के आगे भूत भागता है। आप डरते हैं। इसी लिए आपसे बदमाशी करता है। बच्चा पीठ पर बैठ जायँगे तो कितना ही उछले-कूदे पर उन्हें हिला न सकेगा।

मीर साहब—अच्छी बात है, ले जाइए। और अगर उसकी यह जिद्द आप लोगों ने तोड़ दी, तो मैं आपका बड़ा एहसान मानूँगा।

( ३ )

मगर ज्योंही मुन्शीजी अस्तबल में पहुँचे, घोड़े ने सशङ्क नेत्रों से देखा और एक बार हिनहिनाकर घोषित किया कि तुम आज मेरी शान्ति में विघ्न डालनेवाले कौन होते हो। बाजे की धड़-धड़, पों-पों से वह पहले ही उत्तेजित हो रहा था। मुन्शीजी ने जब उसके पगहे को खोलना शुरू किया तो उसने कनौतियाँ खड़ी कीं और अभिमान-सूचक भाव से फिर हरी-हरी घास खाने लगा।

लेकिन मुन्शीजी भी चतुर खिलाड़ी थे। तुरन्त घर से थोड़ा-सा दाना मँग-

वाया और घोड़े के सामने रख दिया। घोड़े ने इधर बहुत दिनों से दाने की सूरत न देखी थी। बड़ी रुचि से खाने लगा और तब कृतज्ञ नेत्रों से मुन्शीजी की ओर ताका, मानो अनुमति दी कि मुझे आपके साथ चलने में कोई आपत्ति नहीं है।

मुन्शीजी के द्वार पर बाजे बज रहे थे। वर वस्त्राभूषण पहने हुए घोड़े की प्रतीक्षा कर रहा था। मुहल्ले की स्त्रियाँ उसे विदा करने के लिए आरती लिये खड़ी थीं। पाँच बज गये थे। सहसा मुन्शीजी घोड़ा लाते हुए दिखायी दिये। बाजेवालों ने आगे की तरफ़ कदम बढ़ाया। एक आदमी मीर साहब के घर से दौड़कर साज लाया।

घोड़े को खींचने की ठहरी, मगर वह लगाम को देखकर मुँह फेर-फेर लेता था। मुन्शीजी ने चुमकारा, पुचकारा, पीठ सुहलायी, फिर दाना दिखाया। पर घोड़े ने मुँह तक न खोला, तब उन्हें क्रोध आ गया। ताबड़तोड़ कई चाबुक लगाये। घोड़े ने जब अब भी मुँह में लगाम न ली, तो उन्होंने उसके नथनों पर चाबुक के बेंट से कई बार मारा। नथनों से खून निकलने लगा। घोड़े ने इधर-उधर दीन और विवश आँखों से देखा। समस्या कठिन थी। इतनी मार उसने कभी न खायी थी। मीर साहब की अपनी चीज थी। वह इतनी निर्दयता से कभी न पेश आते थे। सोचा, मुँह नहीं खोलता तो नहीं मालूम और कितनी मार पड़े। लगाम ले ली। फिर क्या था, मुन्शीजी की फतह हो गयी। उन्होंने तुरन्त जीन भी कस दी। दूल्हा कूदकर घोड़े पर सवार हो गया।

( ४ )

जब वर ने घोड़े की पीठ पर आसन जमा लिया, तो घोड़ा मानो नींद से जागा। विचार करने लगा, थोड़े-से दानों के बदले अपने इस स्वत्व से हाथ धोना, एक कटोरे-भर कढ़ी के लिए अपने जन्म-सिद्ध अधिकारों को बेचना है। उसे याद आया कि मैं कितने दिनों से आज के दिन आराम करता रहा हूँ, तो आज क्यों यह बेगार करूँ? ये लोग मुझे न-जाने कहाँ ले जायँगे, लौंडा आसन का पक्का जान पड़ता है; मुझे दौड़ायेगा, एड़ें लगायेगा, चाबुक से मार-मारकर अधमुआ कर देगा, फिर न-जाने भोजन मिले या नहीं? यह सोच-विचारकर उसने निश्चय किया कि मैं यहाँ से कदम ही न उठाऊँगा। यही न होगा

मारेंगे, सवार को लिये हुए जमीन पर लोट जाऊँगा, आप ही छोड़ देंगे। मेरे मालिक मीर साहब भी तो यहीं कहीं होंगे। उन्हें मुझ-पर इतनी मार पड़नी कभी पसन्द न आयेगी कि कल उन्हें कचहरी भी न ले जा सकूँ।

वर ज्योंही घोड़े पर सवार हुआ स्त्रियों ने मंगल गान किया, फूलों की वर्षा हुई। बारात के लोग आगे बढ़े। मगर घोड़ा ऐसा अड़ा कि पैर ही नहीं उठाता। वर उसे एड़ें लगाता है, चाबुक मारता है, लगाम के झटके देता है, मगर घोड़े के कदम मानो जमीन में ऐसे गड़ गये हैं कि उखड़ने का नाम नहीं लेते।

मुन्शीजी को ऐसा क्रोध आता था कि अपना जानवर होता तो गोली मार देते। एक मित्र ने कहा—अड़ियल जानवर है, यों न चलेगा। इसके पीछे से डंडे लगाओ, आप दौड़ेगा।

मुन्शीजी ने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। पीछे से जाकर कई डंडे लगाये, पर घोड़े ने पैर न उठाया, उठाये भी तो अगले पैर और आकाश की ओर। दो-एक बार पिछले पैर भी, जिससे विदित होता था कि वह बिलकुल प्राणहीन नहीं है। मुन्शीजी बाल-बाल बच गये।

तब दूसरे मित्र ने कहा—इसकी पूँछ के पास एक जलता हुआ कुन्दा लाओ, आँच के डर से भागेगा।

यह प्रस्ताव भी स्वीकृत हुआ। फल यह हुआ कि घोड़े की पूँछ जल गयी। वह दो-तीन बार उछला-कूदा पर आगे न बढ़ा। पक्का सत्याग्रही था। कदाचित् इन यन्त्रणाओं ने उसके सङ्कल्प को और भी दृढ़ कर दिया।

इतने में सूर्यास्त होने लगा। पण्डितजी ने कहा—'जल्दी कीजिए नहीं तो मुहूर्त्त टल जायगा।' लेकिन अपने वश की बात तो थी नहीं। जल्दी कैसे होती? बाराती लोग गाँव के बाहर जा पहुँचे। यहाँ स्त्रियों और बालकों का मेला लग गया। लोग कहने लगे—'कैसा घोड़ा है कि पग ही नहीं उठाता!' एक अनुभवी महाशय ने कहा—'मार-पीट से काम न चलेगा। थोड़ा-सा दाना मँगाइए। एक आदमी इसके सामने तोबड़े में दाना दिखाता हुआ चले। दाने के लालच से खट-खट चला जायगा।' मुन्शीजी ने यह उपाय भी करके देखा, पर सफल मनोरथ न हुए। घोड़ा अपने स्वत्व को किसी दाम पर बेचना न चाहता था। एक महाशय ने कहा—'इसे थोड़ी-सी शराब पिला दीजिए। नशे में

आकर खूब चौकड़ियाँ भरने लगेगा। शराब की बोतल आयी। एक तसले में शराब उँडेलकर घोड़े के सामने रखी गयी, पर उसने सूँघा तक नहीं।

अब क्या हो ? चिराग जल गये। मुहूर्त टल चुका था। घोड़ा यह नाना दुर्गतियाँ सहकर दिल में खुश होता था और अपने सुख में विघ्न डालनेवालों की दुरवस्था और व्यग्रता का आनन्द उठा रहा था। उसे इस समय इन लोगों की यत्नशीलता पर एक दार्शनिक आनन्द प्राप्त हो रहा था। देखें आप लोग अब क्या करते हैं ? वह जानता था कि अब मार खाने की सम्भावना नहीं है। लोग जान गये कि मारना व्यर्थ है। वह केवल उनकी सुयुक्तियों की विवेचना कर रहा था।

पाँचवें सज्जन ने कहा—अब एक ही तरकीब और है। वह जो खेतों में खाद फेंकने की दो-पहिया गाड़ी होती है, उसे घोड़े के सामने लाकर रखिए। इसके दोनों अगले पैर उसमें रख दिये जायँ और हम लोग गाड़ी को खींचें। तब तो जरूर ही इसके पैर उठ जायँगे। अगले पैर आगे बढ़े, तो पिछले पैर भी झख मारकर उठेंगे ही। घोड़ा चल निकलेगा।

मुन्शीजी डूब रहे थे। कोई तिनका सहारे के लिए काफी था। दो आदमी गये। दो-पहिया गाड़ी निकाल लाये। वर ने लगाम तानी। चार-पाँच आदमी घोड़े के पास डंडे लेकर खड़े हो गये। दो आदमियों ने उसके अगले पाँव जबर्दस्ती उठाकर गाड़ी पर रक्खे। घोड़ा अभी तक यही समझ रहा था कि मैं यह उपाय भी न चलने दूँगा; लेकिन जब गाड़ी चली, तो उसके पिछले पैर आप-ही-आप उठ गये। उसे ऐसा जान पड़ा, मानो पानी में बहा जा रहा हूँ। कितना ही चाहता था कि पैरों को जमा लूँ। पर कुछ अक्ल काम न करती थी। चारों ओर शोर मचा—'चला-चला।' तालियाँ पड़ने लगीं। लोग ठट्ठे मार-मारकर हँसने लगे। घोड़े का यह उपहास और यह अपमान असह्य था; पर करता क्या ? हाँ, उसने धैर्य न छोड़ा। मन में सोचा इस तरह कहाँ तक ले जायँगे। ज्योंही गाड़ी रुकेगी मैं भी रुक जाऊँगा। मुझसे बड़ी भूल हुई, मुझे गाड़ी पर पैर ही न रखना चाहिए था।

अन्त में वही हुआ जो उसने सोचा था। किसी तरह लोगों ने सौ कदम तक गाड़ी खींची, आगे न खींच सके। सौ-दो सौ कदम ही खींचना होता तो,

शायद लोगों की हिम्मत बँध जाती पर स्टेशन पूरे तीन मील पर था। इतनी दूर घोड़े को खींच ले जाना दुस्तर था। ज्योंही गाड़ी रुकी घोड़ा भी रुक गया। वर ने फिर लगाम को झटके दिये, एड़ लगायी, चाबुकों की वर्षा कर दी, पर घोड़े ने अपनी टेक न छोड़ी। उसके नथनों से खून निकल रहा था, चाबुकों से सारा शरीर छिल गया था, पिछले पैरों में घाव हो गये थे, पर वह दृढ़-प्रतिज्ञ घोड़ा अपनी आन पर अड़ा हुआ था।

( ५ )

पुरोहितजी ने कहा—'आठ बज गये। मुहूर्त्त टल गया।' दीन-दुर्बल घोड़े ने मैदान मार लिया। मुन्शीजी क्रोधोन्मत्त होकर रो पड़े। वर एक कदम भी पैदल नहीं चल सकता। विवाह के अवसर पर वहाँ भूमि पर पाँव रखना वर्जित है, प्रतिष्ठा भंग होती है, निन्दा होती है, कुल को कलंक लगता है। पर अब पैदल चलने के सिवा अन्य उपाय न था। आकर घोड़े के सामने खड़े हो गये और कुण्ठित स्वर से बोले—महाशय, अपना भाग्य बखानो कि मीर साहब के घर हो। यदि मैं तुम्हारा मालिक होता तो तुम्हारी हड्डी-पसली का भी पता न लगता। इसके साथ ही मुझे आज मालूम हुआ कि पशु भी अपने स्वत्व की रक्षा किस प्रकार कर सकता है। मैं न जानता था, तुम व्रतधारी हो। बेटा, उतरो, बारात स्टेशन पहुँच रही होगी। चलो, पैदल ही चलें। हम लोग आपस ही के दस-बारह आदमी हैं। हँसनेवाला कोई नहीं। ये रंगीन कपड़े उतार दो। रास्ते में लोग देखेंगे तो हँसेंगे कि पाँव-पाँव ब्याह करने जाता है। चल बे अड़ियल घोड़े, तुझे मीर साहब के हवाले कर आऊँ।

---

# पूर्वसंस्कार

सज्जनों के हिस्से में भौतिक उन्नति कभी भूल कर ही आती है। रामटहल विलासी, दुर्व्यसनी, चरित्रहीन आदमी थे, पर सांसारिक व्यवहारों में चतुर, सूद-ब्याज के मामले में दक्ष और मुकदमे-अदालत में कुशल थे। उनका धन

बढ़ता जाता था। सभी उनके असामी थे। उधर उन्हीं के छोटे भाई शिवटहल साधु-भक्त, धर्म-परायण और परोपकारी जीव थे। उनका धन घटता जाता था। उनके द्वार पर दो-चार अतिथि बने ही रहते थे। बड़े भाई का सारे मुहल्ले पर दबाव था। जितने नीच श्रेणी के आदमी थे, उनका हुक्म पाते ही फौरन उनका काम करते। उनके घर की मरम्मत बेगार में हो जाती। ऋणी कुँजड़े साग-भाजी भेंट में दे जाते। ऋणी ग्वाला उन्हें बाजार-भाव से ज्यादा दूध देता। छोटे भाई का किसी पर रोब न था। साधु-सन्त आते और इच्छापूर्ण भोजन करके अपनी राह लेते। दो-चार आदमियों को रुपये उधार दिये भी, तो सूद के लालच से नहीं, बल्कि संकट से छुड़ाने के लिए। कभी जोर देकर तगादा न करते कि कहीं उन्हें दुःख न हो।

इस तरह कई साल गुजर गये। यहाँ तक कि शिवटहल की सारी सम्पत्ति परमार्थ में उड़ गयी। रुपये भी बहुत डूब गये। उधर रामटहल ने नया मकान बनवा लिया। सोने-चाँदी की दूकान खोल ली। थोड़ी जमीन भी खरीद ली और खेती-बारी भी करने लगे।

शिवटहल को अब चिन्ता हुई, निर्वाह कैसे होगा। धन न था कि कोई रोजगार करते। वह व्यावहारिक बुद्धि भी न थी, जो बिना धन के भी अपनी राह निकाल लेती है। किसी से ऋण लेने की हिम्मत न पड़ती थी। रोजगार में घाटा हुआ, तो देंगे कहाँ से? किसी दूसरे आदमी की नौकरी भी न कर सकते थे। कुल-मर्यादा भंग होती थी। दो-चार महीने तो ज्यों-त्यों करके काटे, अन्त में चारों ओर से निराश होकर बड़े भाई के पास गये और कहा—भैया, अब मेरा और मेरे परिवार के पालन का भार आपके ऊपर है। आपके सिवा अब किसकी शरण जाऊँ।

रामटहल ने कहा—इसकी कोई चिन्ता नहीं। तुमने कुकर्म में तो धन उड़ाया नहीं। जो कुछ किया, उससे कुल की कीर्ति ही फैली है। मैं धूर्त हूँ, संसार को ठगना जानता हूँ। तुम सीधे-सादे आदमी हो। दूसरों ने तुम्हें ठग लिया। यह तुम्हारा ही घर है। मैंने जो जमीन ली है, उसकी तहसील-वसूल करो; खेती-बारी का काम सँभालो। महीने में तुम्हें जितना खर्च पड़े, मुझसे ले जाओ। हाँ, एक बात मुझसे न होगी। मैं साधु-सन्तों का सत्कार करने का एक पैसा भी

न दूँगा और न तुम्हारे मुँह से अपनी निन्दा सुनूँगा।

शिवटहल ने गद्गद कण्ठ से कहा—भैया, मुझसे इतनी भूल अवश्य हुई है कि मैं सबसे आपकी निन्दा करता रहा हूँ; उसे क्षमा करो। अबसे मुझे अपनी निन्दा करते सुनना तो जो चाहे दण्ड देना। हाँ, आपसे भी मेरी एक विनय है। मैंने अब तक अच्छा किया या बुरा, पर भाभीजी को मना कर देना कि उसके लिए मेरा तिरस्कार न करें।

रामटहल—अगर वह कभी तुम्हें ताना देंगी, तो मैं उनकी जीभ खींच लूँगा।

( २ )

रामटहल की जमीन शहर से दस-बारह कोस पर थी। वहाँ एक कच्चा मकान भी था। बैल, गाड़ी, खेती की अन्य सामग्रियाँ वहीं रहती थीं। शिवटहल ने अपना घर भाई को सौंपा और अपने बाल-बच्चों को लेकर गाँव में चले गये। वहाँ उत्साह के साथ काम करने लगे। नौकरों ने काम में चौकसी की। परिश्रम का फल मिला। पहले ही साल उपज ड्योढ़ी हो गयी और खेती का खर्च आधा रहा गया।

पर स्वभाव को कैसे बदलते? पहले की तरह तो नहीं, पर अब भी कभी दो-चार मूर्तियाँ शिवटहल की कीर्ति सुनकर आ ही जाती थीं और शिवटहल को विवश होकर उनकी सेवा और सत्कार करना ही पड़ता था। हाँ अपने भाई से यह बात छिपाते थे कि कहीं वह अप्रसन्न होकर जीविका का यह आधार भी न छीन लें। फल यह होता कि उन्हें भाई से छिपाकर नाज, भूसा, खली आदि बेचना पड़ता। इस कमी को पूरा करने के लिए वह मजदूरों से और भी कड़ी मेहनत लेते थे और खुद भी कड़ी मेहनत करते। धूप-ठण्ड, पानी-बूँदी की बिलकुल परवाह न करते थे। मगर कभी इतना परिश्रम तो किया न था। शरीर शक्तिहीन होने लगा। भोजन भी रूखा-सूखा मिलता था। उस पर कोई ठीक समय नहीं, कभी दोपहर को खाया, तो कभी तीसरे पहर। कभी प्यास लगी, तो तालाब का पानी पी लिया। दुर्बलता रोग का पूर्वरूप है। बीमार पड़ गये। देहात में दवा-दारू का सुभीता न था। भोजन में भी कुपथ्य करना पड़ता था। रोग ने जड़ पकड़ ली। ज्वर ने प्लीहा का रूप धारण किया और प्लीहा ने छ

महीने में काम तमाम कर दिया।

रामटहल ने यह शोक-समाचार सुना तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। इन तीन वर्षों में उन्हें एक पैसे का नाज नहीं लेना पड़ा था। शक्कर, गुड़, घी, भूसा-चारा, उपले, ईंधन सब गाँव से चला आता था। बहुत रोये। पछतावा हुआ कि मैंने भाई के दवा-दरपन की कोई फिक्र नहीं की; अपने स्वार्थ की चिन्ता में उसे भूल गया। लेकिन मैं क्या जानता था कि मलेरिया का ज्वर प्राणघातक ही होगा! नहीं तो यथाशक्ति अवश्य इलाज करता। भगवान की यही इच्छा थी फिर मेरा क्या वश!

( ३ )

अब कोई खेती का सँभालनेवाला न था। इधर रामटहल को खेती का मजा भी मिल गया था। उस पर विलासिता ने उनका स्वास्थ्य भी नष्ट कर डाला था। वह अब देहात के स्वच्छ जलवायु में रहना चाहते थे। निश्चय किया कि खुद ही गाँव में जाकर खेती-बारी करूँ। लड़का जवान हो गया था। शहर का लेन-देन उसे सौंपा और देहात चले आये।

यहाँ उनका समय और चित्त विशेषकर गौओं की देख-भाल में लगता था। उनके पास एक जमनापारी बड़ी रास की गाय थी। उसे कई साल हुए, बड़े शौक से खरीदा था। दूध खूब देती थी, और सीधी इतनी कि बच्चा भी सींग पकड़ ले, तो न बोलती। वह इन दिनों गाभिन थी। वह उसे बहुत प्यार करते थे। शाम-सबेरे उसकी पीठ सुहलाते, अपने हाथों से नाज खिलाते। कई आदमी उसके ड्योढ़े दाम देते थे, पर रामटहल ने न बेची। जब समय पर गऊ ने बच्चा दिया, तो रामटहल ने धूम-धाम से उसका जन्मोत्सव मनाया, कितने ही ब्राह्मणों को भोजन कराया। कई दिन तक गाना-बजाना होता रहा। इस बछड़े का नाम रखा गया 'जवाहिर।' एक ज्योतिषी से उसका जन्म-पत्र भी बनवाया गया। उसके अनुसार बछड़ा बड़ा होनहार, बड़ा भाग्यशाली, स्वामिभक्त निकला। केवल छठे वर्ष उस पर एक सङ्कट की शङ्का थी। उससे बच गया तो फिर जीवनपर्यन्त सुख से रहेगा।

बछड़ा श्वेत वर्ण था। उसके माथे पर एक लाल तिलक था। आँखें कजरी थीं। स्वरूप का अत्यन्त मनोहर और हाथ-पाँव का सुडौल था। दिन-भर

किलोलें किया करता। रामटहल का चित्त उसे छलाँगें भरते देखकर प्रफुल्लित हो जाता था। वह उनसे इतना हिल-मिल गया कि उनके पीछे-पीछे कुत्ते की भाँति दौड़ा करता था। जब वह शाम या सुबह को अपनी खाट पर बैठकर असामियों से बातचीत करने लगते, तो जवाहिर उनके पास खड़ा होकर उनके हाथ या पाँव को चाटता था। वह प्यार से उसकी पीठ पर हाथ फेरने लगते, तो उसकी पूँछ खड़ी हो जाती और आँखें हृदय के उल्लास से चमकने लगतीं। रामटहल को भी उससे इतना स्नेह था कि जब तक वह उनके सामने चौके में न बैठा हो, भोजन में स्वाद न मिलता। वह उसे बहुधा गोद में चिपटा लिया करते। उसके लिए चाँदी का हार, रेशमी झूल, चाँदी की झाँझें बनवायीं। एक आदमी उसे नित्य नहलाता और झाड़ता-पोछता रहता था। जब कभी वह किसी काम से दूसरे गाँवों में चले जाते तो उन्हें घोड़े पर आते देखकर जवाहिर कुलेलें मारता हुआ उनके पास पहुँच जाता और उनके पैरों को चाटने लगता।

पशु और मनुष्य में यह पिता-पुत्र-सा प्रेम देखकर लोग चकित हो जाते।

( ४ )

जवाहिर की अवस्था ढाई वर्ष की हुई। रामटहल ने उसे अपनी सवारी की बहली के लिए निकालने का निश्चय किया। वह अब बछड़े से बैल हो गया था। उसका ऊँचा डील, गठे हुए अंग, सुदृढ़ मांस-पेशियाँ, गर्दन के ऊपर ऊँचा डील, चौड़ी छाती और मस्तानी चाल थी। ऐसा दर्शनीय बैल सारे इलाके में न था। बड़ी मुश्किल से उसका बायाँ मिला पर देखनेवाले साफ कहते थे कि जोड़ नहीं मिला। रुपये आपने बहुत खर्च किये हैं, पर कहाँ जवाहिर और कहाँ यह! कहाँ लैंप और कहाँ दीपक!

पर कौतूहल की बात यह थी कि जवाहिर को कोई गाड़ीवान हाँकता तो वह आगे पैर न उठाता। गर्दन हिला-हिलाकर रह जाता। मगर जब रामटहल आप पगहा हाथ में ले लेते और एक बार चुमकारकर कहते—चलो बेटा, तो जवाहिर उन्मत्त होकर गाड़ी को ले उड़ता। दो-दो कोस तक बिना रुके, एक ही साँस, दौड़ता चला जाता। घोड़े भी उसका मुकाबला न कर सकते।

एक दिन सन्ध्या समय जवाहिर नाँद में खली और भूसा खा रहा था और

मटहल उसके पास खड़े उसकी मक्खियाँ उड़ा रहे थे, एक साधु महात्मा आकर र पर खड़े हो गये। रामटहल ने अविनय-पूर्ण भाव से कहा—यहाँ क्या खड़े महाराज, आगे जाओ।

साधु—कुछ नहीं बाबा, इसी बैल को देख रहा हूँ। मैंने ऐसा सुन्दर बैल हीं देखा।

रामटहल—(ध्यान देकर) घर ही का बछड़ा है।

साधु—साक्षात् देव रूप है।

यह कहकर महात्माजी जवाहिर के निकट गये और उसके खुर चूमने लगे।

रामटहल—आपका शुभागमन कहाँ से हुआ? आज यहीं विश्राम कीजिए बड़ी दया हो।

साधु—नहीं बाबा, क्षमा करो। मुझे आवश्यक कार्य से रेलगाड़ी पर सवार ना है। रातोरात चला जाऊँगा। ठहरने से विलम्ब होगा।

रामटहल—तो फिर और कभी दर्शन होंगे?

साधु—हाँ, तीर्थ-यात्रा से तीन वर्ष में लौटकर इधर से फिर जाना होगा। ब आपकी इच्छा होगी तो ठहर जाऊँगा। आप बड़े भाग्यशाली पुरुष हैं कि ापको ऐसे देवरूप नन्दी की सेवा का अवसर मिल रहा है। इन्हें पशु न समझिए इ कोई महान् आत्मा हैं। इन्हें कोई कष्ट न दीजिएगा। इन्हें कभी फूल से ी न मारिएगा।

यह कहकर साधु ने फिर जवाहिर के चरणों पर सीस नवाया और चले ये।

( ५ )

उस दिन से जवाहिर की और भी खातिर होने लगी। वह पशु से देवता गया। रामटहल उसे पहले रसोई के सब पदार्थ खिलाकर तब आप भोजन रते। प्रातःकाल उठकर उसके दर्शन करते। यहाँ तक कि वह उसे अपनी हली में भी न जोतना चाहते। लेकिन जब उनको कहीं जाना होता और बहली ाहर निकाली जाती, तो जवाहिर उसमें जुतने के लिए इतना अधीर और त्कण्ठित हो जाता, सिर हिला-हिलाकर इस तरह अपनी उत्सुकता प्रगट करता क रामटहल को विवश होकर उसे जोतना पड़ता। दो-एक बार वह दूसरी

जोड़ी जोतकर चले गये तो जवाहिर को इतना दुःख हुआ कि उसने दिन-भर नाँद में मुँह नहीं डाला। इसलिए वह अब बिना किसी विशेष कार्य के कहीं जाते ही न थे।

उनकी श्रद्धा देखकर गाँव के अन्य लोगों ने भी जवाहिर को अन्न-ग्रास देना शुरू किया। सुबह उसके दर्शन करने तो प्रायः सभी आ जाते थे।

इस प्रकार तीन साल और बीते। जवाहिर को छठा वर्ष लगा।

रामटहल को ज्योतिषी की बात याद थी। भय हुआ कहीं उसकी भविष्य-वाणी सत्य न हो। पशु-चिकित्सा की पुस्तकें मँगा कर पढ़ीं। पशु चिकित्सक से मिले और कई औषधियाँ लाकर रखीं। जवाहिर को टीका लगवा दिया। कहीं नौकर उसे खराब चारा या गन्दा पानी न खिला-पिला दें इस आशंका से वह अपने हाथों से उसे खोलने-बाँधने लगे। पशुशाला का फर्श पक्का करा दिया जिसमें कोई कीड़ा-मकोड़ा न छिप सके। उसे नित्यप्रति खूब धुलवाते भी थे।

सन्ध्या हो गयी थी। रामटहल नाँद के पास खड़े जवाहिर को खिला रहे थे कि इतने में सहसा वही साधु महात्मा आ निकले जिन्होंने आज से तीन वर्ष पहले दर्शन दिये थे। रामटहल उन्हें देखते ही पहचान गये। जाकर दण्डवत् की, कुशल-समाचार पूछे और उनके भोजन का प्रबन्ध करने लगे। इतने में अकस्मात् जवाहिर ने एक बार जोर से डकार ली और धम से भूमि पर गिर पड़ा। रामटहल दौड़े हुए उसके पास आये। उसकी आँखें पथरा रही थीं। उसने एक स्नेहपूर्ण दृष्टि उन पर डाली और चित हो गया।

रामटहल घबराये हुए घर से दवाएँ लाने को दौड़े। कुछ समझ में न आया कि खड़े-खड़े इसे हो क्या गया। जब वह घर में से दवाइयाँ लेकर निकले तब तक जवाहिर का अन्त हो चुका था।

रामटहल शायद अपने छोटे भाई की मृत्यु पर भी इतने शोकातुर न हुए थे। वह बार-बार लोगों के रोकने पर भी दौड़-दौड़कर जवाहिर के शव के पास जाते और उससे लिपटकर रोते।

रात उन्होंने रो-रोकर काटी। उसकी सूरत आँखों से न उतरती थी। रह-रहकर हृदय में एक वेदना-सी होती और शोक से विह्वल हो जाते।

प्रातःकाल लाश उठायी गयी। किन्तु रामटहल ने गाँव की प्रथा के अनु-
ार उसे चमारों के हवाले नहीं किया। यथाविधि उसकी दाह-क्रिया की, स्वयं
ाग दी। शास्त्रानुसार सब संस्कार किये। तेरहवें दिन कई गाँवों के ब्राह्मणों
ा भोजन कराया गया। उक्त साधु महात्मा को उन्होंने अब तक नहीं जाने
ृया था। उनकी शान्ति देनेवाली बातों से रामटहल को बड़ी सान्त्वना मिलती
ी।

( ६ )

एक दिन रामटहल ने साधु से पूछा—महात्माजी, कुछ समझ में नहीं आता
क जवाहिर को कौन-सा रोग हुआ था। ज्योतिषीजी ने उसके जन्मपत्र में लिखा
ा कि उसका छठा साल अच्छा न होगा। लेकिन मैंने इस तरह किसी जान-
र को मरते नहीं देखा। आप तो योगी हैं। यह रहस्य कुछ आपकी समझ में
ाता है?

साधु—हाँ, कुछ थोड़ा-थोड़ा समझता हूँ।

रामटहल—कुछ मुझे भी बताइए। चित्त को धैर्य नहीं आता।

साधु—वह उस जन्म का कोई सच्चरित्र, साधु-भक्त, परोपकारी जीव था।
ुसने अपनी सारी सम्पत्ति धर्म-कार्यों में उड़ा दी थी। आपके सम्बन्धियों में
ऐसा कोई सज्जन था?

रामटहल—हाँ महाराज था।

साधु—उसने तुम्हें धोखा दिया। तुमसे विश्वासघात किया। तुमने उसे
अपना कोई काम सौंपा था। वह तुम्हारी आँख बचाकर तुम्हारे धन से साधु-
जनों की सेवा-सत्कार किया करता था।

रामटहल—मुझे उस पर इतना सन्देह नहीं होता। वह इतना सरल प्रकृति,
इतना सच्चरित्र मनुष्य था कि बेईमानी करने का उसे कभी ध्यान भी नहीं आ
सकता था।

साधु—लेकिन उसने विश्वासघात अवश्य किया। अपने स्वार्थ के लिए
नहीं अतिथि-सत्कार के लिए सही, पर था वह विश्वासघात।

रामटहल—सम्भव है, दुरवस्था ने उसे धर्मपथ से विचलित कर दिया
ो।

साधु—हाँ यही बात है। उस प्राणी को स्वर्ग में स्थान देने का निश्चय किया गया। पर उसे विश्वासघात का प्रायश्चित कराना आवश्यक था। उसने बेईमानी से तुम्हारा जितना धन हर लिया था, उसकी पूर्ति करने के लिए उसे तुम्हारे यहाँ पशु का जन्म दिया गया। यह निश्चय कर लिया गया कि ६ वर्ष में प्रायश्चित पूरा हो जायगा। इतनी अवधि तक वह तुम्हारे यहाँ रहा। ज्योंही अवधि पूरी हो गयी त्योंही उसकी आत्मा निष्पाप और निर्लिप्त होकर निर्वाणपद को प्राप्त हो गयी।

* * *

महात्माजी तो दूसरे दिन विदा हो गये लेकिन रामटहल के जीवन में उसी दिन से एक बड़ा परिवर्तन देख पड़ने लगा। उनकी चित्तवृत्ति ही बदल गयी। दया और विवेक से हृदय परिपूर्ण हो गया। वह मन में सोचते, जब ऐसे धर्मात्मा प्राणी को जरा से विश्वासघात के लिए इतना कठोर दण्ड मिला तो मुझ जैसे कुकर्मी की क्या दुर्गति होगी! यह बात उनके ध्यान में से कभी न उतरती थी।

---

# दुस्साहस

लखनऊ के नौबस्ते मोहल्ले में एक मुन्शी मैकूलाल मुख्तार रहते थे। बड़े उदार, दयालु और सज्जन पुरुष थे। अपने पेशे में इतने कुशल थे कि ऐसा विरला ही कोई मुकदमा होता था जिसमें वह किसी-न-किसी पक्ष की ओर से न जाते हों। साधु-सन्तों से भी उन्हें प्रेम था। उनके सत्संग से उन्होंने कुछ तत्व-ज्ञान और कुछ गाँजे-चरस का अभ्यास प्राप्त कर लिया था। रही शराब, यह उनकी कुल-प्रथा थी। शराब के नशे में वह कानूनी मसौदे खूब लिखते थे, उनकी बुद्धि प्रज्वलित हो जाती थी। गाँजे और चरस का प्रभाव उनके ज्ञान पर पड़ता था। दम लगाकर वह वैराग्य और ध्यान में तल्लीन हो जाते थे। मोहल्लेवालों पर उनका बड़ा रोब था। लेकिन यह उनकी कानूनी प्रतिभा का नहीं, उनकी

उदार सज्जनता का फल था। मोहल्ले के एक्केवान, ग्वाले और कहार उनके आज्ञाकारी थे, सौ काम छोड़कर उनकी खिदमत करते थे। उनकी मद्यजनित उदारता ने सबों को वशीभूत कर लिया था। वह नित्य कचहरी से आते ही अलगू कहार के सामने दो रुपये फेंक देते थे। कुछ कहने-सुनने की जरूरत न था, अलगू इसका आशय समझता था। शाम को शराब की एक बोतल और कुछ गांजा तथा चरस मुन्शीजी के सामने आ जाता था। बस महफिल जम जाती। यार लोग आ पहुँचते। एक ओर मुवक्किलों की कतार बैठती, दूसरी ओर सहवासियों की। वैराग्य और ज्ञान की चर्चा होने लगती। बीच-बीच में मुवक्किलों से भी मुकदमे की दो-एक बातें कर लेते। दस बजे रात को वह सभा विसर्जित होती थी। मुन्शीजी अपने पेशे और इस ज्ञान-चर्चा के सिवा और कोई दर्द-सिर मोल न लेते थे। देश के किसी आन्दोलन, किसी सभा, किसी सामाजिक सुधार से उनका सम्बन्ध न था। इस विषय में वह सच्चे विरक्त थे। बंग-भंग हुआ, स्वदेशी का आन्दोलन हुआ, नरम-गरम दल बने, राजनैतिक सुधारों का आविर्भाव हुआ, स्वराज्य की आकांक्षा ने जन्म लिया, आत्मरक्षा की आवाजें देश में गूँजने लगीं, किन्तु मुन्शीजी की अविरल शान्ति में जरा भी विघ्न न पड़ा। अदालत और शराब के सिवाय वह संसार की सभी चीजों को माया समझते थे, सभी से उदासीन रहते थे।

( २ )

चिराग जल चुके थे। मुन्शी मैकूलाल की सभा जम गयी थी, उपासकगण जमा हो गये थे, अभी तक मदिरा देवी प्रगट न हुई थी। अलगू बाजार से न लौटा था। सब लोग बार-बार उत्सुक नेत्रों से द्वार की ओर ताक रहे थे। एक आदमी बरामदे में प्रतीक्षास्वरूप खड़ा था, दो-तीन सज्जन टोह लेने के लिए सड़क पर खड़े थे। लेकिन अलगू आता नजर न आता था। आज जीवन में पहला अवसर था कि मुन्शीजी को इतना इन्तजार खींचना पड़ा। उनकी प्रतीक्षा-जनित उद्विग्नता ने गहरी समाधि का रूप धारण कर लिया था, न कुछ बोलते थे, न किसी ओर देखते थे। समस्त शक्तियाँ प्रतीक्षा-बिन्दु पर केन्द्रीभूत हो गयीं।

अकस्मात् सूचना मिली कि अलगू आ रहा है। मुन्शीजी जाग पड़े, सह-

वासीगण खिल गये, आसन बदलकर सँभल बैठे, उनकी आँखें अनुरक्त हो गयीं। आशामय विलम्ब आनन्द को और बढ़ा देता है।

एक क्षण में अलगू आकर सामने खड़ा हो गया। मुन्शीजी ने उसे डाँटा नहीं, यह पहला अपराध था, इसका कुछ-न-कुछ कारण अवश्य होगा, दबे हुए पर उत्कण्ठायुक्त नेत्रों से अलगू के हाथ की ओर देखा। बोतल न थी। यह अप्राकृतिक घटना थी, उन्हें इस पर क्रोध न आया, नम्रता के साथ पूछा—बोतल कहाँ है?

अलगू—आज नहीं मिली।

मैकूलाल—यह क्यों?

अलगू—दूकान के दोनो नाके रोके हुए सुराजवाले खड़े हैं, किसी को उधर जाने ही नहीं देते।

अब मुन्शीजी को क्रोध आया, अलगू पर नहीं, स्वराज्यवालों पर। उन्हें मेरी शराब बन्द करने का क्या अधिकार है? तर्क भाव से बोले—तुमने मेरा नाम नहीं लिया?

अलगू—बहुत कहा, लेकिन वहाँ कौन किसी की सुनता था? सभी लोग लौट आते थे, मैं भी लौट आया।

मुन्शी—चरस लाये?

अलगू—वहाँ भी यही हाल था।

मुन्शी—तुम मेरे नौकर हो या स्वराज्यवालों के?

अलगू—मुँह में कालिख लगवाने के लिए थोड़े ही नौकर हूँ!

मुन्शी—तो क्या वहाँ बदमाश लोग मुँह में कालिख भी लगा रहे हैं?

अलगू—देखा तो नहीं लेकिन सब यही कहते थे।

मुन्शी—अच्छी बात है, मैं खुद जाता हूँ, देखूँ किसकी मजाल है जो रोके। एक-एक को लाल घर दिखा दूँगा, यह सरकार का राज है, कोई बदमली नहीं है। वहाँ कोई पुलिस का सिपाही नहीं था?

अलगू—थानेदार साहब आप ही खड़े सबसे कहते थे जिसका जी चाहे जाय शराब ले या पीये, लेकिन लोग लौटे आते थे, उनकी कोई न सुनता था।

मुन्शी—थानेदार मेरे दोस्त हैं, चलो जी ईदू, चलते हो? रामबली, बेचन

झिनकू सब चलो। एक-एक बोतल ले लो, देखूँ कौन रोकता है। कल ही तो मजा चखा दूँगा।

( ३ )

मुन्शीजी अपने चारों साथियों के साथ शराबखाने की गली के सामने पहुँचे तो वहाँ बहुत भीड़ थी। बीच में दो सौम्य मूर्त्तियाँ खड़ी थीं। एक मौलाना जामिन थे जो शहर के मशहूर मुजतहिद थे; दूसरे स्वामी घनानन्द थे जो वहाँ की सेवासमिति के स्थापक और प्रजा के बड़े हितचिन्तक थे। उनके सम्मुख ही थानेदार साहब कई कानस्टेबलों के साथ खड़े थे। मुन्शीजी और उनके साथियों को देखते ही थानेदार साहब प्रसन्न होकर बोले—आइए मुख्तार साहब, क्या आज आप ही को तकलीफ करनी पड़ी? यह चारों आप ही के हमराह हैं न?

मुन्शीजी बोले—जी हाँ, पहले आदमी भेजा, वह नाकाम वापस गया। सुना आज यहाँ हरबोंग मची हुई है, स्वराज्यवाले किसी को अन्दर जाने ही नहीं देते।

थानेदार—जी नहीं, यहाँ किसकी मजाल है जो किसी के काम में हारिज हो सके। आप शौक से जाइए। कोई चूँ तक नहीं कर सकता। आखिर मैं यहाँ किस लिए हूँ?

मुन्शीजी ने गौरवोन्मत्त दृष्टि से अपने साथियों को देखा और गली में घुसे कि इतने में मौलाना जामिन ने ईदू से बड़ी नम्रता से कहा—दोस्त, यह तो तुम्हारी नमाज का वक्त है, यहाँ कैसे आये? क्या इसी दीनदारी के बल पर खिलाफत का मसला हल करेंगे?

ईदू के पैरों में जैसे लोहे की बेड़ी पड़ गयी। लज्जित भाव से खड़ा भूमि की ओर ताकने लगा। आगे कदम रखने का साहस न हुआ।

स्वामी घनानन्द ने मुन्शीजी और उनके बाकी तीनों साथियों से कहा—बच्चा, यह पञ्चामृत लेते जाओ, तुम्हारा कल्याण होगा। झिनकू, रामबली और बेचन ने अनिवार्य भाव से हाथ फैला दिये और स्वामीजी से पञ्चामृत लेकर पी गये। मुन्शीजी ने कहा—इसे आप खुद पी जाइए मुझे जरूरत नहीं।

स्वामीजी उनके सामने हाथ जोड़कर खड़े हो गये और विनीत भाव से

बोले—इस भिक्षुक पर आज दया कीजिए, उधर न जाइए।

लेकिन मुन्शीजी ने उनका हाथ पकड़कर सामने से हटा दिया और गली में दाखिल हो गये। उनके तीनों साथी स्वामीजी के पीछे सिर झुकाये खड़े रहे।

मुन्शी—रामबली, झिनकू आते क्यों नहीं ? किसकी ताकत है कि हमें करो सके।

झिनकू—तुम ही काहे नाहीं लौट आवत हौ। साधु-सन्तन की माने का होत है।

मुन्शी—सी हौसले पर घर से निकले थे ?

रामबली—निकले थे कि कोई जबर्दस्ती रोकेगा तो उससे समझेंगे। साधुसन्तों से लड़ाई करने थोड़े ही चले थे।

मुन्शी—सच कहा है, गँवार भेड़ होते हैं।

बेचन—आप शेर हो जायँ, हम भेड़ ही बने रहेंगे।

मुन्शीजी अकड़ते हुए शराबखाने में दाखिल हुए। दूकान पर उदासी छायी हुई थी, कलवार अपनी गद्दी पर बैठा ऊँघ रहा था। मुन्शीजी की आहट पाकर चौंक पड़ा, उन्हें तीव्र दृष्टि से देखा मानो यह कोई विचित्र जीव है, बोतल भर दी और फिर ऊँघने लगा।

मुन्शीजी गली के द्वार पर आये तो अपने साथियों को न पाया। बहुत-से आदमियों ने उन्हें चारों तरफ से घेर लिया और निन्दासूचक बोलियाँ बोलने लगे।

एक ने कहा—दिलावर हो तो ऐसा हो।

दूसरा बोला—शर्मचे कुत्तीस्त कि पेशे मरदाँ बिवाअद (मरदों के सामने लज्जा नहीं आ सकती)।

तीसरा बोला—है कोई पियक्कड़ पक्का लतिहर।

इतने में थानेदार साहब ने आकर भीड़ हटा दी। मुन्शीजी ने उन्हें धन्यवाद दिया और घर चले। एक कानस्टेबल भी रक्षार्थ उनके साथ चला।

( ४ )

मुन्शीजी के चारों मित्रों ने बोतलें फेंक दीं और आपस में बातें करते हुए चले।

झिनकू—एक बेर हमारा एक्का बेगार में पकड़ जात रहे तो यही स्वामीजी चपरासी से कह सुनके छुड़ाय दिहेन रहा।

रामबली—पिछले साल जब हमारे घर में आग लगी थी तब भी तो यही सेवा-समिति वालों को लेकर पहुँच गये थे, नहीं तो घर में एक सूत न बचता।

बेचन—मुख्तार अपने सामने किसी को गिनते ही नहीं। आदमी कोई बुरा काम करता है तो छुपा के करता है, यह नहीं कि बेहाई पर कमर बाँध ले।

झिनकू—भाई, पीठ पीछे कोऊ की बुराई न करै चाही। और जौन कुछ होय पर आदमी बड़ा अकबाली हौ। इतने आदमियन के बीच माँ कैसा घुसत चला गवा।

रामबली—यह कोई अकबाल नहीं है। थानेदार न होता तो आटे-दाल का भाव मालूम हो जाता।

बेचन—मुझे तो कोई पचास रुपये देता तो भी गली में पैर न रख सकता। शर्म से सिर ही नहीं उठता था।

ईदू—इनके साथ आकर आज बड़ी मुसीबत में फँस गया। मौलाना जहाँ देखेंगे वहीं आड़े हाथों लेंगे। दीन के खिलाफ ऐसा काम क्यों करें कि शरमिन्दा होना पड़े। मैं तो आज मारे शर्म के गड़ गया। आज से तोबा करता हूँ। अब इसकी तरफ आँख उठाकर भी न देखूँगा।

रामबली—शराबियों की तोबा कच्चे धागे से मजबूत नहीं होती।

ईदू—अगर फिर कभी मुझे पीते देखना तो मुँह में कालिख लगा देना।

बेचन—अच्छा तो इसी बात पर आज से मैं भी इसे छोड़ता हूँ। अब पीऊँ तो गऊ-रक्त बराबर।

झिनकू—ता का हम हो सबसे पापी हन। फिर कभू जो हमका पियत देख्यो बैठाय के पचास जूता लगायो।

रामबली—अरे जा, अभी मुन्शीजी बुलायेंगे तो कुत्ते की तरह दौड़ते हुए जाओगे।

झिनकू—मुन्शीजी के साथ बैठे देख्यो तो सौ जूता लगायो, जिसके बात में फरक है उसके बाप में फरक है।

रामबली—तो भाई मैं भी कसम खाता हूँ कि आज से गाँठ के पैसे निकाल

कर न पीऊँगा। हाँ, मुफ्त की पीने में इन्कार नहीं।

बेचन—गाँठ के पैसे तुमने कभी खर्च किये हैं?

इतने में मुन्शी मैकूलाल लपके हुए आते दिखायी दिये। यद्यपि वह बाजी मारकर आये थे पर मुख पर विजय-गर्व की जगह खिसियानापन छाया हुआ था। किसी अव्यक्त कारणवश वह इस विजय का हार्दिक आनन्द न उठा सकते थे। हृदय के किसी कोने में छिपी हुई लज्जा उन्हें चुटकियाँ ले रही थी। वह स्वयं अज्ञात थे पर उस दुस्साहस का खेद उन्हें व्यथित कर रहा था।

रामबली ने कहा—आइए मुख्तार साहब, बड़ी देर लगायी।

मुन्शी—तुम सब-के-सब गावदी ही निकले, एक साधू के चकमे में आ गये।

रामबली—इन लोगों ने तो आज से शराब पीने की कसम खा ली है।

मुन्शी—ऐसा तो मैंने मर्द ही नहीं देखा जो कि एक बार इसके चंगुल में फँसकर फिर निकल जाय। मुँह से बकना दूसरी बात है।

ईदू—जिन्दगानी रही तो देख लीजिएगा।

झिनकू—दाना-पानी तो कोऊ से नाहीं छूट सकत है और बातन का जब मनमा आवे छोड़ देब। बस चोट लग जाय का चाही, नसा खाये बिना कोऊ मर नाहीं जात है।

मुन्शी—देखूँगा तुम्हारी बहादुरी भी।

बेचन—देखना क्या है, छोड़ देना कोई बड़ी बात नहीं। यही न होगा कि दो-चार दिन जी सुस्त रहेगा। लड़ाई में अँगरेजों ने छोड़ दिया था जो इसे पानी की तरह पीते हैं तो हमारे लिए कोई मुश्किल काम नहीं।

यही बातें करते हुए लोग मुख्तार साहब के मकान पर आ पहुँचे।

( ५ )

दीवानखाने में सन्नाटा था। मुवक्किल चले गये थे। अलगू पड़ा सो रहा था। मुन्शीजी मसनद पर जा बैठे और आलमारी से ग्लास निकालने लगे। उन्हें अभी तक अपने साथियों की प्रतिज्ञा पर विश्वास न आता था। उन्हें पूरा यकीन था कि शराब की सुगन्ध और लालिमा देखते ही सभों की तोबा टूट जायगी। जहाँ मैंने जरा बढ़ावा दिया वहीं सब-के-सब आकर डट जायँगे और महफिल जम जायगी। जब ईदू सलाम करके चलने लगा और झिनकू ने

अपना डंडा सँभाला तो मुन्शीजी ने दोनो के हाथ पकड़ लिये और बड़े मृदुल शब्दों में बोले—यारो, यों साथ छोड़ना अच्छा नहीं। आओ जरा आज इसका मजा तो चखो, खास तौर पर अच्छी है।

ईदू—अब तो बात ठान ली, वह ठान ली।

मुन्शी—अजी आओ तो, इन बातों में क्या धरा है?

ईदू—आप ही को मुबारक रहे, मुझे जाने दीजिए।

झिनकू—हम तो भगवान् चाही तो एके नियरे न जाब; जूता कौन खाय।

यह कहकर दोनो अपने-अपने हाथ छुड़ाकर चले गये। तब मुख्तार साहब ने बेचन का हाथ पकड़ा जो बरामदे से नीचे उतर रहा था। बोले—बेचन, क्या तुम भी बेवफाई करोगे?

बेचन—मैंने तो बड़ी कसम खायी है। जब एक बार इसे गऊ-रक्त कह चुका तो फिर इसकी ओर ताक भी नहीं सकता। कितना ही गया-बीता हूँ तो क्या गऊ-रक्त की लाज भी न रखूँगा? अब आप भी छोड़िए, कुछ दिन राम-राम कीजिए। बहुत दिन तो पीते हो गये।

यह कहकर वह भी सलाम करके चलता हुआ। अब अकेले रामबली रह गया। मुन्शीजी ने उससे शोकातुर होकर कहा—देखो रामबली, इन सभों की बेवफाई। यह लोग ऐसे ढुलमुल होंगे मैं न जानता था। आओ आज हमीं तुम सही। दो सच्चे दोस्त ऐसे दरजनों कच्चलोहियों से अच्छे हैं। आओ बैठ जाओ।

रामबली—मैं तो हाजिर ही हूँ लेकिन मैंने भी कसम खाई है कि कभी गाँठ के पैसे खर्च करके न पिऊँगा।

मुन्शी—अजी जब तक मेरे दम में दम है तुम जितना चाहो पियो, गम क्या है?

रामबली—लेकिन आप न रहे तब? ऐसा सज्जन फिर कहाँ पाऊँगा?

मुन्शी—अजी तब देखी जायगी। मैं आज मरा थोड़े ही जाता हूँ।

रामबली—जिन्दगी का कोई एतबार नहीं। आप मुझसे पहले जरूर ही मरेंगे। तो उस वक्त मुझे कौन रोज पिलायेगा? तब तो छोड़ भी न सकूँगा। इससे बेहतर यही है कि अभी से फिक्र करूँ।

मुन्शी—यार, ऐसी बातें करके दिल न छोटा करो। आओ बैठ जाओ, एक ही गिलास ले लेना।

रामबली—मुख्तार साहब, मुझे अब ज्यादा मजबूर न कीजिए। जब ईदू और झिनकू जैसे लतियों ने कसम खाली जो औरतों के गहने बेच-बेच पी गये और निरे मूर्ख हैं, तो मैं इतना निर्लज्ज नहीं हूँ कि इसका गुलाम बना रहूँ। स्वामीजी ने मेरा सर्वनाश होने से बचाया है। उनकी आज्ञा मैं किसी तरह नहीं टाल सकता। यह कहकर रामबली भी बिदा हो गया।

( ६ )

मुन्शीजी ने प्याला मुँह से लगाया, लेकिन दूसरा प्याला भरने के पहले उनकी मद्यातुरता गायब हो गयी थी। जीवन में यह पहला अवसर था कि उन्हें एकान्त में बैटकर दवा की भाँति शराब पीनी पड़ी। पहले तो सहवासियों पर झुँझलाये। दगाबाजों को मैंने सैकड़ों रुपये खिला दिये होंगे, लेकिन आज जरा-सी बात पर सब-के-सब फिरंट हो गये। अब मैं भूत की भाँति अकेला पड़ा हुआ हूँ; कोई हँसने-बोलने वाले नहीं। यह तो सोहबत की चीज है, जब सोहबत का आनन्द ही न रहा तो पीकर खाट पर पड़ रहने से क्या फायदा!

मेरा आज कितना अपमान हुआ! जब गली में घुसा हूँ तो सैकड़ों ही आदमी मेरी ओर आग्नेय दृष्टि से ताक रहे थे। शराब लेकर लौटा हूँ तब तो लोगों का वश चलता तो मेरी बोटियाँ नोच खाते। थानेदार न होता तो घर तक आना मुश्किल था। यह अपमान और लोकनिन्दा किस लिए? इसलिए कि घड़ी-भर बैठकर मुँह कड़वा करूँ और कलेजा जलाऊँ? कोई हँसी-चुहल करनेवाला तक नहीं।

लोग इसे कितनी त्याज्य वस्तु समझते हैं, इसका अनुभव मुझे आज ही हुआ, नहीं तो एक संन्यासी के जरा से इशारे पर बरसों के लत्ती पियक्कड़ यों मेरी अवहेलना न करते। बात सही है कि अन्तःकरण से सभी इसे निषिद्ध समझते हैं। जब मेरे साथ के ग्वाले, एक्केवान और कहार तक इसे त्याग सकते हैं तो क्या मैं उनसे भी गया-गुजरा हूँ? इतना अपमान सहकर, जनता की निगाह में पतित होकर, सारे शहर में बदनाम होकर, नक्कू बनकर एक क्षण के लिए सिर में सरूर पैदा कर लिया तो क्या बड़ा काम किया? कुवासना

के लिए आत्मा को इतना नीचे गिराना क्या अच्छी बात है ? यह चारों इस घड़ी मेरी निन्दा कर रहे होंगे; मुझे दुष्ट बना रहे होंगे, मुझे नीच समझ रहे होंगे। इन नीचों की दृष्टि में मैं नीचा हो गया। यह दुर्व्यवस्था नहीं सही जाती। आज इस वासना का अन्त कर दूँगा, अपमान का अन्त कर दूँगा।

एक क्षण में धड़ाके की आवाज हुई। अलगू चौंककर उठा तो देखा कि मुंशीजी बरामदे में खड़े हैं और बोलत जमीन पर टूटी पड़ी है।

---

# बौड़म

मुझे देवीपुर गये पाँच दिन हो चुके थे पर ऐसा एक दिन भी न होगा कि बौड़म की चर्चा न हुई हो। मेरे पास सुबह से शाम तक गाँव के लोग बैठे रहते थे। मुझे अपनी बहुज्ञता के प्रदर्शित करने का न कभी ऐसा अवसर ही मिला था और न प्रलोभन ही। मैं बैठा-बैठा इधर-उधर की गप्पें उड़ाया करता। बड़े लाट ने गांधी बाबा से यह कहा और गांधी बाबा ने यह जवाब दिया। अभी आप लोग क्या देखते हैं आगे देखिएगा क्या-क्या गुल खिलते हैं। पूरे ५० हजार जवान जेल जाने को तैयार बैठे हुए हैं। गाँधीजी ने आज्ञा दी है कि हिन्दुओं में छूत-छात का भेद न रहे, नहीं तो देश को और भी अदिन देखने पड़ेंगे। अस्तु ! लोग मेरी बातों को तन्मय होकर सुनते। उनके मुख फूल की तरह खिल जाते। आत्माभिमान की आभा मुख पर दिखाई देती। गद्गद कण्ठ से कहते, अब तो महात्माजी का ही भरोसा है। न हुआ बौड़म नहीं तो आपका गला न छोड़ता। आपको खाना-पीना कठिन हो जाता। कोई उससे ऐसी बातें किया करे तो रात-की-रात बैठा रहे। मैंने एक दिन पूछा, 'आखिर यह बौड़म है कौन ? कोई पागल है क्या ?' एक सज्जन ने कहा— 'महाशय, पगला क्या है बस बौड़म है। घर में लाखों की सम्पत्ति है। शक्कर की एक मिल सिवान में है, दो कारखाने छपरे में हैं, तीन-तीन, चार-चार सौ के तलबवाले आदमी नौकर हैं, पर इसे देखिए फटे-हाल घूमा करता है। घर-

वालों ने सिवान भेज दिया था कि जाकर वहाँ निगरानी करे, पर दो ही महीनों में मैनेजर से लड़ बैठा; उसने यहाँ लिखा, मेरा इस्तीफा लीजिए, आपका लड़का मजदूरों को सिर चढ़ाये रहता है, वे मन से काम नहीं करते। आखिर घरवालों ने बुला लिया। नौकर-चाकर लूटते-खाते हैं उसकी तो जरा भी चिन्ता नहीं पर जो सामने आम का बाग है उसकी रात-दिन रखवाली किया करता है, क्या मजाल कि कोई एक पत्थर भी फेंक सके।' एक मियाँजी बोले—'बाबूजी, घर में तरह-तरह के खाने पकते हैं मगर उसकी तकदीर में वही रोटी और दाल लिखी हुई है, और कुछ खाता ही नहीं। बाप अच्छे-से-अच्छे कपड़े खरीदते हैं लेकिन यह उनकी तरफ निगाह तक नहीं उठाता। बस, वही मोटा कुरता पहने गाढ़े की तहमत बाँधे मारा-मारा फिरता है। आपसे उसकी सिफत कहाँ तक कहें, बस पूरा बौड़म है।'

( २ )

ये बातें सुनकर मुझे भी इस विचित्र व्यक्ति से मिलने की उत्कण्ठा हुई। सहसा एक आदमी ने कहा—'वह देखिए; बौड़मवा आ रहा है।' मैंने कुतूहल से उसकी ओर देखा। एक २०-२१ वर्ष का हृष्ट-पुष्ट युवक था। नंगे सिर, एक गाढ़े का कुरता पहने, गाढ़े का ढीला पाजामा पहने चला आता था! पैरों में जूते थे। पहले मेरी ही ओर आया। मैंने कहा—'आइए, बैठिए।' उसने मण्डली की ओर अवहेलना की दृष्टि से देखा और बोला—'अभी नहीं; फिर आऊँगा।' यह कहकर चला गया।

जब सन्ध्या हो गयी और सभा विसर्जित हुई तो वह आम के बाग की ओर से धीरे-धीरे आकर मेरे पास बैठ गया और बोला—इन लोगों ने तो मेरी खूब बुराइयाँ की होंगी। मुझे यहाँ बौड़म का लकब मिला है।

मैंने सकुचाते हुए कहा—हाँ आपकी चर्चा लोग रोज करते थे। मेरी आपसे मिलने की बड़ी इच्छा थी। आपका नाम क्या है?

बौड़म ने कहा—नाम तो मेरा मुहम्मद खलील है पर आस-पास के दस-पाँच गाँवों में मुझे लोग उर्फ के नाम से ज्यादा जानते हैं। मेरा उर्फ बौड़म है।

मैं—आखिर लोग आपको बौड़म क्यों कहते हैं?

खलील—उनकी खुशी और क्या कहूँ ? मैं जिन्दगी को कुछ और समझता हूँ, पर मुझे इजाजत नहीं है कि पाँचों वक्त की नमाज पढ़ सकूँ। मेरे वालिद हैं। चचा हैं। दोनो साहब पहर रात से पहर रात तक काम में मसरूफ रहते हैं। रात-दिन हिसाब-किताब, नफा-नुकसान, मन्दी-तेजी के सिवाय और कोई जिक्र ही नहीं होता, गोया खुदा के बन्दे न हुए इस दौलत के बन्दे हुए। चचा साहब हैं वह पहर रात तक शीरे के पीपों के पास खड़े होकर उन्हें गाड़ी पर लदवाते हैं। वालिद साहब अक्सर अपने हाथों से शक्कर का वजन करते हैं। दोपहर का खाना शाम को और शाम का खाना आधी रात को खाते हैं। किसी को नमाज पढ़ने की भी फुर्सत नहीं। मैं कहता हूँ, आप लोग इतना सिरमगजन क्यों करते हैं ? बड़े कारबार में सारा काम एतबार पर होता है। मालिक को कुछ-न-कुछ बल खाना ही पड़ता है। अपने बल-बूते पर तो छोटे कारोबार ही चल सकते हैं। मेरा उसूल किसी को पसन्द नहीं। इसलिए कि मैं बौड़म हूँ।

मैं—मेरे ख्याल में तो आप का उसूल ठीक है।

खलील—जी, ऐसा भूलकर भी न कहिएगा, वरना एक की जगह दो बौड़म हो जायँगे। लोगों को अपने कारबार के सिवा न दीन से गरज है न दुनिया से। न मुल्क से, न कौम से। मैं एक अखबार मँगाता हूँ, स्मर्ना फण्ड में कुछ रुपये भेजना चाहता हूँ। खिलाफत फण्ड की मदद करना भी अपना फर्ज समझता हूँ। सबसे बड़ा सितम यह है कि खिलाफत का रजाकार भी हूँ। क्यों साहब, जब कौम पर, मुल्क पर और दीन पर चारों तरफ से दुश्मनों का हमला हो रहा है तो क्या मेरा फर्ज नहीं है कि जाती फायदे को कौम पर कुर्बान दर दूँ ? इसी लिए घर और बाहर मुझे बौड़म का लकब दिया गया है।

मैं—आप तो वही कर रहे हैं जिसकी इस वक्त कौम को जरूरत है।

खलील—मुझे खौफ है कि इस चौपट नगरी से आप बदनाम होकर जायँगे। जब मेरे हजारों भाई जेल में पड़े हुए हैं, उन्हें गंजी-गाढ़ा तक पहनने को मयस्सर नहीं तो मेरी गैरत गवारा नहीं करती कि मैं मीठे लुकमे उड़ाऊँ और चिकन के कुर्त्ते पहनूँ जिनकी कलाइयों और मेढ़ों पर सीजनकारी की गई हो।

मैं—आप यह बहुत ही मुनासिब करते हैं। अफसोस है कि और लोग

आपका-सा त्याग करने के काबिल नहीं ।

खलील—मैं इसे त्याग नहीं समझता, न दुनिया को दिखाने के लिए यह भेष बनाये घूमता हूँ । मेरा जी ही लज्जत और शौक से फिर गया है । थोड़े दिन होते हैं वालिद ने मुझे सिवान के मिल की निगरानी के लिए भेजा । मैंने वहाँ जाकर देखा तो इञ्जीनियर साहब के खानसामे, बैरे, मेहतर, धोबी, माली, चौकीदार, सभी मजदूरों की जैल में लिखे हुए थे । काम साहब का करते थे; मज़दूरी कारखाने से पाते थे । साहब बहादुर खुद तो बे-उसूल हैं, पर मजदूरों पर इतनी सख्ती थी कि अगर पाँच मिनट की भी देर हो जाय तो उनकी आधे दिन की मजदूरी कट जाती थी । मैंने साहब की मिजाज-पुरसी करनी चाही । मजदूरों के साथ रियायत करनी शुरू की । फिर क्या था ! साहब बिगड़ गये; इस्तीफे की धमकी दी । घरवालों को उनके सब हालात मालूम हैं । पल्ले दरजे का हरामखोर आदमी है । लेकिन उसकी धमकी पाते ही सबके होश उड़ गये । मैं तार से वापस बुला लिया गया और घर पर मेरी खूब ले-दे हुई । पहले बौड़म होने में जो कुछ कोर-कसर थी वह पूरी हो गयी । न-जाने साहब से लोग क्यों इतना डरते हैं !

मैं—आपने वही किया जो इस हालत में मैं भी करता । बल्कि मैं तो पहले साहब पर गबन का मुकदमा दायर करता, बदमाशों से पिटवाता, तब बात करता । ऐसे हरामखोरों की यही सजाएँ हैं ।

खलील—फिर तो एक और, एक दो हो गये । अफसोस यही है कि आपका यहाँ कयाम न रहेगा । मेरा जी चाहता है, कि चन्द रोज आपके साथ रहूँ । मुद्दत के बाद आप ऐसे आदमी मिले हैं जिससे मैं अपने दिल की बातें कह सकता हूँ । इन गँवारों से मैं बोलता भी नहीं । मेरे चाचा साहब का जवानी में एक चमारिन से ताल्लुक हो गया था । उससे दो बच्चे, एक लड़का और एक लड़की पैदा हुए । चमारिन लड़की को गोद में छोड़कर मर गयी । तब से इन दोनों बच्चों की मेरे यहाँ वही हालत थी जो यतीमों की होती है । कोई बात न पूछता था । उनको खाने-पहनने को भी न मिलता । बेचारे नौकरों के साथ खाते और बाहर झोंपड़े में पड़े रहते थे । जनाब, मुझसे यह न देखा गया । मैंने उन्हें अपने दस्तरखान पर खिलाया और अब भी खिलाता हूँ । घर में

कुहराम मच गया। जिसे देखिए मुझ पर त्योरियाँ बदल रहा है; मगर मैंने परवाह न की। आखिर है वह भी तो हमारा ही खून। इसी लिए मैं बौड़म कहलाता हूँ।

मैं—जो लोग आपको बौड़म कहते हैं वे खुद बौड़म हैं।

खलील—जनाब, इनके साथ रहना अजाब है। शाहे काबुल ने कुर्बानी की मुमानियत कर दी है। हिन्दुस्तान के उलमा ने भी यही फतवा दिया, पर यहाँ खास मेरे घर कुर्बानी हुई। मैंने हरचन्द बावैला मचाया पर मेरी कौन सुनता है? उसका कफारा (प्रायश्चित) मैंने यह अदा किया कि अपनी सवारी का घोड़ा बेचकर ३०० फकीरों को खाना खिलाया और तब से कसाइयों को गायें लिये जाते देखता हूँ तो कीमत देकर खरीद लेता हूँ, इस वक्त तक दस गायों की जान बचा चुका हूँ। वे सब यहाँ हिन्दुओं के घरों में हैं। पर मजा यह है कि जिन्हें मैंने गायें दी हैं वे भी मुझे बौड़म कहते हैं। मैं भी इस नाम का इतना आदी हो गया हूँ कि अब मुझे इससे मुहब्बत-सी हो गयी है!

मैं—आप ऐसे बौडम काश मुल्क में और ज्यादा होते।

खलील—लीजिए आपने भी बनाना शुरू कर दिया। यह देखिए आम का बाग है। मैं उसकी रखवाली करता हूँ। लोग कहते हैं जहाँ हजारों का नुकसान हो रहा है वहाँ तो देख-भाल करता नहीं, जरा-सी बगिया की रखवाली में इतना मुस्तैद! जनाब, यहाँ लड़कों का यह हाल है कि एक आम तो खाते हैं और पचीस आम गिराते हैं। कितने ही पेड़ चोट खा जाते हैं और फिर किसी काम के नहीं रहते। मैं चाहता हूँ कि आम पक जायँ, टपकने लगें, तब जिसका जी चाहे चुन ले जाय। कच्चे आम खराब करने से क्या फायदा? यह भी बौड़मपने में दाखिल है।

( ३ )

ये बातें हो ही रही थीं कि सहसा तीन-चार आदमी एक बनिये को पकड़े, घसीटते हुए आते दिखाई दिये। पूछा तो उन चारों आदमियों में एक ने, जो सूरत से मौलवी मालूम होते थे, कहा—यह बड़ा बेईमान है, इसके बाँट कम हैं। अभी इसके यहाँ से सेर-भर घी ले गया हूँ, घर पर तौलता हूँ तो आध पाव गायब। अब जो लौटाने आया हूँ तो कहता है मैंने तो पूरा तौला था। पूछो

अगर तूने पूरा तौला था तो क्या मैं रास्ते में खा गया ! अब ले चलता हूँ थाने पर, वहीं इसकी मरम्मत होगी।

दूसरे महाशय, जो वहाँ डाकखाने के मुन्शी थे, बोले—इसकी हमेशा की यही आदत है, कभी पूरा नहीं तौलता। आज ही दो आने की शक्कर मँगवायी। लड़का घर लेकर गया तो मुश्किल से एक आने की थी। लौटाने आया तो आँखें दिखाने लगा। इसके बाटों की आज जरूर जाँच करानी चाहिए।

तीसरा आदमी अहीर था। अपने सिर पर से खली की गठरी उतारकर बोला—साहब, यह ॥) की खली है। ६ सेर के भाव से दी थी। घर पर तौला तो २ सेर हुई। लाया कि लौटा दूँगा, पर यह लेता ही नहीं। अब इसका निबटारा थाने में ही होगा। इस पर कई आदमियों ने कहा, यह सचमुच बेईमान आदमी है।

बनिये ने कहा—अगर मेरे बाँट रत्तीभर कम निकलें तो हजार रुपये डाँड़ दूँ।

मौलवी साहब ने कहा—तो कम्बख्त, तू टाँकी मारता होगा।

मुन्शीजी बोले—टाँकी मार देता है, यही बात है।

अहीर ने कहा—दोहरे बाँट रखे हैं। दिखाने के और, बेचने के और। इसके घर की पुलिस तलाशी ले।

बनिये ने फिर प्रतिवाद किया, पकड़नेवालों ने फिर आक्रमण किया, इसी तरह कोई आध घण्टा तक तकरार होती रही। मेरी समझ में न आता था कि क्या करूँ ! बनिये को छुड़ाने के लिए जोर दूँ या जाने दूँ। बनिये से सभी जले हुए मालूम होते थे। खलील को देखा तो गायब। न-जाने कब उठकर चला गया। बनिया किसी तरह न दबता था, यहाँ तक कि थाने जाने से भी न डरता था।

( ४ )

ये लोग थाने जाया ही चाहते थे कि बौड़म सामने से आता दिखायी दिया। उसके एक हाथ में एक कटोरा था, दूसरे हाथ में एक टोकरी और पीछे एक ७-८ बरस का लड़का। उसने आते ही मौलवी साहब से कहा—यह कटोरा

आप ही का है काजीजी ?

मौलवी—(चौंककर) हाँ है तो, फिर ? तुम मेरे घर से इसे क्यों लाये ?

बौड़म—इसलिए कि कटोरे में वही आध पाव घी है जिसके विषय में आप कहते हैं कि बनिये ने कम तौला। घी वही है। वजन वही है। बेईमानी गरीब बनिये की नहीं है, बल्कि काजी हाजी मौलवी जहूर अहमद की।

मौलवी—तुम अपना बौड़मपना यहाँ न दिखाना नहीं तो मैं किसी से डरने-वाला नहीं हूँ। तुम लखपती होगे तो अपने घर के होगे। तुम्हें क्या मजाज था मेरे घर में जाने का ?

बौड़म—वही जो आपको बनिये को थाने ले जाने का है। अब यह घी भी थाने जायगा।

मौलवी—(सिटपिटाकर) सब के घर में थोड़ी-बहुत चीज रखी ही रहती है। कसम कुरान शरीफ की, मैं अभी तुम्हारे वालिद के पास जाता हूँ, आज तक गाँव-भर में किसी ने मुझ पर ऐसा इलजाम नहीं लगाया था।

बनिया—मौलवी साहब आप जाते कहाँ हैं ? चलिए हमारा-आपका फैसला थाने में होगा। मैं एक न मानूँगा। कहलाने को मौलवी, दीनदार, ऐसे बनते हैं कि देवता ही हैं; पर घर में चीज रखकर दूसरों को बेईमान बनाते हैं। यह लम्बी दाढ़ी धोखा देने के लिए बढ़ायी है ?

मगर मौलवी साहब न रुके, बनिये को छोड़कर खलील के बाप के पास चले गये, जो इस वक्त शर्म से बचने का महज बहाना था।

तब खलील ने अहीर से कहा—क्यों बे, तू भी थाने जा रहा है ? चल मैं भी चलता हूँ। तेरे घर से यह सेर भर खली लेता आया हूँ।

अहीर ने मौलवी साहब की दुर्गति देखी तो चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं, बोला—भैया, जवानी की कसम है, मुझे मौलवी साहब ने सिखा दिया था।

खलील—दूसरों के सिखाने से तुम किसी के घर में आग लगा दोगे ? खुद तो बच्चा दूध में आधा पानी मिला-मिलाकर बेचते हो, मगर आज तुमको इतनी मुटमरदी सवार हो गयी कि एक भले आदमी को तबाह करने पर आमादा हो गये। खली उठाकर घर में रख ली उस पर बनिये से कहते हो कि कम तौला।

बनिया—भैया, मेरी लाख रुपये की इज्जत बिगड़ गयी। मैं थाने में रपट किये बिना न मानूँगा।

अहीर—साहुजी, अबकी माफ करो, नहीं तो कहीं का न रहूँगा।

तब खलील ने मुन्शीजी से कहा—कहिए जनाब, आपकी भी कलई खोलूँ या चुपके से घर की राह लीजिएगा।

मुन्शी—तुम बेचारे मेरी कलई क्या खोलोगे? मुझे भी अहीर समझ लिया है कि जो तुम्हारी झपकियों में आऊँगा?

खलील—(लड़के से) क्यों बेटा, तुम शक्कर लेकर सीधे घर चले गये थे?

लड़का—(मुन्शीजी को सशङ्क नेत्रों से देखकर) बताऊँगा।

मुन्शी—लड़कों को जैसा सिखा दोगे वैसा कहेंगे।

खलील—बेटा, अभी तुमने मुझसे जो कहा था वही फिर कह दो।

लड़का—दादा मारेंगे।

मुन्शी—क्या तूने रास्ते में शक्कर फाँक ली थी?

लड़का रोने लगा।

खलील—जी हाँ; इसने मुझसे खुद कहा। पर आपने उसे तो पूछा नहीं, बनिये के सिर हो गये। यही शराफत है?

मुन्शी—मुझे क्या मालूम था कि उसने रास्ते में यह शराफत की?

खलील—तो ऐसे कमजोर सबूत पर आप थाने क्योंकर चले थे? आप गँवारों को मनीआर्डर के रुपये देते हैं तो उस रुपये पर दो आने अपनी दस्तूरी काट लेते हैं। टके के पोस्टकार्ड आने में बेचते हैं, जब कहिए तब साबित कर दूँ। उसे क्या आप बेईमानी नहीं समझते?

मुन्शीजी ने बौड़म के मुँह लगना मुनासिब न समझा। लड़के को मारते हुए घर ले गये। बनिये ने बौड़म को खूब आशीर्वाद दिया। दर्शक लोग भी धीरे-धीरे चले गये। तब मैंने खलील से कहा—आपने इस बनिये की जान बचा ली नहीं तो बेचारा बेगुनाह पुलिस के पंजे में फँस जाता।

खलील—आप जानते हैं कि मुझे क्या सिला (इनाम) मिलेगा? थानेदार मेरे दुश्मन हो जायँगे। कहेंगे यह मेरे शिकारों को भगा दिया करता है। वालिद

साहब पुलिस से थर-थर काँपते हैं। मुझे आड़े हाथों लेंगे कि तू दूसरों के बीच में क्यों दखल देता है? यहाँ यह भी बौड़मपन में दाखिल है! एक बनिये के पीछे मुझे भले आदमियों की कलई खोलनी मुनासिब न थी। ऐसी हरकत बौड़म लोग किया करते हैं।

मैंने श्रद्धापूर्ण शब्दों में कहा—अब मैं आपको इसी नाम से पुकारूँगा। आज मुझे मालूम हुआ कि बौड़म देवताओं को कहा जाता है! जो स्वार्थ पर आत्मा की भेंट कर देता है वह चतुर है, बुद्धिमान है। जो आत्मा के सामने, सच्चे सिद्धान्त के सामने, सत्य के सामने, स्वार्थ की, निन्दा की परवाह नहीं करता वह बौड़म है, निर्बुद्धि है!

---

# गुप्तधन

बाबू हरिदास का ईंटों का पजावा शहर से मिला हुआ था। आस-पास के देहातों से सैकड़ों स्त्री, पुरुष, लड़के नित्य आते और पजावे से ईंटे सिर पर उठाकर ऊपर कतारों में सजाते। एक आदमी पजावे के पास एक टोकरी में कौड़ियाँ लिये बैठा रहता था। मजदूरों को ईंटों की संख्या के हिसाब से कौड़ियाँ बाँटता। ईंटें जितनी ही ज्यादा होतीं उतनी ही ज्यादा कौड़ियाँ मिलतीं। इस लोभ में बहुत से मजदूर बूते के बाहर काम करते। वृद्धों और बालकों को ईंटों के बोझ से अकड़े हुए देखना बहुत करुणाजनक दृश्य था। कभी-कभी बाबू हरिदास स्वयं आकर कौड़ीवाले के पास बैठ जाते और मजदूरों को और ईंटें लादने को प्रोत्साहित करते। यह दृश्य तब और भी दारुण हो जाता था जब ईंटों की कोई असाधारण आवश्यकता आ पड़ती। उसमें मजदूरी दूनी कर दी जाती थी और मजूर लोग अपनी सामर्थ्य से दूनी ईंटें लेकर चलते। एक-एक पग उठना कठिन हो जाता। उन्हें सिर से पैर तक पसीने में डूबे पजावे की राख शरीर पर चढ़ाये ईंटों का एक पहाड़ सिर पर रखे, बोझ से दबे देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो लोभ का भूत उन्हें जमीन पर पटककर उनके सिर पर

सवार हो गया है। सब से करुण दशा एक छोटे लड़के की थी जो सदैव अपनी अवस्था के लड़कों से दुगुनी ईंटें उठाता और सारे दिन अविश्रान्त परिश्रम और धैर्य के साथ अपने काम में लगा रहता। उसके मुख पर ऐसी दीनता छायी रहती थी, उसका शरीर इतना कृश और दुबल था कि उसे देखकर दया आ जाती थी। और लड़के बनिये की दुकान से गुड़ लाकर खाते, कोई सड़क पर से जानेवाले इक्कों और हवागाड़ियों की बहार देखता और कोई व्यक्तिगत संग्राम में अपनी जिह्वा और बाहु के जौहर दिखाता। लेकिन इस गरीब लड़के को अपने काम से काम था। उसमें लड़कपन की न चंचलता थी, न खिलाड़ीपन, यहाँ तक कि उसके ओठों पर कभी हँसी भी न आती थी। बाबू हरिदास को उसकी दशा पर दया आती। कभी-कभी कौड़ीवाले को इशारा करते कि उसे हिसाब से अधिक कौड़ियाँ दे दो। कभी-कभी वे उसे कुछ खाने को दे देते।

एक दिन उन्होंने उस लड़के को बुलाकर अपने पास बैठाया और उसके समाचार पूछने लगे। ज्ञात हुआ कि उसका घर पास ही के गाँव में है। घर में एक वृद्धा माता के सिवा कोई नहीं है और वह वृद्धा भी किसी पुराने रोग से ग्रस्त रहती है। घर का सारा भार इसी लड़के के सिर था। कोई उसे रोटियाँ बनाकर देनेवाला भी न था। शाम को घर जाता तो अपने हाथों से रोटियाँ बनाता और अपनी माँ को खिलाता था। जाति का ठाकुर था। किसी समय उसका कुल धन-धान्य-सम्पन्न था। लेन-देन होता था और शक्कर का कारखाना चलता था। कुछ जमीन भी थी, किन्तु भाइयों की स्पर्धा और विद्वेष ने उसे इतनी हीनावस्था को पहुँचा दिया कि अब रोटियों के लाले थे। लड़के का नाम मगनसिंह था।

हरिदास ने पूछा—गाँववाले तुम्हारी कुछ मदद नहीं करते?

मगन—वाह, उनका वश चले तो मुझे मार डालें। सब समझते हैं कि मेरे घर में रुपये गड़े हैं।

हरिदास ने उत्सुकता से पूछा—पुराना घराना है, कुछ-न-कुछ तो होगा ही। तुम्हारी माँ ने इस विषय में तुमसे कुछ नहीं कहा?

मगन—बाबूजी, कहीं एक पैसा भी नहीं। रुपये होते तो अम्मा इतनी तकलीफ क्यों उठातीं?

( २ )

बाबू हरिदास मगनसिंह से इतने प्रसन्न हुए कि उसे मजूरों की श्रेणी से उठाकर अपने नौकरों में रख लिया। उसे कौड़ियाँ बाँटने का काम दे दिया और पजावे में मुन्शीजी को ताकीद कर दी कि इसे कुछ लिखना-पढ़ना सिखाइए। अनाथ के भाग्य जाग उठे।

मगनसिंह बड़ा कर्त्तव्यशील और चतुर लड़का था। उसे कभी देर न होती, कभी नागा न होता। थोड़े ही दिनों में उसने बाबू साहब का विश्वास प्राप्त कर लिया। लिखने-पढ़ने में भी कुशल हो गया।

बरसात के दिन थे। पजावे में पानी भरा हुआ था। कारबार बन्द था। मगनसिंह तीन दिनों से गैरहाजिर था। हरिदास को चिन्ता हुई, क्या बात है, कहीं बीमार तो नहीं हो गया, कोई दुर्घटना तो नहीं हो गयी ? कई आदमियों से पूछताछ की, पर कुछ पता न चला। चौथे दिन पूछते-पूछते मगनसिंह के घर पहुँचे। घर क्या था पुरानी समृद्धि का ध्वंसावशेष मात्र था। उनकी आवाज सुनते ही मगनसिंह बाहर निकल आया। हरिदास ने पूछा—कई दिन से आये क्यों नहीं, माता का क्या हाल है ?

मगनसिंह ने अवरुद्ध कण्ठ से उत्तर दिया—अम्मा आजकल बहुत बीमार हैं, कहती हैं अब न बचूँगी। कई बार आपको बुलाने के लिए मुझसे कह चुकी है, पर मैं सङ्कोच के मारे आपके पास न आता था। अब आप सौभाग्य से आ गये हैं तो जरा चलकर उसे देख लीजिए। उनकी लालसा भी पूरी हो जाय।

हरिदास भीतर गये, सारा घर भौतिक निस्सारता का परिचायक था। सुर्खी, कङ्कड़, ईंटों के ढेर चारों ओर पड़े हुए थे। विनाश का प्रत्यक्ष स्वरूप था। केवल दो कोठरियाँ गुजर करने लायक थीं। मगनसिंह ने एक कोठरी की ओर उन्हें इशारे से बताया। हरिदास भीतर गये, तो देखा कि वृद्धा एक सड़े हुए काठ के टुकड़े पर पड़ी कराह रही है।

उनकी आहट पाते ही आँखें खोलीं और अनुमान से पहचान गयी, बोली—आप आ गये, बड़ी दया की। आपके दर्शनों की बड़ी अभिलाषा थी। मेरे अनाथ बालक के नाथ अब आप ही हैं। जैसे आपने अब तक उसकी रक्षा की है वही निगाह उस पर सदैव बनाये रखिएगा। मेरी विपत्ति के दिन पूरे हो

गये। इस मिट्टी को पार लगा दीजिएगा। एक दिन इस घर में लक्ष्मी का वास था। अदिन आये तो उन्होंने भी आँखें फेर लीं। पुरुषाओं ने इसी दिन के लिए कुछ थाती धरती माता को सौंप दी थी। उसका बीजक बड़े यत्न से रखा था; पर बहुत दिनों से उसका कहीं पता न चलता था। मगन के पिता ने बहुत खोजा पर न पा सके, नहीं तो हमारी दशा इतनी हीन न होती। आज तीन दिन हुए मुझे वह बीजक आप-ही-आप रद्दी कागजों में मिल गया। तब से उसे छिपाकर रखे हुए हूँ, मगन बाहर है न? मेरे सिरहाने जो सन्दूक रखी है उसी में वह बीजक है। उसमें सब बातें लिखी हैं। उसी से ठिकाने का भी पता चलेगा। अवसर मिले तो उसे खुदवा डालिएगा। मगन को दे दीजिएगा। यही कहने के लिए आपको बार-बार बुलाती थी। आपके सिवा मुझे किसी पर विश्वास न था। संसार से धर्म उठ गया। किसकी नीयत पर भरोसा किया जाय।

( ३ )

हरिदास ने बीजक का समाचार किसी से न कहा। नीयत बिगड़ गयी। दूध में मक्खी पड़ गयी। बीजक से ज्ञात हुआ कि धन उस घर से पचास डग पश्चिम की ओर एक मन्दिर के चबूतरे के नीचे है।

हरिदास धन को भोगना चाहते थे, पर इस तरह कि किसी को कानों-कान खबर न हो। काम कष्टसाध्य था। नाम पर धब्बा लगने की प्रबल आशंका थी जो संसार में सबसे बड़ी यन्त्रणा है। कितनी घोर नीचता थी। जिस अनाथ की रक्षा की, जिसे बच्चे की भाँति पाला उसके साथ विश्वासघात! कई दिनों तक आत्मवेदना की पीड़ा सहते रहे। अन्त को कुतर्कों ने विवेक को परास्त कर दिया। मैंने कभी धर्म का परित्याग नहीं किया और न कभी करूँगा। क्या कोई ऐसा प्राणी भी है जो जीवन में एक बार भी विचलित न हुआ हो। यदि है तो वह मनुष्य नहीं, देवता है। मैं मनुष्य हूँ। मुझे देवताओं की पंक्ति में बैठने का दावा नहीं है!

मन को समझाना बच्चे को फुसलाना है। हरिदास साँझ को सैर करने के लिए घर से निकल जाते। जब चारों ओर सन्नाटा छा जाता तो मन्दिर के चबूतरे पर आ बैठते और एक कुदाली से उसे खोदते। दिन में दो-एक बार इधर-

उधर ताक-झाँक करते कि कोई चबूतरे के पास खड़ा तो नहीं है। रात की निस्तब्धता में उन्हें अकेले बैठे ईंटों को हटाते हुए उतना ही भय होता था जितना किसी भ्रष्ट वैष्णव को आमिष भोजन से होता है।

चबूतरा लम्बा चौड़ा था। उसे खोदते एक महीना लग गया और अभी आधी मंजिल भी तय न हुई। इन दिनों उनकी दशा उस पुरुष की-सी थी जो कोई मन्त्र जगा रहा हो। चित्त पर चञ्चलता छायी रहती। आँखों की ज्योति तीव्र हो गयी थी। बहुत सुम-गुम रहते, मानो ध्यान में हैं। किसी से बात-चीत न करते, अगर कोई छेड़कर बात करता तो झुँझला पड़ते। पजावे की ओर बहुत कम जाते। विचारशील पुरुष थे। आत्मा बार-बार इस कुटिल व्यापार से भागती, निश्चय करते कि अब चबूतरे की ओर न जाऊँगा, पर सन्ध्या होते ही उन पर एक नशा-सा छा जाता, बुद्धि-विवेक का अपहरण हो जाता। जैसे कुत्ता मार खाकर थोड़ी देर के बाद फिर टुकड़े की लालच में आ बैठता है, वही दशा उनकी थी। यहाँ तक कि दूसरा मास भी व्यतीत हुआ।

अमावस की रात थी। हरिदास मलिन हृदय में बैठी हुई कालिमा की भाँति चबूतरे पर बैठे हुए थे। आज चबूतरा खुद जायगा। जरा देर तक और मेहनत करनी पड़ेगी। कोई चिन्ता नहीं। घर के लोग चिन्तित हो रहे होंगे। पर अभी निश्चय हुआ जाता है कि चबूतरे के नीचे क्या है। पत्थर का तहखाना निकल आया तो समझ जाऊँगा कि धन भी अवश्य होगा। तहखाना न मिले तो मालूम हो जायगा कि सब धोखा ही धोखा है। कहीं सचमुच तहखाना न मिले तो बड़ी दिल्लगी हो। मुफ्त में उल्लू बनूँ। पर नहीं; कुदाली खट-खट बोल रही है। हाँ पत्थर की चट्टान है। उन्होंने टटोलकर देखा। भ्रम दूर हो गया। चट्टान थी। तहखाना मिल गया। लेकिन हरिदास खुशी से उछले-कूदे नहीं।

आज वे लौटे तो सिर में दर्द था। समझे थकन है। लेकिन यह थकन नींद से न गयी। रात को ही उन्हें जोर का बुखार हो गया। तीन दिन तक वे ज्वर में पड़े रहे। किसी दवा से फायदा न हुआ।

इस रुग्णावस्था में हरिदास को बार-बार भ्रम होता था—कहीं यह मेरी तृष्णा का दण्ड तो नहीं है। जी में आता था मगनसिंह को बीजक दे दूँ और

क्षमा की याचना करूँ, पर भण्डाफोड़ होने का भय मुँह बन्द कर देता था। न-जाने ईसा के अनुयायी अपने पादरियों के सन्मुख कैसे अपने जीवन-भर के पापों की कथा सुनाया करते थे !

( ४ )

हरिदास की मृत्यु के पीछे वह बीजक उनके सुपुत्र प्रभुदास के हाथ लगा। बीजक मगनसिंह के पुरुषाओं का लिखा हुआ है, इसमें लेशमात्र भी सन्देह न था। लेकिन उन्होंने सोचा—पिताजी ने कुछ सोचकर ही इस मार्ग पर पग रखा होगा। वे कितने नीतिपरायण, कितने सत्यवादी पुरुष थे। उनकी नीयत पर कभी किसी को सन्देह नहीं हुआ। जब इन्होंने इस आचार को घृणित नहीं समझा तो मेरी क्या गिनती है ! कहीं यह धन हाथ आ जाय तो कितने सुख से जीवन व्यतीत हो। शहर के रईसों को दिखा दूँ कि धन का सदुपयोग क्योंकर होना चाहिए। बड़े-बड़े का सिर नीचा कर दूँ। कोई आँखें न मिला सके। इरादा पक्का हो गया।

शाम होते ही वे घर से निकले। वही समय था, वही चौकन्नी आँखें थीं और वही तेज कुदाली थी। ऐसा ज्ञात होता था मानो हरिदास की आत्मा इस नये भेष में अपना काम कर रही है।

चबूतरे का धरातल पहले ही खुद चुका था। अब संगीन तहखाना था, जोड़ों का हटाना कठिन था। पुराने जमाने का पक्का मसाला था, कुदाली उचट-उचटकर लौट आती थी। कई दिनों में ऊपर की दरारें खुलीं, लेकिन चट्टानें जरा भी न हिलीं। तब वह लोहे की छड़ से काम लेने लगे, लेकिन कई दिनों तक जोर लगाने पर भी चट्टानें न खिसकीं। सब-कुछ अपने ही हाथों करना था। किसी से सहायता न मिल सकती थी। यहाँ तक कि फिर वही अमावस्या की रात आयी। प्रभुदास को जोर लगाते बारह बज गये और चट्टानें भाग्य-रेखाओं की भाँति अटल थीं।

पर, आज इस समस्या को हल करना आवश्यक था। कहीं तहखाने पर किसी की निगाह पड़ जाय तो मेरे मन की लालसा मन ही में रह जाय।

वह चट्टान पर बैठकर सोचने लगे, क्या करूँ। बुद्धि कुछ काम नहीं करती। सहसा उन्हें एक युक्ति सूझी, क्यों न बारूद से काम लूँ ! इतने अधीर हो रहे

थे कि कल पर इस काम को न छोड़ सके। सीधे बाजार की तरफ चले, दो मील का रास्ता हवा की तरह तय किया। पर वहाँ पहुँचे तो दूकानें बन्द हो चुकी थीं। आतिशबाज हीले करने लगा। बारूद इस समय नहीं मिल सकती। सरकारी हुक्म नहीं है। तुम कौन हो? इस वक्त बारूद लेकर क्या करोगे? न भैया, कोई वारदात हो जाय तो मुफ़्त में बँधा-बँधा फिरूँ। तुम्हें कौन पूछेगा!

प्रभुदास की शान्त-वृत्ति कभी इतनी कठिन परीक्षा में न पड़ी थी। वे अन्त तक अनुनय-विनय ही करते रहे, यहाँ तक कि मुद्राओं की सुरीली झंकार ने उसे वशीभूत कर लिया। प्रभुदास यहाँ से चले तो धरती पर पाँव न पड़ते थे।

रात को दो बजे थे। प्रभुदास मन्दिर के पास पहुँचे। चट्टानों की दराजों में बारूद रखकर फलीता लगा दिया और दूर भागे। एक क्षण में बड़े जोर का धमाका हुआ। चट्टान उड़ गयी। अँधेरा गार सामने था, मानो कोई पिशाच उन्हें निगल जाने के लिए मुँह खोले हुए है।

( ५ )

प्रभात का समय था। प्रभुदास अपने कमरे में लेटे हुए थे। सामने लोहे के सन्दूक में दस हज़ार पुरानी मोहरें रखी हुई थीं। उनकी माता सिरहाने बैठी पंखा झल रही थी। प्रभुदास ज्वर की ज्वाला से जल रहे थे। करवटें बदलते थे, कराहते थे, हाथ-पाँव पटकते थे, पर आँखें लोहे की सन्दूक की ओर लगी हुई थीं। इसी में उनके जीवन की आशाएँ बन्द थीं।

मगनसिंह अब पजावे का मुन्शी था। इसी घर में रहता था। आकर बोला—पजावे चलिएगा? गाड़ी तैयार कराऊँ?

प्रभुदास ने उसके मुख की ओर क्षमा-याचना की दृष्टि से देखा और बोले—नहीं, मैं आज न चलूँगा, तबीयत अच्छी नहीं है। तुम भी मत जाओ।

मगनसिंह उनकी दशा देखकर डाक्टर को बुलाने चला।

दस बजते-बजते प्रभुदास का मुख पीला पड़ गया। आँखे लाल हो गयीं। माता ने उनकी ओर देखा तो शोक से विह्वल हो गयीं। बाबू हरिदास की अन्तिम दशा उसकी आँखों में फिर गयी। जान पड़ता था, यह उसी शोक-घटना की पुनरावृत्ति है। वह देवताओं की मनौतियाँ मना रही थी; किन्तु

प्रभुदास की आँखें उसी लोहे के सन्दूक की ओर लगी हुई थीं, जिस पर उन्होंने अपनी आत्मा अर्पण कर दी थी।

उनकी स्त्री आकर उनके पैताने बैठ गयी और बिलख-बिलखकर रोने लगी। प्रभुदास की आँखों से आँसू बह रहे थे, पर वे आँखें उसी लोहे के सन्दूक की ओर निराशा-पूर्ण भाव से देख रही थीं।

डाक्टर ने आकर देखा, दवा दी और चला गया। पर दवा का असर उल्टा हुआ। प्रभुदास के हाथ-पाँव सर्द हो गये, मुख निस्तेज हो गया, हृदय की गति मन्द पड़ गयी। पर आँखें सन्दूक की ओर से न हटीं।

मुहल्ले के लोग जमा हो गये। पिता और पुत्र के स्वभाव और चरित्र पर टिप्पणियाँ होने लगीं। दोनों शील और विनय के पुतले थे। किसी को भूल कर भी कड़ी बात न कही। प्रभुदास का सम्पूर्ण शरीर ठण्ढा हो गया था। प्राण था तो केवल आँखों में, वे अब भी उसी सन्दूक की ओर सतृष्ण भाव से देख रही थीं।

घर में कोहराम मचा हुआ था। दोनो महिलाएँ पछाड़ें खा-खाकर गिरती थीं। मुहल्ले की स्त्रियाँ उन्हें समझाती थीं। अन्य मित्रगण आँखों पर रुमाल जमाये हुए थे। जवानी की मौत संसार का सबसे करुण, सबसे अस्वाभाविक और सबसे भयंकर दृश्य है। यह वज्रघात है, विधाता की निर्दय लीला है। प्रभुदास का सारा शरीर प्राणहीन हो गया था, पर आँखें जीवित थीं। वे अब भी उसी सन्दूक की ओर लगी हुई थीं। जीवन ने तृष्णा का रूप धारण कर लिया था। साँस निकलती है, पर आवाज नहीं निकलती।

इतने में मगनसिंह सामने आकर खड़ा हो गया। प्रभुदास की निगाह उस पर पड़ी। ऐसा जान पड़ा मानो उनके शरीर में फिर रक्त का संचार हुआ। अंगों में स्फूर्ति के चिह्न दिखायी दिये। इशारे से अपने मुँह के निकट बुलाया, उसके कान में कुछ कहा, एक बार लोहे के सन्दूक की ओर इशारा किया और आँखें उलट गयीं, प्राण निकल गये।

---

# आदर्श विरोध

महाशय दयाकृष्ण मेहता के पाँव जमीन पर न पड़ते थे। उनको वह आकांक्षा पूरी हो गयी थी जो उनके जीवन की मधुर स्वप्न थी। उन्हें वह राज्याधिकार मिल गया था जो भारत-निवासियों के लिए जीवन-स्वर्ग है। वाइसराय ने उन्हें अपनी कार्यकारिणी सभा का मेम्बर नियुक्त कर दिया था।

मित्रगण उन्हें बधाइयाँ दे रहे थे। चारों ओर आनदोत्सव मनाया जा रहा था, कहीं दावतें होती थीं, कहीं आश्वासन-पत्र दिये जाते थे। यह उनका व्यक्तिगत सम्मान नहीं, राष्ट्रीय सम्मान समझा जाता था। अंगरेज अधिकारी-वर्ग भी उन्हें हाथों-हाथ लिये फिरता था।

महाशय दयाकृष्ण लखनऊ के एक सुविख्यात बैरिस्टर थे। बड़े उदार-हृदय, राजनीति में कुशल तथा राजभक्त थे। सदैव सार्वजनिक कार्यों में तल्लीन रहते थे। समस्त देश में शासन का ऐसा निर्भय, तत्वान्वेषी, ऐसा निस्पृह समालोचक न था और न प्रजा का ऐसा सूक्ष्मदर्शी, ऐसा विश्वसनीय और ऐसा सहृदय बंधु।

समाचार-पत्र में इस नियुक्ति पर खूब टीकाएँ हो रही थीं। एक ओर आवाज आती थी—'हम गवर्नमेंट को इस चुनाव पर बधाई नहीं दे सकते। दूसरी ओर के लोग कहते थे—'यह सरकारी उदारता और प्रजा-हित-चिन्ता का सर्वोत्तम प्रमाण है।' एक तीसरा दल भी था, जो दबी जबान से कहता कि—'राष्ट्र का एक और स्तम्भ गिर गया।'

संध्या समय था। कैसरपार्क में लिबरल लीग की ओर से महाशय मेहता को पार्टी दी गयी थी। प्रान्त भर के विशिष्ट पुरुष एकत्र थे। भोजन के पश्चात् सभापति ने अपनी वक्तृता में कहा—हमें पूरा विश्वास है कि आपका अधिकार-प्रवेश प्रजा के लिए हितकर होगा, और आपके प्रयत्नों से उन धाराओं में संशोधन हो जायगा जो हमारे राष्ट्र के जीवन में बाधक हैं।

महाशय मेहता ने उत्तर देते हुए कहा—राष्ट्र के कानून वर्तमान परि-स्थितियों के अधीन होते हैं। जब तक परिस्थिति में परिवर्तन न हो, कानून में

सुव्यवस्था की आशा करना भ्रम है।

सभा विसर्जित हो गयी। एक दल ने कहा—'कितना न्याययुक्त और प्रशंसनीय राजनैतिक सिद्धांत है।' दूसरा पक्ष बोला—'आ गये जाल में।' तीसरे दल ने नैराश्यपूर्ण भाव से सिर हिला दिया, पर मुँह से कुछ न कहा।

( २ )

मि० दयाकृष्ण को दिल्ली आये हुए एक महीना हो गया। फागुन का महीना था। शाम हो रही थी। वे अपने उद्यान में हौज के किनारे एक मखमली आराम-कुर्सी पर बैठे थे, मिसेज़ राजेश्वरी मेहता सामने बैठी हुई प्यानो बजाना सीखा रही थीं और मिस मनोरमा हौज की मछलियों को बिस्कुट के टुकड़े खिला रही थीं। सहसा उसने पिता से पूछा—यह अभी कौन साहब आये थे?

मेहता—कौंसिल के सैनिक मेम्बर हैं।

मनोरमा—वाइसराय के नीचे यही होंगे?

मेहता—वाइसराय के नीचे तो सभी हैं। वेतन भी सब का बराबर है। लेकिन इनकी योग्यता को कोई नहीं पहुँचता। क्यों राजेश्वरी तुमने देखा अंगरेज लोग कितने सज्जन और विनयशील होते हैं?

राजेश्वरी—मैं तो इन्हें विनय की मूर्ति कहती हूँ। इस गुण में भी ये हम से बढ़े हुए हैं। उनकी पत्नी मुझसे कितने प्रेम से गले मिलीं।

मनोरमा—मेरा तो जी चाहता था, उनके पैरों पर गिर पड़ूँ।

मेहता—मैंने ऐसे उदार, शिष्ट, निष्कपट और गुणग्राही मनुष्य नहीं देखे। हमारा दया-धर्म कहने ही को है। मुझे इसका बहुत खेद है कि अब तक क्यों इनसे बदगुमान रहा। सामान्यतः इनसे हम लोगों को जो शिकायतें हैं उनका कारण पारस्परिक सम्मिलन का न होना है। एक दूसरे के स्वभाव और प्रकृति से परिचित नहीं।

राजेश्वरी—एक यूनियन क्लब की बड़ी आवश्यकता है, जहाँ दोनों जातियों के लोग सहवास का आनन्द उठावें। मिथ्या द्वेष-भाव के मिटाने का एकमात्र यही उपाय है।

मेहता—मेरा भी यही विचार है। (घड़ी देखकर) ७ बज रहे हैं। व्यवसाय मण्डल के जलसे का समय आ गया। भारत-निवासियों की विचित्र दशा है

े समझते हैं कि हिन्दुस्तानी मेम्बर कौंसिल में आते ही हिन्दुस्तान के स्वामी ो जाते हैं। जो चाहें स्वच्छन्दता से कर सकते हैं। आशा की जाती है कि े शासन की प्रचलित नीति को पलट दें; नया आकाश और नया सूर्य बना ें। उन सीमाओं पर विचार नहीं किया जाता है जिनके अन्दर मेम्बरों को काम करना पड़ता है।

राजेश्वरी—इनमें उनका दोष नहीं। संसार की यह रीति है कि लोग अपनों से सभी प्रकार की आशा रखते हैं। अब तो कौंसिल के आधे मेम्बर हिन्दुस्तानी हैं। उनकी राय का सरकार की नीति पर असर नहीं हो सकता ?

मेहता—अवश्य हो सकता है, और हो रहा है, किन्तु उसकी नीति में परिवर्तन नहीं किया जा सकता। आधे नहीं—अगर सारे मेम्बर हिन्दुस्तानी हों तो भी वे नयी नीति का उद्घाटन नहीं कर सकते। वे कैसे भूल जायँ कि कौंसिल में उनकी उपस्थिति केवल सरकार की कृपा और विश्वास पर निर्भर है। उसके अतिरिक्त, यहाँ आकर उन्हें आन्तरिक अवस्था का अनुभव होता है और जनता की अधिकांश शंकाएँ असंगत प्रतीत होने लगती हैं, पद के साथ उत्तरदायित्व का भारी बोझ भी सिर पर आ पड़ता है। किसी नयी नीति की सृष्टि करते हुए उनके मन में यह चिन्ता उठनी स्वाभाविक है कि कहीं इसका फल आशा के विरुद्ध न हो। यहाँ वस्तुतः उनकी स्वाधीनता नष्ट हो जाती है। उन लोगों से मिलते हुए भी झिझकते हैं जो पहले उनके सहकारी थे, पर अब अपने उच्छृङ्खल विचारों के कारण सरकार की आँखों में खटक रहे हैं। वे अपनी वक्तृताओं में न्याय और सत्य की बातें करते हैं और सरकार की नीति को हानिकर समझते हुए भी उसका समर्थन करते हैं। जब उसके प्रतिकूल वे कुछ कर ही नहीं सकते, तो उसका विरोध करके अपमानित क्यों बनें ? इस अवस्था में यही सर्वोचित है कि शब्दाडम्बर से काम लेकर अपनी मानरक्षा की जाय। और सब से बड़ी बात यह है कि ऐसे सज्जन, उदार, नीतिज्ञ, शुभचिन्तकों के विरुद्ध कुछ कहना या करना मनुष्यत्व और सद्व्यवहार का गला घोंटना है। यह लो, मोटर आ गयी। चलो व्यवसाय-मण्डल में लोग आ गये होंगे।

ये लोग वहाँ पहुँचे तो करतलध्वनि होने लगी। सभापति महोदय ने एड्रेस

पढ़ा, जिसका निष्कर्ष यह था कि सरकार को उन शिल्प-कलाओं की रक्षा करनी चाहिए जो अन्य देशीय प्रतिद्वन्द्विता के कारण मिटी जाती हैं। राष्ट्र की व्यावसायिक उन्नति के लिए नये-नये कारखाने खोलने चाहिए और जब वे सफल हो जायँ तो उन्हें व्यावसायिक संस्थाओं के हवाले कर देना चाहिए। उन कलाओं की आर्थिक सहायता करना भी उसका कर्त्तव्य है, जो अभी शैशवावस्था में हैं, जिससे जनता का उत्साह बढ़े।

मेहता महोदय ने सभापति को धन्यवाद देने के पश्चात् सरकार की औद्योगिक नीति की घोषणा करते हुए कहा—आपके सिद्धान्त निर्दोष हैं, किन्तु उनको व्यवहार में लाना नितान्त दुस्तर है, गवर्नमेण्ट आपको सम्मति प्रदान कर सकती है, लेकिन व्यावसायिक कार्यों में अग्रसर बनना जनता का काम है। आपको स्मरण रखना चाहिए कि ईश्वर भी उन्हीं की सहायता करता है जो अपनी सहायता आप करते हैं। आपमें विश्वास, औद्योगिक उत्साह का बड़ा अभाव है। पग-पग पर सरकार के सामने हाथ फैलाना अपनी अयोग्यता और अकर्मण्यता की सूचना देना है।

दूसरे दिन समाचार-पत्रों में इस वक्तृता पर टीकाएँ होने लगीं। एक दल ने कहा—मिस्टर मेहता की स्पीच ने सरकार की नीति को बड़ी स्पष्टता और कुशलता से निर्धारित कर दिया है।

दूसरे दल ने लिखा—हम मिस्टर मेहता की स्पीच पढ़कर स्तम्भित हो गये। व्यवसाय-मण्डल ने वही पथ ग्रहण किया जिसके प्रदर्शक स्वयं मिस्टर मेहता थे। उन्होंने इस लोकोक्ति को चरितार्थ कर दिया कि 'नमक की खान में जो कुछ जाता है नमक हो जाता है।'

तीसरे दल ने लिखा—हम मेहता महोदय के इस सिद्धान्त से सम्पूर्ण सहमत हैं कि हमें पग-पग पर सरकार के सामने दीनभाव से हाथ न फैलाना चाहिए। यह वक्तृता उन लोगों की आँखें खोल देगी जो कहते हैं कि हमें योग्यतम पुरुषों को कौंसिल में भेजना चाहिए। व्यवसाय-मण्डल के सदस्यों पर दया आती है जो आत्मविश्वास का उपदेश ग्रहण करने के लिए कानपुर से दिल्ली गये थे।

( ३ )

चैत का महीना था। शिमला आबाद हो चुका था। मेहता महाशय अपने पुस्तकालय में बैठे हुए कुछ पढ़ रहे थे कि राजेश्वरी ने आकर पूछा—ये कैसे पत्र हैं ?

मेहता—यह आय-व्यय का मसविदा है। आगामी सप्ताह में कौंसिल में पेश होगा। इनकी कई मदें ऐसी हैं जिन पर मुझे पहले भी शंका थी और अब भी है। अब समझ में नहीं आता कि इस पर अनुमति कैसे दूँ। यह देखो, तीन करोड़ रुपये उच्च कर्मचारियों की वेतनवृद्धि के लिए रखे गये हैं। यहाँ कर्मचारियों का वेतन पहले से ही बढ़ा हुआ है। इस वृद्धि की जरूरत ही नहीं, पर यह बात जबान पर कैसे लाऊँ ! जिन्हें इससे लाभ होगा वे सभी नित्य के मिलनेवाले हैं। सैनिक व्यय में बीस करोड़ बढ़ गये हैं। जब हमारी सेनाएँ अन्य देशों में भेजी जाती हैं तो विदित ही है कि वह हमारी आवश्यकता से अधिक हैं, लेकिन इस मद का विरोध करूँ तो कौंसिल मुझ पर उँगलियाँ उठाने लगे।

राजेश्वरी—इस भय से चुप रह जाना तो उचित नहीं। फिर तुम्हारे यहाँ आने से ही क्या लाभ हुआ ?

मेहता—कहना तो आसान है पर करना कठिन है, यहाँ जो-कुछ आदर-सम्मान है सब हाँ-हुजूर में है। वाइसराय की निगाह जरा तिरछी हो जाय, तो कोई पास भी न फटके। नक्कू बन जाऊँ। यह लो, राजा भद्रबहादुर सिंह जी आ गये।

राजेश्वरी—शिवराजपुर कोई बड़ी रियासत है ?

मेहता—हाँ, १५ लाख वार्षिक से कम आय न होगी और फिर स्वाधीन राज्य है।

राजेश्वरी—राजा साहब मनोरमा की ओर बहुत आकर्षित हो रहे हैं। मनोरमा को भी उनसे प्रेम होता जान पड़ता है।

मेहता—यह सम्बन्ध हो जाय तो क्या पूछना। यह मेरा अधिकार है जो राजा साहब को इधर खींच रहा है। लखनऊ में ऐसे सुअवसर कहाँ थे ? वह देखो अर्थसचिव मिस्टर काक आ गये।

काक—(मेहता से हाथ मिलाते हुए) मिसेज़ मेहता, मैं आपके पहनावे पर आसक्त हूँ। खेद है, हमारी लोडियाँ साड़ी नहीं पहनतीं।

राजेश्वरी—मैं तो अब गाउन पहनना चाहती ।

काक—नहीं मिसेज़ मेहता; खुदा के वास्ते यह अनर्थ न करना। मिस्टर मेहता, मैं आपके वास्ते एक बड़ी खुशखबरी लाया हूँ। आपके सुयोग्य पुत्र अभी आ रहे हैं या नहीं? महाराज भिन्द उन्हें अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बनाना चाहते हैं। आप उन्हें आज ही सूचना दे दें।

मेहता—मैं आपका बहुत अनुगृहीत हूँ।

काक—तार दे दीजिए तो अच्छा हो। आपने काबुल की रिपोर्ट तो पढ़ी होगी। हिज़ मैजेस्टी अमीर हमसे सन्धि करने के लिए उत्सुक नहीं जान पड़ते वे बोल्शेविकों की ओर झुके हुए हैं। अवस्था चिन्ताजनक है।

मेहता—मैं तो ऐसा नहीं समझता। गत शताब्दी में काबुल को भारत पर आक्रमण करने का साहस कभी न हुआ। भारत ही अग्रसर हुआ। हाँ वे लोग अपनी रक्षा करने में कुशल हैं।

काक—लेकिन क्षमा कीजिएगा, आप भूले जाते हैं कि ईरान, अफगानिस्तान और बोल्शेविस्टों में सन्धि हो गयी है। क्या हमारी सीमा पर इतने शत्रुओं का जमा हो जाना चिन्ता की बात नहीं? उनसे सतर्क रहना हमारा कर्त्तव्य है।

इतने में लञ्च (जलपान) का समय आ गया। लोग मेज़ पर जा बैठे। उस समय घुड़दौड़ और नाट्यशाला की चर्चा ही रुचिकर प्रतीत हुई।

( ४ )

मेहता महोदय ने बजट पर जो विचार प्रकट किये उनसे समस्त देश में हलचल मच गयी। एक दल उन विचारों को देववाणी समझता था, दूसरा दल भी कुछ अंशों को छोड़कर शेष विचारों से सहमत था; किन्तु तीसरा दल वक्तृता के एक-एक शब्द पर निराशा से सिर धुनता और भारत की अधोगति पर रोता था। उसे विश्वास ही न आता था कि ये शब्द मेहता की जबान से निकले होंगे :

मुझे आश्चर्य है कि गैर-सरकारी सदस्यों ने एक स्वर से प्रस्तावित व्यय के उस भाग का विरोध किया है जिस पर देश की रक्षा और शान्ति, सुदशा

ौर उन्नति अवलम्बित है। आप शिक्षा-सम्बन्धी सुधारों को, आरोग्य-विधान ा, नहरों की वृद्धि को अधिक महत्वपूर्ण समझते हैं। आपको अल्प वेतनवाले र्मचारियों का अधिक ध्यान है। मुझे आप लोगों के राजनैतिक ज्ञान पर इससे ाधिक विश्वास था। शासन का प्रधान कर्त्तव्य भीतर और बाहर की अशा-तकारी शक्तियों से देश को बचाना है। शिक्षा और चिकित्सा, उद्योग और ावसाय गौण कर्त्तव्य हैं। हम अपनी समस्त प्रजा को अज्ञान-सागर में निमग्न ख सकते हैं, समस्त देश को प्लेग और मलेरिया से ग्रसित रख सकते हैं, अल्प तनवाले कर्मचारियों को दारुण चिन्ता का आहार बना सकते हैं, कृषकों को कृति की अनिश्चित दशा पर छोड़ सकते हैं, किन्तु अपनी सीमा पर किसी ात्रु को खड़े नहीं देख सकते। अगर हमारी आय सम्पूर्णतः देश-रक्षा पर सम-ित हो जाय, तो भी हमको आपत्ति न होनी चाहिए। आप कहेंगे इस समय कसी आक्रमण की सम्भावना नहीं है। मैं कहता हूँ संसार में असम्भव का राज्य ः। हवा में रेल चल सकती है, पानी में आग लग सकती है, वृक्षों में वार्ता-ाप हो सकता है, जड़ चैतन्य हो सकता है। क्या ये रहस्य नित्य प्रति हमारी ाजरों से नहीं गुजरते? आप कहेंगे राजनीतिज्ञों का काम सम्भावनाओं के पीछे ौड़ना नहीं, वर्तमान और निकट भविष्य की समस्याओं को हल करना है। ाजनीतिज्ञों के कर्तव्य क्या हैं, मैं इस बहस में नहीं पड़ना चाहता, लेकिन इतना ो सभी मानते हैं कि पथ्य, औषधि-सेवन से अच्छा होता है। आपका केवल यही धर्म नहीं कि सरकार के सैनिक व्यय का समर्थन करें, बल्कि यह मन्तव्य आपकी ओर से पेश होना चाहिए! आप कहेंगे कि स्वयंसेवकों की सेना बढ़ायी जाय। सरकार को हाल के महासंग्राम में इसका बहुत ही खेदजनक अनुभव हो चुका है। शिक्षित वर्ग विलासप्रिय, साहसहीन और स्वार्थसेवी है। देहात के लोग शान्तिप्रिय, संकीर्ण हृदय (मैं भीरु न कहूँगा) और गृहसेवी हैं। उनमें वह आत्मत्याग कहाँ, वह वीरता कहाँ, अपने पुरुषाओं की वह वीरता कहाँ! और शायद मुझे यह याद दिलाने की जरूरत नहीं कि किसी शान्तिप्रिय जनता को आप दो-चार वर्षों में रणकुशल और समर-प्रवीण नहीं बना सकते।

( ५ )

जेठ का महीना था, लेकिन शिमले में न लू की ज्वाला थी और न धूप

की ताप। महाशय मेहता विलायती चिट्ठियाँ खोल रहे थे, बालकृष्ण का प देखते ही फड़क उठे, लेकिन जब उसे पढ़ा तो मुख-मण्डल पर उदासी छ गयी। पत्र लिये हुए राजेश्वरी के पास आये। उसने उत्सुक होकर पूछा—बाल का पत्र आया ?

मेहता—हाँ, यह है।

राजेश्वरी—कब आ रहे हैं ?

मेहता—आने-जाने के विषय में कुछ नहीं लिखा, बस सारे पत्र में मे जाति-द्रोह और दुर्गति का रोना है। उसकी दृष्टि में मैं जाति का शत्रु, धूर्त स्वार्थान्ध, दुरात्मा, सब-कुछ हूँ। मैं नहीं समझता कि उसके विचारों में इतन अन्तर कैसे हो गया। मैं तो उसे बहुत ही शान्त-प्रकृति, गम्भीर, सुशील, सच्च रित्र और सिद्धान्तप्रिय नवयुवक समझता था और उस पर गर्व करता था और फिर यह पत्र लिखकर ही उसे सन्तोष नहीं हुआ। उसने मेरी स्पीच का विस्तृत विवेचन भी एक प्रसिद्ध अंग्रेजी पत्रिका में छपवाया है। इतनी कुशल हुई कि वह लेख अपने नाम से नहीं लिखा, नहीं तो मैं कहीं मुँह दिखाने योग्य न रहता। मालूम नहीं यह किन लोगों की कुसङ्गति का फल है? महाराजा भिन्द की नौकरी उसके विचार में गुलामी है, राजा भद्रबहादुर सिंह के साथ मनोरमा का विवाह घृणित और अपमानजनक है। उसे इतना साहस कि मुझे धूर्त, मक्कार, ईमान बेचनेवाला, कुलद्रोही कहे! यह अपमान! मैं उसका मुँह नहीं देखना चाहता....

राजेश्वरी—लाओ, जरा इस पत्र को मैं भी देखूँ, यह तो इतना मुँहफट न था।

यह कहकर उसने पति के हाथ से पत्र लिया और एक मिनट में आद्यन्त पढ़कर बोली—यह सब कटु बातें कहाँ हैं ? मुझे तो इसमें एक भी अपशब्द नहीं मिलता।

मेहता—भाव देखो, शब्दों पर न जाओ।

राजेश्वरी—जब तुम्हारे और उसके आदर्शों में विरोध है तो उसे तुमपर श्रद्धा क्योंकर हो सकती है ?

लेकिन मेहता महोदय जामे से बाहर हो रहे थे। राजेश्वरी की सहिष्णुता-

र्ग बातों से वे और जल उठे। दफ्तर में जाकर उसी क्रोध में पुत्र को पत्र लखने लगे जिसका एक-एक शब्द छुरी और कटार से भी ज्यादा तीखा था।

( ६ )

उपर्युक्त घटना के दो सप्ताह पीछे मिस्टर मेहता ने विलायती डाक खोली । बालकृष्ण का कोई पत्र न था। समझे मेरी चोटें काम कर गयीं, आ गया ीधे रास्ते पर, तभी तो उत्तर देने का साहस नहीं हुआ। 'लन्दन टाइम्स' की वट फाड़ी (इस पत्र को बड़े चाव से पढ़ा करते थे) और तार की खबरें देखने ागे। सहसा उनके मुँह से एक आह निकली। पत्र हाथ से छूटकर गिर पड़ा। हला ही समाचार था—

लन्दन में भारतीय देशभक्तों का जमाव, आनरेबुल मिस्टर मेहता की वक्तृता पर असन्तोष, मिस्टर बालकृष्ण मेहता का विरोध और आत्महत्या

गत शनिवार को बैक्सटन हाल में भारतीय युवकों और नेताओं की एक ड़ी सभा हुई, सभापति मिस्टर तालिबजी ने कहा—हमको बहुत खोजने पर ी कौंसिल के किसी अङ्गरेज मेम्बर की वक्तृता में ऐसे मर्मभेदी, ऐसे कठोर ाब्द नहीं मिलते। हमने अब तक किसी राजनीतिज्ञ के मुख से ऐसे भ्रान्ति- ारक, ऐसे निरंकुश विचार नहीं सुने। इस वक्तृता ने सिद्ध कर दिया कि ारत के उद्धार का कोई उपाय है तो वह स्वराज्य है जिसका आशय है मन ौर वचन का पूर्ण स्वाधीनता। क्रमागत उन्नति (Evolution) पर से यदि मारा एतबार अब तक नहीं उठा था तो अब उठ गया। हमारा रोग असाध्य ो गया है। यह अब चूर्णों और अवलेहों से अच्छा नहीं हो सकता। उससे नवृत्त होने के लिए हमें कायाकल्प की आवश्यकता है। ऊँचे राज्यपद हमें वाधीन नहीं बनाते बल्कि हमारी आध्यात्मिक पराधीनता को और भी पुष्ट कर ते हैं। हमें विश्वास है कि आनरेबुल मिस्टर मेहता ने जिन विचारों का प्रति- ादन किया है उन्हें वे अन्तःकरण से मिथ्या समझते हैं, लेकिन सम्मान-लालसा, ाय, प्रेम और पदानुराग ने उन्हें अपनी आत्मा का गला घोंटने पर बाध्य कर दया है....(किसी ने उच्च स्वर से कहा, यह मिथ्या दोषारोपण....)

लोगों ने विस्मित होकर देखा तो मिस्टर बालकृष्ण अपनी जगह पर खड़े

थे। क्रोध से उनका शरीर काँप रहा था। वे बोलना चाहते थे, लेकिन लोगों ने उन्हें घेर लिया और उनकी निन्दा और अपमान करने लगे। सभापति ने बड़ी कठिनाई से लोगों को शान्त किया, किन्तु मिस्टर बालकृष्ण वहाँ से उठ-कर चले गये।

दूसरे दिन जब मित्रगण बालकृष्ण से मिलने गये तो उनकी लाश फर्श पर पड़ी हुई थी। पिस्तौल की दो गोलियाँ छाती से पार हो गयी थीं। मेज पर उनकी डायरी खुली पड़ी थी, उस पर ये पंक्तियाँ लिखी हुई थीं :

आज सभा में मेरा गर्व दलित हो गया। मैं यह अपमान नहीं सह सकता। मुझे अपने पूज्य पिता के प्रति ऐसे कितने ही निन्दासूचक दृश्य देखने पड़ेंगे। इस आदर्श विरोध का अन्त ही कर देना अच्छा है। सम्भव है, मेरा जीवन उनके निर्दिष्ट मार्ग में बाधक हो। ईश्वर मुझे बल प्रदान करे!!

---

# विषम समस्या

मेरे दफ्तर में चार चपरासी थे, उनमें एक का नाम गरीब था। बहुत ही सीधा, बड़ा आज्ञाकारी, अपने काम में चौकस रहनेवाला, घुड़कियाँ खाकर चुप रह जानेवाला, यथा नाम तथा गुण मनुष्य था। मुझे इस दफ्तर में आये साल-भर हो गया था। मगर मैंने उसे एक दिन के लिए भी गैरहाजिर नहीं पाया था। मैं उसे ९ बजे दफ्तर में अपनी फटी दरी पर बैठे हुए देखने का ऐसा आदी हो गया था मानो वह भी उसी इमारत का कोई अङ्ग है। इतना सरल था कि किसी की बात टालना जानता ही न था। एक चपरासी मुसलमान था। उससे सारा दफ्तर डरता था, मालूम नहीं क्यों? मुझे तो इसका कारण सिवाय उसकी बड़ी-बड़ी बातों के और कुछ नहीं मालूम होता था। उसके कथनानुसार उसके चचेरे भाई रामपुर रियासत में कोतवाल थे। उसे सर्वसम्मति ने काजी की उपाधि दे रखी थी, शेष दो महाशय जाति के ब्राह्मण थे। उनके आशीर्वाद का मूल्य उनके काम से कहीं अधिक था। ये

तीनों कामचोर, गुस्ताख और आलसी थे। कोई छोटा-सा भी काम करने को कहिए तो बिना नाक-भौं सिकोड़े न करते थे। क्लर्कों को तो कुछ समझते ही न थे। केवल बड़े बाबू से कुछ दबते थे; यद्यपि कभी-कभी उनसे भी बेअदबी कर बैठते थे। मगर इन सब दुर्गुणों के होते हुए भी उनमें से किसी की मिट्टी इतनी खराब नहीं थी जितनी बेचारे गरीब की। तरक्की का अवसर आता तो ये तीनों नम्बर मार ले जाते, गरीब को कोई पूछता भी न था। और सब दस-दस रुपये पाते थे, पर बेचारा गरीब सात ही पर पड़ा हुआ था। सुबह से शाम तक उसके पैर एक क्षण के लिए भी न टिकते थे। यहाँ तक कि तीनों चपरासी भी उस पर रोब जमाते और ऊपर की आमदनी में उसे कोई भाग न देते थे। तिस पर दफ्तर के सब कर्मचारी दफ्तरी से लेकर बड़े बाबू तक उससे चिढ़ा करते। उसको कितनी ही बार जुर्माना हो चुका था और डाँट-फटकार तो नित्य का व्यवहार था। इसका रहस्य मेरी समझ में कुछ नहीं आता था। मुझे उस पर दया आती थी और अपने बर्ताव से मैं यह दिखाना चाहता था कि उसका आदर मेरी दृष्टि में अन्य तीनों चपरासियों से कम नहीं है। यहाँ तक कि कई बार मैं उसके पीछे कर्मचारियों से लड़ भी चुका था।

( २ )

एक दिन बड़े बाबू ने गरीब से अपनी मेज साफ करने को कहा। वह तुरन्त मेज साफ करने लगा। दैवयोग से झाड़न का झटका लगा तो दावात उलट गयी और रोशनाई मेज पर फैल गयी। बड़े बाबू यह देखते ही जामे से बाहर हो गये। उसके दोनों कान पकड़कर खूब ऐंठे और भारतवर्ष की सभी प्रचलित भाषाओं से दुर्वचन चुन-चुनकर उसे सुनाने लगे। बेचारा गरीब आँखों में आँसू भरे चुपचाप मूर्तिवत् सुनता था, मानो उसने कोई हत्या कर डाली हो। मुझे बड़े बाबू का जरा-सी बात पर इतना भयङ्कर रौद्ररूप धारण करना बुरा मालूम हुआ। यदि किसी दूसरे चपरासी ने इससे भी बड़ा अपराध किया होता तो शायद उस पर इतना कठोर वज्रप्रहार न होता। मैंने अँगरेजी में कहा—बाबू साहब, यह अन्याय कर रहे हैं, उसने जान बूझकर तो रोशनाई गिरायी नहीं। इसका इतना कड़ा दण्ड देना अनौचित्य की पराकाष्ठा है।

बाबूजी ने नम्रता से कहा—आप इसे जानते नहीं, यह बड़ा दुष्ट है।

'मैं तो इसकी कोई दुष्टता नहीं देखता।'

'आप अभी इसे जानते नहीं। यह बड़ा पाजी है। इसके घर दो हलों की खेती होती है, हजारों का लेन-देन करता है, कई भैंसें लगती हैं, इन्हीं बातों का इसे घमण्ड है।'

'घर की दशा ऐसी ही होती तो आपके यहाँ चपरासीगिरी क्यों करता?'

बड़े बाबू ने गम्भीर भाव से कहा—विश्वास मानिए, बड़ा पोढ़ा आदमी है, और बला का मक्खीचूस है।

'यदि ऐसा ही हो तो कोई अपराध नहीं है।'

'अभी आप यहाँ कुछ दिन और रहिए तो आपको मालूम हो जायगा कि यह कितना कमीना आदमी है।'

एक दूसरे महाशय बोल उठे—भाई साहब, इसके घर मनों दूध होता है, मनों जुआर, चना, मटर होती है, लेकिन इसकी कभी इतनी हिम्मत नहीं होती कि थोड़ा-सा दफ्तरवालों को भी दे दे। यहाँ इन चीजों के लिए तरस-तरस कर रह जाते हैं। तो फिर क्यों न जी जले और यह सब-कुछ इसी नौकरी की बदौलत हुआ है। नहीं तो पहले इसके घर में भूनी भाँग तक न थी।

बड़े बाबू सकुचाकर बोले—यह कोई बात नहीं; उसकी चीज है चाहे किसी को दे या न दे।

मैं इसका मर्म कुछ-कुछ समझ गया। बोला—यदि ऐसे तुच्छ हृदय का आदमी है तो वास्तव में पशु ही है। मैं यह न जानता था।

अब बड़े बाबू भी खुले, संकोच दूर हुआ। बोले—इन बातों से उबार तो होता नहीं, केवल देनेवाले की सहृदयता प्रकट होती है, और आशा भी उसी से की जाती है जो इस योग्य है। जिसमें कुछ सामर्थ्य ही न हो उससे कोई आशा भी नहीं करता। नंगे से कोई क्या लेगा?

रहस्य खुल गया। बड़े बाबू ने सरल भाव से सारी अवस्था दर्शा दी। समृद्धि के शत्रु सब होते हैं; छोटे ही नहीं, बड़े भी। हमारी ससुराल या ननि-हाल दरिद्र हो तो हम उससे कुछ आशा नहीं रखते। कदाचित् हम उसे भूल जाते हैं, किन्तु वे समर्थवान होकर हमें न पूछें, हमारे यहाँ तीज और चौथ न भेजें, तो हमारे कलेजे पर साँप लोटने लगता है।

हम अपने किसी निर्धन मित्र के पास जायँ तो उसके एक बीड़े पान ही पर सन्तुष्ट हो जाते हैं, पर ऐसा कौन मनुष्य है जो किसी धनी मित्र के घर से बिना जलपान किये हुए लौटे और सदा के लिए उसका तिरस्कार न करने लगे। सुदामा कृष्ण के घर से यदि निराश लौटते तो कदाचित् वे उनके शिशुपाल और जरासिन्धु से भी बड़े शत्रु होते।

( ३ )

कई दिन पीछे मैंने गरीब से पूछा—क्यों जी तुम्हारे घर कुछ खेती-बारी होती है ?

गरीब ने दीनभाव से कहा—हाँ सरकार, होती है, आपके दो गुलाम हैं, वही करते हैं।

'मैंने पूछा—गायें-भैंसें भी लगती हैं ?

'हाँ हुजूर, दो भैंसें लगती हैं। गाय अभी गाभिन हैं। आप लोगों की दया से पेट की रोटियाँ चली जाती हैं।'

'दफ्तर के बाबू लोगों को भी कभी कुछ खातिर करते हो ?'

गरीब ने दीनतापूर्ण आश्चर्य से कहा—हुजूर, मैं सरकार लोगों की क्या खातिर कर सकता हूँ। खेती में जौ, चना, मक्का, जुवार, घासपात के सिवाय और क्या होता है ! आप लोग राजा हैं, यह मोटी-झोंटी चीजें किस मुँह से आपको भेंट करूँ। जी डरता है कि कहीं कोई डाँट न बैठे कि टके के आदमी की इतनी मजाल ! इसी मारे बाबूजी, कभी हियाव नहीं पड़ता। नहीं तो दूध दही की कौन बिसात थी ? मुंह के लायक बीड़ा तो होना चाहिए।

'भला एक दिन कुछ लाके दो तो; देखो लोग क्या कहते हैं। शहर में ये चीजें कहाँ मयस्सर होती हैं ! इन लोगों का जी भी तो कभी-कभी मोटी-झोंटी चीजों पर चला करता है।'

'जो सरकार कोई कुछ कहे तो ? कहीं साहब से शिकायत कर दे तो मैं कहीं का न रहूँ।'

'इसका मेरा जिम्मा है, तुम्हें कोई कुछ न कहेगा, कोई कुछ कहेगा भी, तो मैं उसे समझा दूँगा।'

'हजूर, आजकल तो मटर की फसल है और कोल्हू भी खड़े हो गये हैं।

इसके सिवाय तो और कुछ भी नहीं है।'

'बस तो यही चीजें लाओ।'

'कुछ उल्टी-सीधी पड़ी तो आप ही को सँभालना पड़ेगा।'

'हाँ जी, कह तो दिया मैं देख लूँगा।'

दूसरे दिन गरीब आया तो उसके साथ तीन हृष्ट-पुष्ट युवक भी थे। दो के सिरों पर दो टोकरियाँ थीं। उनमें मटर की फलियाँ भरी हुई थीं। एक के सिर पर मटका था जिसमें ऊख का रस था। तीनों युवक ऊख का एक-एक गट्ठा काँख में दबाये हुए थे। गरीब आकर चुपके से बरामदे के सामने पेड़ के नीचे खड़ा हो गया। दफ्तर में उसे आने का साहस नहीं होता था मानो कोई अपराधी है। वृक्ष के नीचे खड़ा ही था कि इतने में दफ्तर के चपरासियों और अन्य कर्मचारियों ने उसे घेर लिया। कोई ऊख लेकर चूसने लगा। कई आदमी टोकरों पर टूट पड़े। इतने में बड़े बाबू भी दफ्तर में आ पहुँचे। यह कौतुक देखकर उच्च स्वर से बोले—यह क्या भीड़ लगा रखी है ? चलो अपना-अपना काम देखो।

मैंने जाकर उनके कान में कहा—गरीब अपने घर से यह सौगात लाया है, कुछ आप लीजिए, कुछ हम लोगों को बाँट दीजिए।

बड़े बाबू ने कृत्रिम क्रोध धारण करके कहा—क्यों गरीब, तुम यह चीजें यहाँ क्यों लाये ? अभी लौटा ले जाओ, नहीं तो मैं अभी साहब से कह दूँगा। क्या हम लोगों को मरभूका समझ लिया ?

गरीब का रंग उड़ गया। थर-थर काँपने लगा। मुँह से एक शब्द भी नहीं निकला। मेरी ओर अपराधी नेत्रों से ताकने लगा।

मैंने उसकी ओर से क्षमा-प्रार्थना की। बहुत कहने-सुनने पर बाबू साहब राजी हुए। सब चीजों में से आधी अपने घर भिजवायीं, आधी में अन्य लोगों के हिस्से लगाये गये। इस प्रकार यह अभिनय समाप्त हुआ।

( ४ )

अब दफ़्तर में गरीब का नाम होने लगा। उसे नित्य घुड़कियाँ न मिलतीं। दिन-भर दौड़ना न पड़ता। कर्मचारियों के व्यङ्ग और सहवर्गियों के कटुवाक्य न सुनने पड़ते। चपरासी लोग स्वयं उसका काम कर देते।

उसके नाम में थोड़ा-सा परिवर्तन हुआ। वह गरीब से गरीबदास बना। स्वभाव में भी कुछ तबदीली पैदा हुई। दीनता की जगह आत्मगौरव का उद्भव हुआ। तत्परता की जगह आलस्य ने ले ली। वह अब कभी-कभी देर में दफ्तर आता। कभी-कभी बीमारी का बहाना करके घर बैठ रहता। उसके सभी अपराध अब क्षम्य थे। उसे अपनी प्रतिष्ठा का गुर हाथ लग गया। वह अब दसवें-पाँचवें दिन दूध-दही आदि लाकर बड़े बाबू को भेंट किया करता। वह देवता को सन्तुष्ट करना सीख गया। सरलता के बदले अब उसमें काइयाँपन आ गया। एक रोज बड़े बाबू ने उसे सरकारी फार्मों का पार्सल छुड़ाने के लिए स्टेशन भेजा। कई बड़े-बड़े पुलिन्दे थे, ठेले पर आये। गरीब ने ठेलेवालों से बारह आना मजदूरी तय की थी। जब कागज दफ्तर में पहुँच गये तो उसने बड़े बाबू से ।॥) पैसे ठेलेवालों को देने के लिए वसूल किये। लेकिन दफ्तर से कुछ दूर जाकर उसकी नियत बदली, अपनी दस्तूरी माँगने लगा, ठेलेवाले राजी न हुए। इस पर गरीब ने बिगड़कर सब पैसे जेब में रख लिये और धमकाकर बोला—अब एक फूटी कौड़ी भी न दूँगा, जाओ जहाँ चाहो फरियाद करो। देखें हमारा क्या बना लेते हो।

ठेलेवालों ने जब देखा कि भेंट न देने से जमा ही गायब हुई जाती है तो रो-धोकर चार आने पैसे देने को राजी हुए। गरीब ने अठन्नी उनके हवाले की और बारह की रसीद लिखवाकर उनके अँगूठों के निशान लगवाये और रसीद दफ्तर में दाखिल हो गयी।

यह कौतूहल देखकर मैं दंग रह गया। यह वही गरीब है जो कई महीने पहले सत्यता और दीनता की मूर्ति था। जिसे कभी अन्य चपरासियों से भी अपने हिस्से की रकम माँगने का साहस न होता था! दूसरों को खिलाना भी न जानता था, खाने का जिक्र ही क्या! मुझे यह स्वभावान्तर देखकर अत्यन्त खेद हुआ। इसका उत्तरदायित्व किसके सिर था? मेरे सिर जिसने उसे धूर्तता का पहला पाठ पढ़ाया था। मेरे चित्त में प्रश्न उठा, इस काइयाँपन से जो दूसरों का गला दबाता है, वह भोलापन क्या बुरा था, जो दूसरों का अन्याय सह लेता था। वह अशुभ मुहूर्त था जब उसे मैंने प्रतिष्ठा-प्राप्ति का मार्ग दिखाया, क्योंकि वास्तव में वह उसके पतन का भयङ्कर मार्ग था। मैंने बाह्य-प्रतिष्ठा पर उसकी

आत्म-प्रतिष्ठा का बलिदान कर दिया।

---

# अनिष्ट शङ्का

चाँदनी रात, समीर के सुखद झोंके, सुरम्य उद्यान। कुँवर अमरनाथ अपन विस्तीर्ण छत पर लेटे हुए मनोरमा से कह रहे थे—तुम घबराओ नहीं, मैं जल आऊँगा।

मनोरमा ने उनकी ओर कातर नेत्रों से देखकर कहा—मुझे भी क्यों नह लेते चलते?

अमरनाथ—तुम्हें वहाँ कष्ट होगा। मैं कभी यहाँ रहूँगा; कभी वहाँ, सा दिन मारा-मारा फिरूँगा, पहाड़ी देश है, जंगल और बीहड़ के सिवाय बस्त का कोसों पता नहीं, उस पर भयङ्कर पशुओं का भय। तुमसे यह तकलीफें सही जायँगी।

मनोरमा—तुम भी तो इन तकलीफों के आदी नहीं हो?

अमरनाथ—मैं पुरुष हूँ, आवश्यकता पड़ने पर सभी तकलीफों का सामन कर सकता हूँ।

मनोरमा—(गर्व से) मैं भी स्त्री हूँ, आवश्यकता पड़ने पर आग में कू सकती हूँ। स्त्रियों की कोमलता पुरुषों की काव्य-कल्पना है। उन्हें शारीरि सामर्थ्य चाहे न हो पर उनमें वह धैर्य और साहस है जिस पर काल दुश्चिन्ताओं का जरा भी असर नहीं होता।

अमरनाथ ने मनोरमा को श्रद्धामय दृष्टि से देखा और बोले—यह मैं मान हूँ, लेकिन जिस कल्पना को हम चिरकाल से प्रत्यक्ष समझते आये हैं वह क्षण में नहीं मिट सकती। तुम्हारी तकलीफ मुझसे न देखी जायेगी, मुझे दु होगा। देखो इस समय चाँदनी में कितनी बहार है।

मनोरमा—मुझे बहलाओ मत। मैं हठ नहीं करती, लेकिन यहाँ मेरा जीव अपाढ़ हो जायगा। मेरे हृदय की दशा विचित्र है। तुम्हें अपने सामने न दे

कर मेरे मन में तरह-तरह की शंकाएँ होती हैं कि कहीं चोट न लग गयी हो, शिकार खेलने जाते हो तो डरती हूँ कहीं घोड़े ने शरारत न की हो। मुझे अनिष्ट का भय सदैव सताया करता है।

अमरनाथ—लेकिन मैं तो विलास का भक्त हूँ। मुझ पर इतना अनुराग करके तुम अपने ऊपर अन्याय करती हो।

मनोरमा ने अमरनाथ को दबी हुई दृष्टि से देखा जो कह रही थी कि मैं तुमको तुमसे ज्यादा पहचानती हूँ।

( २ )

बुन्देलखण्ड में भीषण दुर्भिक्ष था। लोग वृक्षों की छालें छील-छीलकर खाते थे। क्षुधा-पीड़ा ने भक्ष्याभक्ष्य की पहचान मिटा दी थी। पशुओं का तो कहना ही क्या, मानव सन्तानें कौड़ियों के मोल बिकती थीं। पादरियों की चढ़ बनी थी, उनके अनाथालयों में नित्य गोल के गोल बच्चे भेड़ों की भाँति हाँके जाते थे। माँ की ममता मुट्ठी-भर अनाज पर कुर्बान हो जाती। कुँवर अमरनाथ काशी-सेवा-समिति के व्यवस्थापक थे। समाचार-पत्रों में यह रोमाञ्चकारी समाचार देखे तो तड़प उठे। समिति के कई नवयुवकों को साथ लिया और बुन्देलखण्ड जा पहुँचे। मनोरमा को वचन दिया कि प्रतिदिन पत्र लिखेंगे और यथासम्भव जल्द लौट आयेंगे।

एक सप्ताह तक तो उन्होंने अपना वचन पालन किया, लेकिन शनैः-शनैः पत्रों में विलम्ब होने लगा। अक्सर इलाके डाकघर से बहुत दूर पड़ते थे। वहाँ से नित्यप्रति पत्र भेजने का प्रबन्ध करना दुःसाध्य था।

मनोरमा वियोग-दुःख से विकल रहने लगी। वह अव्यवस्थित दशा में उदास बैठी रहती, कभी नीचे आती कभी ऊपर जाती, कभी बाग में जा बैठती। जब तक पत्र न आ जाता वह इसी भाँति व्यग्र रहती, पत्र मिलते ही सूखे धान में पानी पड़ जाता।

लेकिन जब पत्रों के आने में देर होने लगी तो उसका वियोग-विकल हृदय अधीर हो गया। बार-बार पछताती कि मैं नाहक उनके कहने में आ गयी, मुझे उनके साथ जाना चाहिए था। उसे किताबों से प्रेम था पर अब उनकी ओर ताकने का भी जी न चाहता। विनोद की वस्तुओं से उसे अरुचि-सी हो गयी।

इस प्रकार एक महीना गुजर गया।

एक दिन उसने स्वप्न देखा कि अमरनाथ द्वार पर नंगे सिर नंगे पैर खड़े रो रहे हैं। वह घबराकर उठ बैठी और उसी उग्रावस्था में दौड़ी द्वार तक आयी। यहाँ का सन्नाटा देखकर उसे होश आ गया। उसी दम मुनीम को जगाया और कुँवर साहब के नाम तार भेजा। किन्तु जवाब न आया। सारा दिन गुजर गया मगर कोई जवाब नहीं। दूसरी रात भी गुजरी लेकिन जवाब का पता न था। मनोरमा निर्जल, निराहार, मूर्च्छित दशा में अपने कमरे में पड़ी रहती। जिसे देखती उसी से पूछती—जवाब आया? कोई द्वार पर आवाज देता तो दौड़ी हुई जाती और पूछती—कुछ जवाब आया?

उसके मन में विविध शङ्काएँ उठतीं, लौंडियों से स्वप्न का आशय पूछती। स्वप्नों के कारण और विवेचना पर कई ग्रन्थ पढ़ डाले, पर कुछ रहस्य न खुला। लौंडियाँ उसे दिलासा देने के लिए कहतीं, कुँवरजी कुशल से हैं। स्वप्न में किसी को नंगे पैर देखो तो समझो वह घोड़े पर सवार है। घबराने की कोई बात नहीं। लेकिन मनोरमा को इस बात से तस्कीन न होती। उसे तार के जवाब की रट लगी हुई थी, यहाँ तक की चार दिन गुजर गये।

किसी महल्ले में मदारी का आ जाना बालवृन्द के लिए एक महत्व की बात है। उसके डमरू की आवाज में खोंचेवाल की क्षुधावर्द्धक ध्वनि से भी अधिक आकर्षण होता है। इसी प्रकार महल्ले में किसी ज्योतिषी का आ जाना मारके की बात है। एक क्षण में उसकी खबर घर-घर फैल जाती है। सास अपनी बहू को लिए आ पहुँचती है, माता अपनी भाग्यहीन कन्या को लेकर आ जाती है। ज्योतिषीजी दुखः-सुख की अवस्थानुसार वर्षा करने लगते हैं। उनकी भविष्यवाणियों में बड़ा गूढ़ रहस्य होता है। उनका भाग्य-निर्णय भाग्य-रेखाओं से भी जटिल और दुर्ग्राह्य होता है। संभव है कि वर्तमान शिक्षा-विधाता ने ज्योतिष का आदर कुछ कम कर दिया हो पर ज्योतिषीजी के माहात्म्य में जरा भी कमी नहीं हुई। उनकी बातों पर चाहे किसी को विश्वास न हो पर सुनना सभी चाहते हैं। उनके एक-एक शब्द में आशा और भय को उतेजित करने की शक्ति भरी रहती है, विशेषतः उनकी अमंगल सूचना तो वज्रपात के तुल्य है, घातक और दग्धकारी।

तार भेजे हुए आज पाँचवाँ दिन था कि कुँवर साहब के द्वार पर एक ज्योतिषी का आगमन हुआ। तत्काल महल्ले की महिलाएँ जमा हो गयीं। ज्योतिषीजी भाग्य-विवेचन करने लगे। किसी को रुलाया, किसी को हँसाया। मनोरमा को भी खबर मिली। उन्हें तुरन्त अन्दर बुला भेजा और स्वप्न का आशय पूछा।

ज्योतिषीजी ने इधर-उधर देखा, पन्ने उलटे, उँगलियों पर कुछ गिना; पर कुछ निश्चय न कर सके कि क्या उत्तर देना चाहिए बोले—क्या सरकार ने यह स्वप्न देखा है?

मनोरमा बोली—नहीं, मेरी एक सखी ने देखा है। मैं कहती हूँ, यह अमङ्गलसूचक है। यह कहती है, मङ्गलमय है। आप इसकी क्या विवेचना करते हैं?

ज्योतिषीजी फिर बगलें झाँकने लगे। उन्हें अमरनाथ की यात्रा का हाल न मालूम था और न इतनी मुहलत ही मिली थी कि यहाँ आने के पूर्व वह अवस्थाज्ञान प्राप्त कर लेते जो अनुमान के साथ मिलकर जनता में ज्योतिष के नाम से प्रसिद्ध है। जो प्रश्न पूछा था उसका भी कुछ सूत्रसूचक उत्तर न मिला। निराश होकर मनोरमा के समर्थन करने ही में अपना कल्याण देखा। बोले—सरकार जो कहती हैं वही सत्य है। यह स्वप्न अमङ्गलसूचक है।

मनोरमा बड़ी सितार के तार की भाँति थर-थर काँपने लगी। ज्योतिषीजी ने उस अमङ्गल का उद्घाटन करते हुए कहा—उनके पति पर कोई महान् सङ्कट आनेवाला है; उनका घर नाश हो जायगा, वह देश-विदेश मारे-मारे फिरेंगे।

मनोरमा ने दीवार का सहारा लेकर कहा—भगवन्, मेरी रक्षा करो और मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर पड़ी।

ज्योतिषीजी अब चेते। समझ गये कि बड़ा धोखा खाया। आश्वासन देने लगे, आप कुछ चिन्ता न करें। मैं उस सङ्कट का निवारण कर सकता हूँ। मुझे एक बकरा, कुछ लौंग और कच्चा धागा मँगा दें। जब कुँवरजी के यहाँ से कुशल-समाचार आ जाय तो जो दक्षिणा चाहें दे दें। काम कठिन है पर भगवान् की दया से असाध्य नहीं है। सरकार देखें मुझे बड़े-बड़े हाकिमों

ने सार्टीफिकेट दिये हैं। अभी डिप्टी साहब की कन्या बीमार थीं। डाक्टरों ने जवाब दे दिया था। मैंने यन्त्र दिया, बैठे-बैठे आँखें खुल गयीं। कल की बात है, सेठ चन्दूमल के यहाँ से रोकड़ की एक थैली उड़ गयी थी, कुछ पता न चलता था, मैंने सगुन विचारा और बात-की-बात में चोर पकड़ लिया। उनके मुनीम का काम था, थैली ज्यों-की-त्यों निकल आयी।

ज्योतिषीजी तो अपनी सिद्धियों की सराहना कर रहे थे और मनोरमा अचेत पड़ी हुई थी।

अकस्मात् वह उठ बैठी; मुनीम को बुलाकर कहा—यात्रा की तैयारी करो, मैं शाम की गाड़ी से बुन्देलखण्ड जाऊँगी।

( ४ )

मनोरमा ने स्टेशन पर आकर अमरनाथ को तार दिया—'मैं आ रही हूँ।' उनके अन्तिम पत्र से ज्ञात हुआ था कि वह कबरई में हैं, कबरई का टिकट लिया। लेकिन कई दिनों से जागरण कर रही थी। गाड़ी पर बैठते ही नींद आ गयी और नींद आते ही अनिष्ट शङ्का ने एक भीषण स्वप्न का रूप धारण कर लिया।

उसने देखा सामने एक अगम सागर है, उसमें एक टूटी हुई नौका हलकोरें खाती बहती चली जाती है। उस पर न कोई मल्लाह है, न पाल, न डाँड़े। तरंगें उसे कभी ऊपर ले जाती हैं कभी नीचे, सहसा उस पर एक मनुष्य दृष्टिगोचर हुआ। यह अमरनाथ थे, नंगे सिर, नंगे पैर, आँखों से आँसू बहाते हुए। मनोरमा थर-थर काँप रही थी। जान पड़ता था नौका अब डूबी और अब डूबी। उसने जोर से चीख मारी और जाग पड़ी। शरीर पसीने से तर था, छाती धड़क रही थी। वह तुरत उठ बैठी, हाथ-मुँह धोया और इरादा किया अब न सोऊँगी। हा! कितना भयावह दृश्य था। परमपिता! अब तुम्हारा ही भरोसा है। उनकी रक्षा करो।

उसने खिड़की से सिर निकालकर देखा। आकाश पर तारागण दौड़ रहे थे। घड़ी देखी, बारह बजे थे। उसको आश्चर्य हुआ मैं इतनी देर तक सोयी। अभी तो एक झपकी भी पूरी न होने पायी।

उसने एक पुस्तक उठा ली और विचारों को एकाग्र कर के पढ़ने लगी।

इतने में प्रयाग आ पहुँचा, गाड़ी बदली। उसने फिर किताब खोली और उच्च स्वर से पढ़ने लगी। लेकिन कई दिनों की जागी आँखें इच्छा के अधीन नहीं होतीं। बैठे-बैठे झपकियाँ लेने लगी, आँखें बन्द हो गयीं और एक दूसरा दृश्य सामने उपस्थित हो गया।

उसने देखा, आकाश से मिला हुआ एक पर्वत-शिखर है। उसके ऊपर के वृक्ष छोटे-छोटे पौधों के सदृश दिखायी देते हैं। श्यामवर्ण घटाएँ छायी हुई हैं, बिजली इतने जोर से कड़कती है कि कान के परदे फटे जाते हैं, कभी यहाँ गिरती है कभी वहाँ। शिखर पर एक मनुष्य नंगे सिर बैठा हुआ है, उसकी आँखों का अश्रु-प्रवाह साफ दीख रहा है। मनोरमा दहल उठी, यह अमरनाथ थे। वह पर्वत-शिखर से उतरना चाहते थे। लेकिन मार्ग न मिलता था। भय से उनका मुख वर्ण-शून्य हो रहा था। अकस्मात् एक बार बिजली का भयङ्कर नाद सुनायी दिया, एक ज्वाला-सी दिखायी दी और अमरनाथ अदृश्य हो गये। मनोरमा ने फिर चीख मारी और जाग पड़ी। उसका हृदय बाँसों उछल रहा था, मस्तिष्क चक्कर खाता था। जागते ही उसकी आँखों से जलप्रवाह होने लगा। वह उठ खड़ी हुई और कर जोड़कर ईश्वर से विनय करने लगी—ईश्वर, मुझे ऐसे बुरे-बुरे स्वप्न दिखायी दे रहे हैं, न जाने उन पर क्या बीत रही है, तुम दीनों के बन्धु हो, मुझ पर दया करो, मुझे धन और सम्पत्ति की इच्छा नहीं, मैं झोंपड़ी में खुश रहूँगी, मैं केवल उनकी शुभ-कामना रखती हूँ। मेरी इतनी प्रार्थना स्वीकार करो।

वह फिर अपनी जगह पर बैठ गयी। अरुणोदय की मनोरम छटा और शीतल सुखद समीरण ने उसे आकर्षित कर लिया। उसे सन्तोष हुआ, किसी तरह रात कट गयी. अब तो नींद न आयगी, पर्वतों के मनोहर दृश्य दिखायी देने लगे, कहीं पहाड़ियों पर भेड़ों के गल्ले, कहीं पहाड़ियों के दामन में मृगों के झुण्ड, कहीं कमल के फूलों से लहराते हुए सागर। मनोरमा एक अर्धस्मृति की दशा में इन दृश्यों को देखती रही। लेकिन फिर न-जाने कब उसकी अभागी आँखें झपक गयीं।

उसने देखा अमरनाथ घोड़े पर सवार एक पुल पर चले जाते हैं। नीचे नदी उमड़ी हुई है, पुल बहुत तंग है, घोड़ा रह-रहकर हिचकता है और अलग

हो जाता है। मनोरमा के हाथ-पाँव फूल गये। वह उच्च-स्वर से चिल्ला-चिल्ला कहने लगी—घोड़े से उत्तर पड़ो। यह कहते हुए वह उनकी तरफ झपटी, आँखे खुल गयीं। गाड़ी किसी स्टेशन के प्लेटफार्म से सनसनाती चली जाती थी। अमरनाथ नंगे सिर, नंगे पैर प्लेटफार्म पर खड़े थे। मनोरमा की आँखों में अभी तक वही भयंकर स्वप्न समाया हुआ था। कुँवर को देखकर उसे भय हुआ कि वह घोड़े से गिर पड़े और नीचे नदी में फिसला चाहते हैं। उसने तुरन्त उन्हें पकड़ने को हाथ फैलाया और जब उन्हें न पा सकी तो उसी सुषुप्तावस्था में उसने गाड़ी का द्वार खोला और कुँवर साहब की ओर हाथ फैलाये हुए गाड़ी से बाहर निकल आयी। तब वह चौंकी, जान पड़ा किसी ने उठाकर आकाश से भूमि पर पटक दिया; जोर से एक धक्का लगा और चेतना-शून्य हो गयी।

( ५ )

यही कबरई का स्टेशन था। अमरनाथ तार पाकर स्टेशन पर आये थे। मगर यह डाक थी, वहाँ न ठहरती थी, मनोरमा को हाथ फैलाये गाड़ी से गिरते देखकर वह हाँ, हाँ करते हुए लपके लेकिन कर्मलेख पूरा हो चुका था। मनोरमा प्रेमवेदी पर बलिदान हो चुकी थी।

इसके तीसरे दिन वह नंगे सिर, नंगे पैर भग्नहृदय घर पहुँचे। मनोरमा का स्वप्न सच्चा हुआ।

उस प्रेमविहीन स्थान में अब कौन रहता। उन्होंने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति काशी-सेवा-समिति को प्रदान कर दी और अब नंगे सिर, नंगे पैर, विरक्त दशा में देश-विदेश घूमते रहते हैं। ज्योतिषीजी की विवेचना भी चरितार्थ हो गयी।

---

# नैराश्य लीला

पण्डित हृदयनाथ अयोध्या के एक सम्मानित पुरुष थे। धनवान तो नहीं, लेकिन खाने-पीने से खुश थे। कई मकान थे, उन्हीं के किराये पर गुजर होता

था। इधर किराया बढ़ गया था जिससे उन्होंने अपनी सवारी भी रख ली थी। बहुत विचारशील आदमी थे; अच्छी शिक्षा पायी थी; संसार का काफी तजरबा था पर क्रियात्मक शक्ति से वंचित थे, सब-कुछ जानते हुए भी कुछ न जानते। समाज उनकी आँखों में एक भयंकर भूत था जिससे सदैव डरते रहना चाहिए। उसे जरा भी रुष्ट किया तो फिर जान की खैर नहीं। उनकी स्त्री जागेश्वरी उनका प्रतिबिम्ब थी, पति के विचार उसके विचार और पति की इच्छा उसकी इच्छा थी। दोनों प्राणियों में कभी मत-भेद न होता था। जागेश्वरी शिव की उपासक थी, हृदयनाथ वैष्णव थे, पर दान और व्रत में दोनो को समान श्रद्धा थी। दोनो धर्मनिष्ठ थे, उससे कहीं अधिक जितना सामान्यतः शिक्षित लोग हुआ करते हैं। इसका कदाचित् यह कारण था कि एक कन्या के सिवा कोई सन्तान न थी, उसका विवाह तेरहवें वर्ष में हो गया था। माता-पिता को अब यही लालसा थी कि भगवान् इसे पुत्रवती करें तो हम लोग नवासे के नाम अपना सब-कुछ लिखकर निश्चिन्त हो जायँ।

किन्तु विधाता को कुछ और ही मंजूर था। कैलाशकुमारी का अभी गौना भी न हुआ था, वह अभी तक यह भी न जानने पायी थी कि विवाह का आशय क्या है कि उसका सोहाग उठ गया! वैधव्य ने उसके जीवन की अभिलाषाओं का दीपक बुझा दिया।

माता और पिता विलाप कर रहे थे, घर में कुहराम मचा हुआ था, पर कैलाशकुमारी भौचक्की हो-होकर सब के मुँह की ओर ताकती थी। उसकी समझ ही में न आता था, यह लोग रोते क्यों हैं? माँ-बाप की इकलौती बेटी थी। माँ-बाप के अतिरिक्त वह किसी तीसरे व्यक्ति को अपने लिए आवश्यक न समझती थी। उसकी सुख कल्पनाओं में अभी तक पति का प्रवेश न हुआ था। वह समझती थी, स्त्रियाँ पति के मरने पर इसी लिए रोती हैं कि वह उनका और खासकर बच्चों का लालन-पालन करता है। मेरे घर में किस बात की कमी है? मुझे इसकी क्या चिन्ता है कि खायेंगे क्या? पहनेंगे क्या? मुझे जिस चीज की जरूरत होगी, बाबूजी तुरन्त ला देंगे, अम्मा से जो चीज माँगूँगी वह तुरन्त दे देंगी। फिर रोऊँ क्यों? वह अपनी माँ को रोते देखती तो रोती, पति के शोक से नहीं, माँ के प्रेम से। कभी सोचती, शायद यह लोग इसलिए रोते हैं

कि कहीं मैं कोई ऐसी चीज न माँग बैठूँ जिसे वह दे न सकें। तो मैं ऐसी चीज माँगूँगी ही क्यों ? मैं अब भी तो उनसे कुछ नहीं माँगती, वह आप ही मेरे लिए एक-न-एक चीज नित्य लाते रहते हैं। क्या मैं अब कुछ और हो जाऊँगी ? इधर माता का यह हाल था कि बेटी की सूरत देखते ही आँखों से आँसू की झड़ी लग जाती। बाप की दशा और भी करुणाजनक थी। घर में आना-जाना छोड़ दिया। सिर पर हाथ धरे कमरे में अकेले, उदास बैठे रहते। उसे विशेष दुःख इस बात का था कि सहेलियाँ भी अब उसके साथ खेलने को नहीं आतीं। उसने उनके घर जाने की माता से आज्ञा माँगी तो वह फूट-फूट रोने लगी। माता-पिता की यह दशा देखी तो उसने उनके सामने आना छोड़ दिया, बैठी किस्से-कहानियाँ पढ़ा करती, उसकी एकान्तप्रियता का माँ-बाप ने कुछ और ही अर्थ समझा। लड़की शोक के मारे घुली जाती है, इस वज्राघात ने उसके हृदय को टुकड़े-टुकड़े कर डाला है।

एक दिन हृदयनाथ ने जागेश्वरी से कहा—जी चाहता है घर छोड़कर कहीं भाग जाऊँ, इसका कष्ट अब नहीं देखा जाता !

जागेश्वरी—मेरी तो भगवान् से यही प्रार्थना है कि मुझे संसार से उठा लें। कहाँ तक छाती पर पत्थर की सिल रखूँ।

हृदयनाथ—किसी भाँति इसका मन बहलाना चाहिए, जिसमें शोकमय विचार आने ही न पायें। हम लोगों को दुःखी और रोते देखकर उसका दुःख और भी दारुण हो जाता है।

जागेश्वरी—मेरी तो बुद्धि कुछ काम नहीं करती है।

हृदयनाथ—हम लोग यों ही मातम करते रहे तो लड़की की जान पर बन जायगी। अब कभी-कभी उसे लेकर सैर करने चली जाया करो। कभी-कभी थियेटर दिखा दिया, कभी घर में गाना-बजाना करा दिया। इन बातों से उसका दिल बहलता रहेगा।

जागेश्वरी—मैं तो उसे देखते ही रो पड़ती हूँ। लेकिन अब जब्त करूँगी। तुम्हारा विचार बहुत अच्छा है। बिना दिलबहलाव के उसका शोक दूर न होगा।

हृदयनाथ—मैं भी अब उससे दिल बहलानेवाली बातें किया करूँगा। कल

एक सैरबीन लाऊँगा, अच्छे-अच्छे दृश्य जमा करूँगा। ग्रामोफोन तो आज ही मँगवाये देता हूँ। बस उसे हर वक्त किसी-न-किसी काम में लगाये रहना चाहिए। एकान्तवास शोक-ज्वाला के लिए समीर के समान है।

उस दिन से जागेश्वरी ने कैलाशकुमारी के लिए विनोद और प्रमोद के सामान जमा करने शुरू किये। कैलाशी माँ के पास आती तो उसकी आँखों के आँसू की बूँदें न देखती, होटों पर हँसी की आभा दिखाई देती। वह मुस्करा-कर कहती—'बेटी, आज थियेटर में बहुत अच्छा तमाशा होनेवाला है, चलो, देख आयें।' कभी गङ्गास्नान की ठहरती, वहाँ माँ-बेटी किश्ती पर बैठकर नदी में जल-विहार करतीं, कभी सन्ध्या समय पार्क की ओर चली जातीं। धीरे-धीरे सहेलियाँ भी आने लगीं। कभी सब-की-सब बैठकर ताश खेलतीं, कभी गातीं बजातीं! पण्डित हृदयनाथ ने भी विनोद की सामग्रियाँ जुटायीं। कैलाशी को देखते ही मग्न होकर बोले—'बेटी आओ, तुम्हें आज काश्मीर के दृश्य दिखाऊँ।' कभी कहते—'आओ आज स्विट्जरलैंड की अनुपम झीलों और झरनों की छटा देखें।' कभी ग्रामोफोन बजाकर उसे सुनाते। कैलाशी इन सैर-सपाटों का खूब आनन्द उठाती। इतने सुख से उसके दिन कभी न गुजरे थे।

( २ )

इस भाँति दो वर्ष बीत गये। कैलाशी इन विषयों की इतना आदी हो गयी कि एक दिन भी थियेटर न जाती तो बेकल-सी होने लगती। मनोरञ्जन नवी-नता का दास है और समानता का शत्रु। थियेटरों के बाद सिनेमा की सनक सवार हुई; सिनेमा के बाद मिस्मरेजिम और हिप्नटिज्म के तमाशों की। ग्रामो-फोन के नये रेकार्ड आने लगे। संगीत का चस्का पड़ गया। बिरादरी में कहीं उत्सव होता तो माँ-बेटी अवश्य जातीं। कैलाशी नित्य इसी नशे में डूबी रहती, चलती तो कुछ गुनगुनाती हुई, किसी से बातें करती तो वही थियेटर और सिनेमा की। भौतिक संसार से अब उसे कोई वास्ता न था, अब उसका निवास कल्पना-संसार में था। दूसरे लोक की निवासिनी होकर उसे प्राणियों से कोई सहानु-भूति न रही, किसी के दुःख पर जरा भी दया न आती। स्वभाव में उच्छृङ्खलता का विकास हुआ, अपनी सुरुचि पर गर्व करने लगी, सहेलियों से डींगें मारती; यहाँ के लोग मूर्ख हैं, यह सिनेमा की कदर क्या करेंगे। इसकी कदर तो पश्चिम

के लोग करते हैं। वहाँ मनोरञ्जन की सामग्रियाँ उतनी ही आवश्यक है, जित हवा। जभी तो वह इतने प्रसन्नचित्त रहते हैं; मानो किसी बात की चिन्ता ही नहीं है। यहाँ किसी को इसका रस ही नहीं, जिन्हें भगवान् ने सामर्थ्य भी दि है वह भी सरेशाम से मुँह ढाँपकर पड़े रहते हैं। सहेलियाँ कैलाशी की यह गर्व पूर्ण बातें सुनतीं और उनकी और भी प्रशंसा करतीं। वह उनका अपमान कर के आवेग में आप ही हास्यास्पद बन जाती थी।

पड़ोसियों में इन सैर-सपाटों की चर्चा होने लगी। लोकसम्मति किसी क रिआयत नहीं करती। किसी ने सिर पर टेढ़ी टोपी रखी और पड़ोसियों की आँख में चुभा, कोई जरा अकड़कर चला और पड़ोसियों ने आवाजें कसीं। विधवा के लिए पूजा-पाठ है, तीर्थ-व्रत है, मोटा खाना है, मोटा पहनना है; उसे विनोद और विलास, राग और रंग की क्या जरूरत? विधाता ने उसके सुख के द्वार बन्द कर दिये हैं। लड़की प्यारी सही; लेकिन शर्म और हया भी तो कोई चीज है! जब माँ-बाप ही उसे सिर चढ़ाये हुए हैं तो उसका क्या दोष? मगर एक दिन आँखें खुलेंगी अवश्य। महिलाएँ कहतीं, बाप तो मर्द है, लेकिन माँ कैसी है, उसको जरा भी विचार नहीं कि दुनिया क्या कहेगी! कुछ उन्हीं की एक दुलारी बेटी थोड़ी ही है; इस भाँति मन बढ़ाना अच्छा नहीं।

कुछ दिनों तक तो यह खिचड़ी आपस में पकती रही। अन्त को एक दिन कई महिलाओं ने जागेश्वरी के घर पदार्पण किया। जागेश्वरी ने उनका बड़ा आदर-सत्कार किया। कुछ देर तक इधर-उधर की बातें करने के बाद एक महिला बोली—महिलाएँ रहस्य की बातें करने में बहुत अभ्यस्त होती हैं—बहन, तुम्हीं मजे में हो कि हँसी-खुशी में दिन काट देती हो। हमें तो दिन पहाड़ हो जाता है। न कोई काम न धन्धा; कोई कहाँ तक बातें करे?

दूसरी देवी ने आँखें मटकाते हुए कहा—अरे यह तो बदे-बदे की बात है। सभी के दिन हँसी-खुशी में कटें तो रोये कौन? यहाँ तो सुबह से शाम तक चक्की-चूल्हे ही से छुट्टी नहीं मिलती; किसी बच्चे को दस्त आ रहे हैं तो किसी को ज्वर चढ़ा हुआ है। कोई मिठाइयों की रट लगा रहा है तो कोई पैसों के लिए महनामथ मचाये हुए है। दिन भर हाय-हाय करते बीत जाता है। सारे दिन कठपुतलियों की भाँति नाचती रहती हूँ।

तीसरी रमणी ने इस कथन का रहस्यमय भाव से विरोध किया—बदे की बात नहीं है, वैसा दिल चाहिए। तुम्हें कोई राजसिंहासन पर बिठा दे तब भी तस्कीन न होगी। तब और भी हाय-हाय करोगी।

इस पर एक वृद्धा ने कहा—'नौज ऐसा दिल! यह भी कोई दिल है कि घर में आग लग जाय, दुनिया में कितना ही उपहास हो, लेकिन आदमी अपने राग-रंग में मस्त रहे! वह दिल है कि पत्थर! हम गृहिणी कहलाती हैं, हमारा काम है अपनी गृहस्थी में रत रहना। आमोद-प्रमोद में दिन काटना हमारा काम नहीं।' और महिलाओं ने इस निर्दय व्यंग पर लज्जित होकर सिर झुका दिया। वे जागेश्वरी की चुटकियाँ लेना चाहती थीं, उसके साथ बिल्ली और चूहे की निर्दयी क्रीड़ा करना चाहती थीं, आहत को तड़पाना उनका उद्देश्य था। इस खुली चोट ने उनके परपीड़न-प्रेम के लिए कोई गुञ्जायश न छोड़ी। परन्तु बात पलट दी और स्त्री शिक्षा पर बहस करने लगीं। किन्तु जागेश्वरी को ताड़ना मिल गयी। स्त्रियों के बिदा होने के बाद उसने जाकर पति से यह कथा कह सुनाई। हृदयनाथ उन पुरुषों में न थे जो प्रत्येक अवसर पर अपनी आत्मिक स्वाधीनता का स्वाँग भरते हैं, हठधर्मी को आत्मस्वातन्त्र्य के नाम से छिपाते हैं। वह सचिन्त भाव से बोले—तो अब क्या होगा?

जागेश्वरी—तुम्हीं कोई उपाय सोचो।

हृदयनाथ—पड़ोसियों ने जो आक्षेप किया है वह सर्वथा उचित है। कैलाशकुमारी के स्वभाव में मुझे एक विचित्र अन्तर दिखाई दे रहा है। मुझे स्वयं ज्ञात हो रहा है कि उसके मनबहलाव के लिए हम लोगों ने जो प्रथा निकाली है वह मुनासिब नहीं है। उनका यह कथन सत्य है कि विधवा के लिए यह आमोद-विनोद वर्जित है। अब हमें यह परिपाटी छोड़नी पड़ेगी।

जागेश्वरी—लेकिन कैलाशी तो इन खेल-तमाशों के बिना एक दिन भी नहीं रह सकती।

हृदयनाथ—उसको मनोवृत्तियों को बदलना पड़ेगा।

( ३ )

शनैः-शनैः यह विलासोन्माद शान्त होने लगा। वासना का तिरस्कार किया जाने लगा। पण्डितजी सन्ध्या समय ग्रामोफोन न बजाकर कोई धर्मग्रंथ

पढ़कर सुनाते। स्वाध्याय, संयम-उपासना में माँ-बेटी रहने लगीं। कैलाशी को गुरुजी ने दीक्षा दी, महल्ले और बिरादरी की स्त्रियाँ आयीं; उत्सव मनाया गया।

माँ-बेटी अब किश्ती पर सैर करने के लिए गङ्गा न जातीं बल्कि स्नान करने के लिए। मन्दिरों में नित्य जातीं। दोनो एकादशी को निर्जल व्रत रहने लगीं, कैलाशी को गुरुजी नित्य सन्ध्या समय धर्मोपदेश करते। कुछ दिनों तक तो कैलाशी को यह विचार-परिवर्तन बहुत कष्टजनक मालूम हुआ, पर धर्मनिष्ठा नारियों का स्वाभाविक गुण है, थोड़े ही दिनों में उसे धर्म से रुचि हो गयी। अब उसे अपनी अवस्था का ज्ञान होने लगा था। विषय-वासना से चित्त आप-ही-आप खिंचने लगा। 'पति' का यथार्थ आशय समझ में आने लगा। पति ही स्त्री का सच्चा मित्र, सच्चा पथ-प्रदर्शक और सच्चा सहायक है। पतिविहीन होना किसी घोर पाप का प्रायश्चित है। मैंने पूर्व जन्म में कोई अकर्म किया होगा। पतिदेव जीवित होते तो मैं फिर माया में फँस जाती। प्रायश्चित्त का अवसर कहाँ मिलता। गुरुजी का वचन सत्य है कि परमात्मा ने तुम्हें पूर्व कर्मों के प्रायश्चित का अवसर दिया है। वैधव्य यातना नहीं है, जीवोद्धार का साधन है। मेरा उद्धार त्याग, वैराग्य, भक्ति और उपासना से ही होगा।

कुछ दिनों के बाद उसकी धार्मिक वृत्ति इतनी प्रबल हुई कि अन्य प्राणियों से वह पृथक् रहने लगी, किसी को न छूती। महरियों से दूर रहती सहेलियों से गले तक न मिलती, दिन में दो-दो तीन-तीन बार स्नान करती, हमेशा कोई-न-कोई धर्मग्रंथ पढ़ा करती। साधु-महात्माओं के सेवा-सत्कार में उसे आत्मिक सुख प्राप्त होता। जहाँ किसी महात्मा के आने की खबर पाती उनके दर्शनों के लिए विकल हो जाती, उनकी अमृतवाणी सुनने से जी न भरता। मन संसार से विरक्त होने लगा। तल्लीनता की अवस्था प्राप्त हो गयी। घण्टों ध्यान और चिन्तन में मग्न रहती। सामाजिक बन्धनों से घृणा हो गयी। हृदय स्वाधीनता के लिए लालायित हो गया। यहाँ तक कि तीन ही वर्षों में उसने संन्यास ग्रहण करने का निश्चय कर लिया।

माँ-बाप को यह समाचार ज्ञात हुआ तो होश उड़ गये। माँ बोली—बेटी, अभी तुम्हारी उम्र ही क्या है कि तुम ऐसी बात सोचती हो?

कैलाशकुमारी—माया-मोह से जितनी जल्द निवृत्ति हो जाय उतना ही अच्छा है।

हृदयनाथ—क्या अपने घर में रहकर माया-मोह से मुक्त नहीं हो सकती हो? माया-मोह का स्थान मन है, घर नहीं।

जागेश्वरी—कितनी बदनामी होगी?

कैलाशकुमारी—अपने को भगवान् के चरणों पर अर्पण कर चुकी तो मुझे बदनामी की क्या चिन्ता?

जागेश्वरी—बेटी, तुम्हें न हो हमको तो है। हमें तो तुम्हारा ही सहारा है। तुमने जो संन्यास ले लिया तो हम किस आधार पर जीयेंगे?

कैलाशकुमारी—परमात्मा ही सब का आधार है। किसी दूसरे प्राणी का आश्रय लेना भूल है।

दूसरे ही दिन यह बात महल्लेवालों के कान में पहुँच गयी। जब कोई अवस्था असाध्य हो जाती है तो हम उस पर व्यंग्य करने लगते हैं। यह तो होना ही था, नयी बात क्या हुई? लड़कियों को इस तरह स्वच्छन्द नहीं कर दिया जाता। फूले न समाते थे कि लड़की ने कुल के नाम को उज्ज्वल कर दिया, पुराण पढ़ती है, उपनिषद् और वेदान्त का पाठ करती है, धार्मिक समस्याओं पर ऐसी-ऐसी दलीलें करती है कि बड़े-बड़े विद्वानों की जबान बन्द हो जाती है, तो अब क्यों पछताते हैं? भद्र पुरुषों में कई दिनों तक यही आलोचना होती रही। लेकिन जैसे अपने बच्चे को दौड़ते-दौड़ते धम से गिर पड़ने पर हम पहले क्रोध के आवेश में उसे झिड़कियाँ सुनाते हैं इसके बाद गोद में उठाकर आँसू पोंछने और फुसलाने लगते हैं उसी तरह इन भद्र पुरुषों ने व्यंग्य के बाद इस गुत्थी को सुलझाने को सोचना शुरू किया। कई सज्जन हृदयनाथ के पास आये और सिर झुकाकर बैठ गये। विषय का आरम्भ कैसे हो?

कई मिनट के बाद एक सज्जन ने कहा—सुना है डाक्टर गौड़ का प्रस्ताव आज बहुमत के स्वीकृत हो गया।

दूसरे महाशय बोले—यह लोग हिन्दू-धर्म का सर्वनाश करके छोड़ेंगे।

तीसरे महानुभाव ने फर्माया—सर्वनाश तो हो ही रहा है, अब और कोई क्या करेगा। जब हमारे साधु महात्मा, जो हिन्दू-जाति के स्तम्भ हैं, इतने पतित

हो गये हैं कि भोली-भाली युवतियों को बहकाने में सङ्कोच नहीं करते, त
सर्वनाश होने में रह ही क्या गया ?

हृदयनाथ—यह विपत्ति तो मेरे सिर ही पड़ी हुई है। आप लोगों को त
मालूम होगा ?

पहले महाशय—आप ही के सिर क्यों ? हम सभी के सिर पड़ी हुई है।

दूसरे महाशय—समस्त जाति के सिर कहिए।

हृदयनाथ—उद्धार का कोई उपाय सोचिए।

पहले महाशय—आपने समझाया नहीं ?

हृदयनाथ—समझा के हार गया। कुछ सुनती ही नहीं।

तीसरे महाशय—पहले ही भूल हुई। उसे इस रास्ते पर डालना ही न
चाहिए था।

पहले महाशय—उस पर पछताने से क्या होगा ? सिर पर जो पड़ी है
उसका उपाय सोचना चाहिए। आपने समाचारपत्रों में देखा होगा; कुछ लोगों
की सलाह है कि विधवाओं से अध्यापकों का काम लेना चाहिए। यद्यपि मैं
इसे भी बहुत अच्छा नहीं समझता, पर संन्यासिनी बनने से यह कहीं अच्छा
है। लड़की अपनी आँख के सामने रहेगी। अभिप्राय केवल यही है कि कोई
ऐसा काम होना चाहिए जिसमें लड़की का मन लगे। किसी अवलम्ब के बिना
मनुष्य को भटक जाने की शंका सदैव बनी रहती है। जिस घर में कोई नहीं
रहता, उसमें चमगादड़ बसेरा लेते हैं।

दूसरे महाशय—सलाह तो अच्छी है। महल्ले की दस-पाँच कन्याएँ पढ़ने
के लिए बुला ली जायँ। उन्हें किताबें, गुड़ियाँ आदि इनाम मिलती रहें तो
वह बड़े शौक से आयेंगी। लड़की का मन तो लग जायगा।

हृदयनाथ—देखना चाहिए। भरसक समझाऊँगा।

ज्योंही ये लोग बिदा हुए हृदयनाथ ने कैलाशकुमारी के सामने यह तजवीज
पेश की। कैलाशी को संन्यस्त के उच्चपद के सामने अध्यापिका बनना अप-
मानजनक जान पड़ता था। कहाँ वह महात्माओं का सत्संग, वह पर्वतों की
गुफा, सुरम्य प्राकृतिक दृश्य, वह हिमराशि की ज्ञानमय ज्योति, वह मानसरोवर
और कैलाश की शुभ्र छटा, वह आत्मदर्शन की विशाल कल्पनाएँ और कहाँ

ालिकाओं को चिड़ियों की भाँति पढ़ाना। लेकिन हृदयनाथ कई दिनों तक लगातार सेवाधर्म का माहात्म्य उसके हृदय पर अंकित करते रहे। सेवा ही वास्तविक संन्यास है। संन्यासी केवल अपनी मुक्ति का इच्छुक होता है, सेवा-व्रतधारी अपने को परमार्थ की वेदी पर बलि दे देता है। इसका गौरव कहीं अधिक है। देखो, ऋषियों में दधीचि का जो यश है, हरिश्चन्द्र की जो कीर्ति है, उसकी तुलना और कहाँ की जा सकती है। संन्यास स्वार्थ है, सेवा त्याग आदि। इस कथन की उपनिषदों और वेद मन्त्रों से पुष्टि की। यहाँ तक कि धीरे-धीरे कैलाशी के विचारों में परिवर्तन होने लगा। पण्डितजी ने महल्ले-वालों की लड़कियों को एकत्र किया, पाठशाला का जन्म हो गया। नाना प्रकार के चित्र और खिलौने मँगाये गये। पण्डितजी स्वयं कैलाशकुमारी के साथ लड़कियों को पढ़ाते। कन्याएँ शौक से आतीं। उन्हें यहाँ की पढ़ाई खेल मालूम होती। थोड़े ही दिनों में पाठशाला की धूम मच गयी, अन्य महल्लों की कन्याएँ भी आने लगीं।

( ४ )

कैलाशकुमारी की सेवा-प्रवृत्ति दिनोंदिन तीव्र होने लगी। दिन-भर लड़कियों को लिये रहती। कभी उनके साथ खेलती, कभी सीना-पिरोना सिखाती। पाठशाला ने परिवार का रूप धारण कर लिया। कोई लड़की बीमार हो जाती तो तुरन्त उसके घर जाती, उसकी सेवा-सुश्रूषा करती; गाकर या कहानियाँ सुनाकर उसका दिल बहलाती।

पाठशाला को खुले हुए साल-भर हुआ था। एक लड़की को, जिससे वह बहुत प्रेम करती थी, चेचक निकल आयी। कैलाशी उसे देखने गयी। माँ-बाप ने बहुत मना किया पर उसने न माना, कहा—'तुरन्त लौट आऊँगी'। कहाँ तो रोते-रोते तालू सूखता था, कहाँ कैलाशी को देखते ही मानो सारे कष्ट भाग गये। कैलाशी एक घण्टे तक वहाँ रही। लड़की बराबर उससे बातें करती रही। लेकिन जब वह चलने को उठी तो लड़की ने रोना शुरू किया। कैलाशी मजबूर होकर बैठ गयी। थोड़ी देर के बाद जब वह फिर उठी तो फिर लड़की की वही दशा हो गयी। लड़की उसे किसी तरह छोड़ती न थी। सारा दिन गुजर गया। रात को भी लड़की ने न आने दिया। हृदयनाथ उसे बुलाने को

बार-बार आदमी भेजते पर वह लड़की को छोड़कर न जा सकती। उसे ऐसं शंका होती थी कि मैं यहाँ से चली और लड़की हाथ से गयी। उसकी माँ विमात थी। इससे कैलाशी को उसके ममत्व पर विश्वास न होता था। इस प्रका वह तीन दिनों तक वहाँ रही, आठों पहर बालिका के सिरहाने बैठी पंख झलती रहती। बहुत थक जाती तो दीवाल से पीठ टेक लेती। चौथे दिन लड़की की हालत कुछ सँभलती हुई मालूम हुई तो वह अपने घर आयी। मगर अभी स्नान भी न करने पायी थी कि आदमी पहुँचा। जल्द चलिए, लड़क रो-रोकर जान दे रही है।

हृदयनाथ ने कहा—कह दो अस्पताल से कोई नर्स बुला लें।

कैलाशकुमारी—दादा, आप व्यर्थ में झुँझलाते हैं। उस बेचारी की जान बच जाये। मैं तीन दिन नहीं, तीन महीने उसकी सेवा करने को तैयार हूँ आखिर यह देह किस दिन काम आयेगी ?

हृदयनाथ—तो और कन्याएँ कैसे पढ़ेंगी ?

कैलाशी—दो-एक दिन में वह अच्छी हो जायगी, दाने मुरझाने लगे हैं तब तक आप इन लड़कियों की देख-भाल करते रहिएगा।

हृदयनाथ—यह बीमारी छूत से फैलती है।

कैलाशी—(हँसकर) मर जाऊँगी तो आपके सिर से एक विपत्ति टल जायगी। यह कहकर उसने उधर की राह ली। भोजन की थाली परसी रह गयी।

तब हृदयनाथ ने जागेश्वरी से कहा—जान पड़ता है बहुत जल्दी यह पाठशाला भी बन्द करनी पड़ेगी।

जागेश्वरी—बिना माँझी के नाव का पार लगना कठिन है। जिधर हवा पाती है उधर ही बह जाती है।

हृदयनाथ—जो रास्ता निकालता हूँ वही कुछ दिनों के बाद किसी दल-दल में फँसा देता है। अब फिर बदनामी के सामान होते नजर आ रहे हैं। लोग कहेंगे दूसरों के घर जाती है और कई-कई दिन पड़ी रहती है। क्या करूँ, कह दूँ लड़कियों को न पढ़ाया करो ?

जागेश्वरी—इसके सिवाय और हो ही क्या सकता है ?

कैलाशकुमारी दो दिन के बाद लौटी तो हृदयनाथ ने पाठशाला बन्द देने की समस्या उसके सामने रखी। कैलाशी ने तीव्र स्वर से कहा—अगर पको बदनामी का इतना भय है तो मुझे विष दे दीजिए। इसके सिवाय नामी से बचने का और कोई उपाय नहीं है।

हृदयनाथ—बेटी, संसार में रहकर तो संसार की-सी करनी ही पड़ेगी।

कैलाश—तो कुछ मालूम भी तो हो कि संसार मुझसे क्या चाहता है। झ में जीव और चेतना है, जड़ क्योंकर बन जाऊँ? मुझसे यह नहीं हो कता कि अपने को अभागिनी दुखिया समझूँ और एक टुकड़ा रोटी खाकर ी रहूँ। ऐसा क्यों करूँ? संसार मुझे जो चाहे समझे मैं अपने को अभागिनी हीं समझती। मैं अपने आत्म-सम्मान की रक्षा आप कर सकती हूँ। मैं इसे पना घोर अपमान समझती हूँ कि पग-पग पर मुझ पर शङ्का की जाय, नित्य ाई चरवाहों की भाँति मेरे पीछे लाठी लिये घूमता रहे कि किसी के खेत में जा पड़ूँ। यह दशा मेरे लिए असह्य है। यह कहकर कैलाशकुमारी वहाँ से ली गयी कि कहीं मुँह से अनर्गल शब्द न निकल पड़ें। इधर कुछ दिनों से से अपनी बेकसी का यथार्थ ज्ञान होने लगा था। स्त्री पुरुषों के कितने अधीन , मानो स्त्री विधाता ने इसी लिए बनायी है कि पुरुषों के अधीन रहे! यह ाचकर वह समाज के अत्याचारों पर दाँत पीसने लगती थी।

पाठशाला तो दूसरे ही दिन सेबन्द हो गयी, किन्तु उसी दिन से कैलाश-मारी को पुरुषों से जलन होने लगी। जिस सुखभोग से प्रारब्ध हमें वञ्चित र देता है उससे हमें द्वेष हो जाता है। गरीब आदमी इसी लिए तो अमीरों जलता है और धन की निन्दा करता है। कैलाशी बार-बार झुँझलाती कि ी क्यों पुरुष पर इतनी अवलम्बित है? पुरुष क्यों स्त्री के भाग्य का विधायक ? स्त्री क्यों नित्य पुरुषों का आश्रय चाहे? क्यों उनका मुँह ताके? इसी लिए कि स्त्रियों में अभिमान नहीं है, आत्म-सम्मान नहीं है। नारी-हृदय का कोमल व, उसे कुत्ते का दुम हिलना मालूम होने लगा। प्रेम कैसा, यह सब ढोंग । स्त्री पुरुष के अधीन है, उसकी खुशामद न करे, सेवा न करे तो उसका र्वाह कैसे हो!

एक दिन उसने अपने बाल गूँथे और जूड़े में एक गुलाब का फूल लगा

लिया। माँ ने देखा तो श्रोंठ से जीभ दबा ली। महरियों ने छाती पर ह
रखे। इसी तरह उसने एक दिन रङ्गीन रेशमी साड़ी पहन ली। पड़ोसिनों
इस पर खूब श्रलोचनाएँ हुईं।

उसने एकादशी का व्रत रखना छोड़ दिया जो पिछले ८ वर्षों से रख
श्रायी थी। कंघी श्रौर श्राईने को वह श्रब त्याज्य न समझती थी।

सहालग के दिन श्राये। नित्यप्रति उसके द्वार पर से बरातें निकलतं
महल्ले की स्त्रियाँ श्रपनी श्रटारियों पर खड़ी होकर देखतीं। वर के रंगरू
श्राकार-प्रकार पर टीकाएँ होतीं। जागेश्वरी से भी बिना एक श्राँख देखे
रहा जाता। लेकिन कैलाशकुमारी कभी भूलकर भी इन जलसों को न देखतं
कोई बरात या विवाह की बात चलाता तो वह मुँह फेर लेती। उसकी दृ
में यह विवाह नहीं, भोली-भाली कन्याश्रों का शिकार था। बरातियों को व
शिकारी के कुत्ते समझती। यह विवाह नहीं है, स्त्री का बलिदान है।

( ४ )

तीज का व्रत श्राया, घरों में सफाई होने लगी। रमणियाँ इस व्रत व
रखने की तैयारियाँ करने लगीं। जागेश्वरी ने भी व्रत का सामान किया। नयं
नयी साड़ियाँ मँगवाईं। कैलाशकुमारी की ससुराल से इस श्रवसर पर कपड़े
मिठाइयाँ श्रौर खिलौने श्राया करते थे। श्रबकी भी श्राये। यह विवाहित
स्त्रियों का व्रत है। इसका फल है पति का कल्याण। विधवाएँ भी इसक
यथोचित रीति से पालन करती हैं। पति से उनका सम्बन्ध शारीरिक नहीं वर
श्राध्यात्मिक होता है। उसका इस जीवन के साथ श्रन्त नहीं होता, श्रनन्तकाल
तक जीवित रहता है। कैलाशकुमारी श्रब तक यह व्रत रखती श्रायी थी। श्र
की उसने निश्चय किया मैं यह व्रत न रखूँगी। माँ ने सुना तो माथा ठों
लिया। बोली—बेटी, यह व्रत रखना तुम्हारा धर्म है।

कैलाशकुमारी—पुरुष भी स्त्रियों के लिए कोई व्रत रखते हैं?

जागेश्वरी—मरदों में इसकी प्रथा नहीं है।

कैलाशकुमारी—इसलिए न कि पुरुषों को स्त्रियों की जान उतनी प्या
नहीं होती जितनी स्त्रियों को पुरुषों की जान?

जागेश्वरी—स्त्रियाँ पुरुषों की बराबरी कैसे कर सकती हैं? उनका तो ध

अपने पुरुष की सेवा करना।

कैलाशकुमारी—मैं इसे अपना धर्म नहीं समझती। मेरे लिए अपनी आत्मा की रक्षा के सिवाय और कोई धर्म नहीं है।

जागेश्वरी—बेटी, गजब हो जायगा, दुनिया क्या कहेगी ?

कैलाशकुमारी—फिर वही दुनिया ! अपनी आत्मा के सिवाय मुझे किसी का भय नहीं।

हृदयनाथ ने जागेश्वरी से यह बातें सुनीं तो चिन्ता-सागर में डूब गये। इन बातों का क्या आशय ? क्या आत्म-सम्मान का भाव जागृत हुआ है या नैराश्य की क्रूर क्रीड़ा है ! धनहीन प्राणी को जब कष्ट निवारण का कोई उपाय नहीं रह जाता तो वह लज्जा को त्याग देता है। निस्संदेह नैराश्य ने भीषण रूप धारण किया है। सामान्य दशाओं में नैराश्य अपने यथार्थ रूप में आता है, पर गर्वशील प्राणियों में वह परिमार्जित रूप ग्रहण कर लेता है। हृद्गत कोमल भावों का अपहरण कर देता है, चरित्र में अस्वाभाविक विकास उत्पन्न कर देता है। मनुष्य लोक-लाज और उपहास की ओर से तब उदासीन हो जाता है। यह नैराश्य की अन्तिम अवस्था है। नैतिक बन्धन टूट जाते हैं।

हृदयनाथ इन्हीं विचारों में मग्न थे कि राजेश्वरी ने कहा—अब क्या करना होगा ?

हृदयनाथ—क्या बताऊँ।

जागेश्वरी—कोई उपाय है ?

हृदयनाथ—बस एक ही उपाय है, पर उसे जबान पर नहीं ला सकता।

---

# परीक्षा

नादिरशाह की सेना ने दिल्ली में कत्ले-आम कर रखा है। गलियों में खून की नदियाँ बह रही हैं। चारों तरफ हाहाकार मचा हुआ है। बाजार बन्द हैं। दिल्ली के लोग घरों के द्वार बन्द किये जान की खैर मना रहे हैं। किसी

की जान सलामत नहीं है। कहीं घरों में आग लगी हुई है, कहीं बाजार लु रहा है, कोई किसी की फरियाद नहीं सुनता। रईसों की बेगमें महलों से निकाल जा रही हैं और उनकी बेहुरमती की जाती है। ईरानी सिपाहियों की रक्त पिपासा किसी तरह नहीं बुझती। मानवहृदय की क्रूरता, कठोरता और पैशा चिकता अपना विकरालतम रूप धारण किये हुए है। इसी समय नादिरशा ने बादशाही महल में प्रवेश किया।

दिल्ली उन दिनों भोगविलास का केन्द्र बनी हुई थी। सजावट औ तकल्लुफ के सामानों से रईसों के भवन सजे रहते थे। स्त्रियों को बनाव-सिंगा के सिवा और कोई काम न था। पुरुषों को सुख-भोग के सिवा और कोई चिन्त न थी। राजनीति का स्थान शेर-शायरी ने ले लिया था। समस्त प्रान्तों से धन खिच-खिचकर दिल्ली आता था और पानी की भाँति बहाया जाता था। वेश्याओं की चाँदी थी। कहीं तीतरों के जोड़ होते थे, कहीं बटेरों और बुलबुलों की पालियाँ ठनती थीं। सारा नगर विलास-निद्रा में मग्न था। नादिरशाह शाही महल में पहुँचा तो वहाँ का सामान देखकर उसकी आँखें खुल गयीं। उसका जन्म दरिद्र घर में हुआ था। उसका समस्त जीवन रणभूमि में ही कटा था। भोग-विलास का उसे चस्का न लगा था। कहाँ रणक्षेत्र के कष्ट और कहाँ यह सुख-साम्राज्य! जिधर ही आँखें उठती थीं, उधर से हटने का नाम न लेती थीं।

सन्ध्या हो गयी थी। नादिरशाह अपने सरदारों के साथ महल की सैर करता और अपने पसन्द की चीजों को बटोरता हुआ दीवानखाने में आकर कारचोबी मसनद पर बैठ गया। सरदारों को वहाँ से चले जाने का हुक्म दे दिया, अपने सब हथियार खोलकर रख दिये और महल के दारोगा को बुलाकर हुक्म दिय —मैं शाही बेगमों का नाच देखना चाहता हूँ। तुम इसी वक्त उनको सुन्द वस्त्राभूषणों से सजाकर मेरे सामने लाओ। खबरदार, जरा भी देर न हो। मैं कोई उज्र या इन्कार नहीं सुन सकता।

दारोगा ने यह नादिरशाही हुक्म सुना तो होश उड़ गये। वह महिला जिन पर कभी सूर्य की दृष्टि भी नहीं पड़ी कैसे इस मजलिस में आयँगी। नाच का तो कहना ही क्या। शाही बेगमों का इतना अपमान कभी न हुआ था

नरपिशाच ! दिल्ली को खून से रंगकर भी तेरा चित्त शान्त नहीं हुआ। र नादिरशाह के सम्मुख एक शब्द भी जबान से निकालना अग्नि के मुख कूदना था, सिर झुकाकर आदाब बजा लाया और आकर रनिवास में सब ामों को नादिरशाही हुक्म सुना दिया और उसके साथ ही यह इत्तला भी दे दी जरा भी ताम्मुल न हो, नादिशाह कोई उज्र या हीला न सुनेगा। शाही ानदान पर इतनी बड़ी विपत्ति कभी नहीं पड़ी, पर इस समय विजयी बाद-ाह की आज्ञा को शिरोधार्य करने के सिवा प्राण-रक्षा का अन्य कोई उपाय हीं था।

( २ )

बेगमों ने यह आज्ञा सुनी तो हतबुद्धि-सी हो गयीं, सारे रनिवास में मातम- छा गया। वह चहल-पहल गायब हो गयी। सैकड़ों हृदयों से इस अत्याचारी प्रति एक शाप निकल गया। किसी ने आकाश की ओर सहायता-याचक ाचनों से देखा, किसी ने खुदा और रसूल का स्मरण किया। पर ऐसी एक हिला भी न थी जिसकी निगाह कटार या तलवार की तरफ गयी हो। यद्यपि नमें कितनी ही बेगमों की नसों में राजपूतानियों का रक्त प्रवाहित हो रहा था; र इन्द्रियलिप्सा ने 'जुहार' की पुरानी आग ठण्डी कर दी थी। सुख-भोग को ालसा आत्मसम्मान का सर्वनाश कर देती है। आपस में सलाह करके मर्यादा ी रक्षा का कोई उपाय सोचने की मुहलत न थी। एक-एक पल भाग्य का नर्णय कर रहा था। हताश होकर सभी ललनाओं ने पापी के सम्मुख जाने का नश्चय किया। आँखों से आँसू जारी थे, दिलों से आहें निकल रही थीं पर त्नजटित आभूषण पहने जा रहे थे। अश्रुसिंचित नेत्रों में सुरमा लगाया जा हा था, शोक-व्यथित हृदयों पर सुगन्ध का लेप किया जा रहा था। कोई केश ुंथाती थी, कोई माँगों में मोतिया पिरोती थी। एक भी ऐसे पक्के इरादे की ा न थी जो ईश्वर पर, अथवा अपनी टेक पर इस आज्ञा का उल्लंघन करने ा साहस कर सके।

एक घण्टा भी न गुजरने पाया था कि बेगमों की कतार की कतार आभू-णों से जगमगाती, अपने मुख की कान्ति से बेले और गुलाब की कलियों को जाती, सुगन्ध की लपटें उड़ाती, छम-छम करते हुए दीवानेखास में आकर

नादिरशाह के सामने खड़ी हो गयीं।

( ३ )

नादिरशाह ने एक बार कनखियों से परियों के इस दल को देखा औ तब मसनद की टेक लगाकर लेट गया। अपनी तलवार और कटार सामने र दी। एक क्षण में उसकी आँखें झपकने लगीं। उसने एक अँगड़ाई ली औ करवट बदली। जरा देर में उसके खर्राटों की आवाजें सुनाई देने लगीं ऐसा जान पड़ा कि वह गहरी निद्रा में मग्न हो गया है। आध घण्टे तक व पड़ा सोता रहा और बेगमें ज्यों-की-त्यों सिर नीचा किये दीवार के चित्रों व भाँति खड़ी रहीं। उनमें दो-एक महिलाएँ जो ढीठ थीं घूँघट की ओट से नादि शाह को देख भी रही थीं और आपस में दबी जबान से कानाफूसी कर र थीं—कैसा भयङ्कर स्वरूप है! कितनी रणोन्मत्त आँखें है! कितना भारी शरी है! आदमी काहे को है देव है!

सहसा नादिरशाह की आँखें खुल गयीं। परियों का दल पूर्ववत् खड़ा था उसे जागते देखकर बेगमों ने फिर सिर नीचे कर लिये और अंग समेटकर भेड़ की भाँति एक-दूसरे से मिल गयीं। सब के दिल धड़क रहे थे कि अब यह जालिम नाचने-गाने को कहेगा, तब कैसे क्या होगा? खुदा इस जालिम से बचाये मगर नाचा तो न जायगा चाहे जान ही क्यों न जाय! इससे ज्यादा जिल्ल अब न सही जायगी!

सहसा नादिरशाह कठोर शब्दों में बोला—खुदा की बान्दियो, मैंने तुम्हार इम्तहान लेने के लिए बुलाया था और अफसोस के साथ कहना पड़ता है कि तुम्हारी निस्बत मेरा जो गुमान था वह हरफ-ब-हरफ सच निकला। जब किस कौम की औरतों में गैरत नहीं रहती, तो वह कौम मुरदा हो जाती है। मैं देखना चाहता था कि तुम लोगों में अभी कुछ गैरत बाकी है या नहीं। इसलिए मैंने तुम्हें यहाँ बुलाया था। मैं तुम्हारी बेहुरमती नहीं करना चाहता था। मैं इतन ऐश का बन्दा नहीं हूँ वरना आज भेड़ों के गल्ले चराता होता। न इतन हवस-परस्त हूँ, वरना आज फारस में सरोद और सितार की तानें सुनता होता जिसका मजा मैं हिन्दुस्तानी गाने से कहीं ज्यादा उठा सकता हूँ। मुझे सिर्फ तुम्हारा इम्तहान लेना था। मुझे यह देखकर सच्चा मलाल हो रहा है कि तु

गैरत का जौहर बाकी नहीं रहा। क्या यह मुमकिन न था कि मेरे हुक्म को
ों तले कुचल देतीं ? जब तुम यहाँ आ गयीं तो मैंने तुम्हें एक और मौका
या। मैंने नींद का बहाना किया। क्या यह मुमकिन न था कि तुममें से कोई
दा की बन्दी इस कटार को उठाकर मेरे जिगर में चुभा देती। मैं कलामे
क की कसम खाकर कहता हूँ कि तुममें से किसी को कटार पर हाथ रखते
खकर मुझे बेहद खुशी होती। मैं उन नाजुक हाथों के सामने गर्दन झुका
ता। पर अफसोस है कि आज तैमूरी खानदान की एक बेटी भी यहाँ ऐसी
निकली जो अपनी हुरमत बिगाड़नेवाले पर हाथ उठाती ! अब यह सल्तनत
न्दा नहीं रह सकती। इसकी हस्ती के दिन गिने हुए हैं। इसका निशान
हुत जल्द दुनिया से मिट जायगा। तुम लोग जाओ और हो सके तो अब
। सल्तनत को बचाओ, वरना इसी तरह हवस की गुलामी करते हुए दुनिया
रुखसत हो जाओ !

———

# विश्वास बढ़ता ही गया

भाषा और भावों के साथ ही स्वरों के धनी कवि श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन' का यह कविता संग्रह उनकी 'हिल्लोल' 'प्रलय सृजन' के पश्चात लिखी गई रचनाओं का नवीनतम संग्रह है। नई-स्फूर्ति, नई आशा और नूतन विश्वास की प्रेरणा दायक कृति।

मूल्य ३·००